समाजसेवी श्री धनपतसिंह सुराणा की स्मृति में :

☆ आर्थिक सौजन्य

१ धनपतसिंह दौलतसिंह सुराणा,
पुरानी निजामत, सुराणा का मोहल्ला, बीकानेर

२ हिन्द कोकोनट ऑयल इण्डस्ट्रीज
४, जगमोहन मल्लिक लेन, कलकत्ता-७

३ दौलतसिंह जयकुमार,
फैन्सी बाजार, गोहाटी (आसाम)

☆ प्रबन्ध सम्पादक

सुमेरमल सुखानी
संयुक्त मन्त्री, तेरापंथ युवक परिषद, बीकानेर

☆ प्रकाशक

कमल एण्ड कम्पनी,
४, जगमोहन मल्लिक लेन, कलकत्ता-७

☆ प्रथम संस्करण

वि० सं० २०३५ भाद्रपद, सितम्बर १९७८

☆ प्राप्ति-स्थान

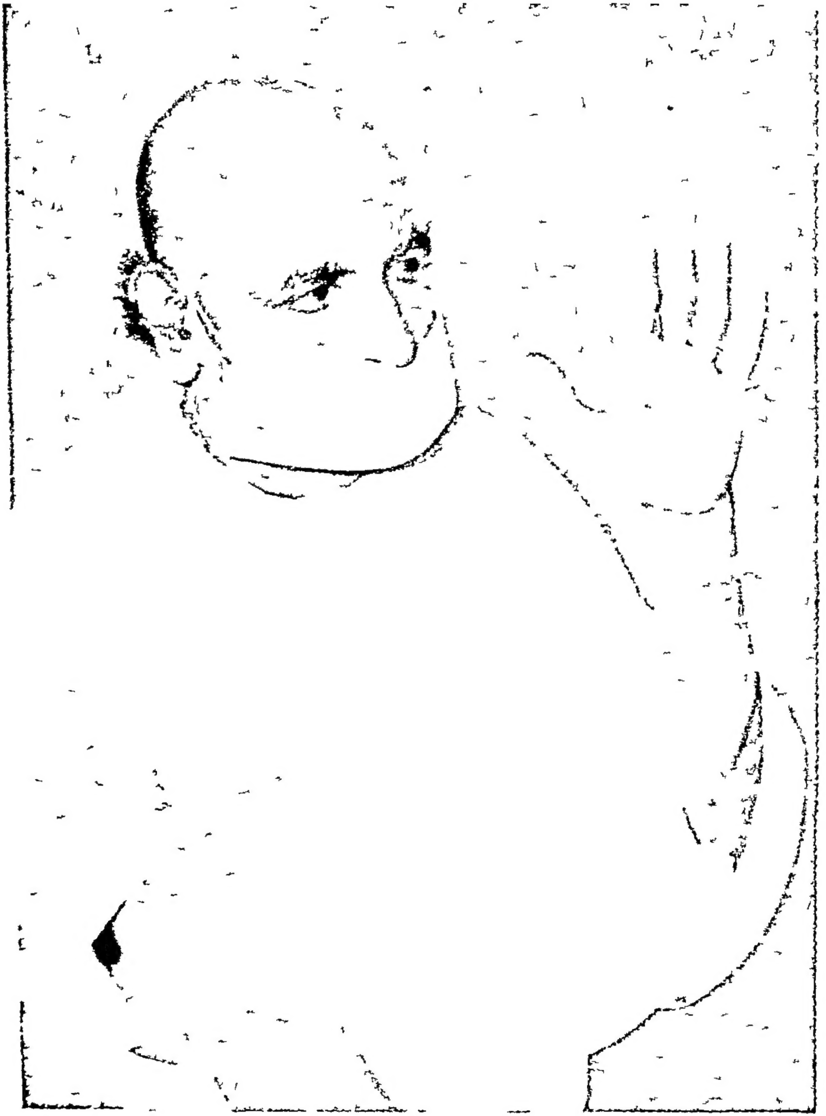
१ धनपतसिंह दौलतसिंह सुराणा
पुरानी निजामत, सुराणो का मोहल्ला, बीकानेर

२ सुमेरमल सुखानी
नाहटो का मोहल्ला, बीकानेर

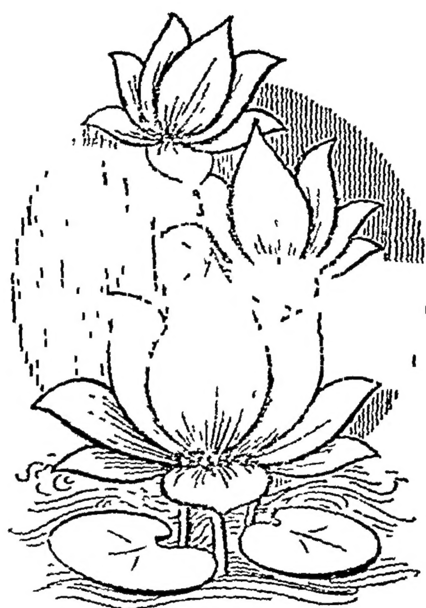
☆ मुद्रक

पुरुषोत्तमदास भार्गव
दुर्गा प्रिंटिंग वर्क्स, आगरा-४

☆ मूल्य दस रुपये मात्र



अणुव्रत अनुशास्ता युगप्रधान आचार्य श्री तुलसी



समर्पण

जिनके आशीर्वाद से,
बना बिन्दु भी सिन्धु ।
करूँ समर्पण मैं उन्हें,
गुरु तुलसी जग-बन्धु ॥

—मुनि गणेशमल



आशीर्वचन

भगवती सूत्र मे जीव को यात्री कहा गया है। वहाँ जीव के तेवीस नामो मे एक नाम आया है "हिड्डु"। इसका अर्थ है हिडने वाला, यातायात करने वाला, यायावर या यात्री। वर्तमान मे प्रचलित हिन्दू शब्द का सर्वाधिक प्राचीन रूप यही 'हिड्डु' शब्द रहा है, ऐसा प्रतीत होता है। इस यायावर की यात्रा कब से प्रारम्भ हुई? यह निर्णय करना कठिन है। अन्तहीन समय से यह अनवरत और अविश्रान्त भाव से चल रही है तथा तब तक चलती रहेगी जब तक अन्तर्यात्रा नही होगी। बाह्य-जगत की यात्रा मे भटकन है और है उसके साथ ही मानसिक असन्तोष, सत्रास एवं घुटन। अन्तर्यात्रा भटकन-भरे जीवन का विश्राम ही नही, आत्म-तोष और सत्योपलब्धि की प्रशस्त दिशा है।

अन्तर्यात्रा का स्वरूप क्या है? उसका अधिकारी कौन है? उसके लिए उचित समय कौनसा है तथा उसकी प्रक्रिया क्या है? ये तथ्य जैन-शास्त्रो मे सांगोपाग रूप से प्रतिपादित है। किन्तु उनकी भाषा प्राचीन है और प्रतिपादन गम्भीर है। वर्तमान युग का मनुष्य सरल भाषा, सहज विश्लेषण और सीधी प्रक्रिया समझने का अभ्यासी है। इसके लिए अपेक्षा है उन आगम-ग्रन्थो का दोहन कर सूक्ष्म सत्यो को स्थूल पर्यावरण मे अभिव्यक्ति देने की।

हमारे धर्म सघ मे मुनि गणेशमलजी ने इस अपेक्षा की पूर्ति हेतु एक प्रयत्न किया है। हिन्दी-भाषा और दोहक-छन्द को माध्यम बनाकर उन्होने एक अन्तर्यात्रा लिखी। इसमे गहन और दुर्बोध तथ्यो को सरल और सुबोध बनाकर प्रस्तुत किया गया है। अध्यात्म-तत्त्व की गहराई मे उतरकर मुनि गणेशमलजी ने परिश्रमपूर्वक जो अन्तर्-यात्रा लिखी है, वह बहिर्मुखी व्यक्तियो को अन्तर-यात्री बनाने मे निमित्त बने, यही शुभाशसा है और यही लेखन तथा पाठन की सार्थकता है।

सुजानगढ़ —आचार्य तुलसी
२४-२-७८

एक यशःशेष पुरुष की पुण्य स्मृति—

श्रद्धालु श्रावक श्रीधनपतसिंह सुराणा

जीवन परिचय—

शरीर की क्षणभगुरता और मनुष्य जीवन की नश्वरता सर्वविदित है। इस असार संसार मे प्राणियो का आवागमन एव प्रस्थान अनवरत रूप से चलता रहता है। बहुत से लोग मरणोपरान्त टीस एव कसक छोड जाते है। बहुत से व्यक्ति ऐसे होते है, जिनकी मृत्यु अन्य लोगो के लिए राहत का काम करती है। आखिर वह क्या चीज है, जो मनुष्य को अमर बनाती है? मनुष्य के कर्म, उसके त्याग और बलिदान, परमार्थ व उदारभाव ही उसके जीवन को अमर बना सकते है।

बीकानेर के प्रतिष्ठित सुराणा (देशनोक वाले सुराणा) परिवार मे उत्पन्न श्री धनपतसिंह जी, सुराणा परिवार के एक उदीयमान नक्षत्र थे, जिन्होंने अपने व्यक्तित्व व कर्तृत्व की अमर छाप छोडी है। अपनी मधुर सेवाओ व दानवीरता के द्वारा सभी के हृदय मे उन्होंने अपना स्थान बना लिया था। आपका जन्म वि० स० १९८५ मिती फाल्गुन शुक्ला त्रयोदशी को हुआ था। 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' इस लोकोक्ति को आपने सार्थक किया।

अविभाजित भारत मे सिलहट नगर एक बहुत बडा व्यावसायिक नगर था, वहाँ आपके पूर्वजो का बहुत बडा व्यापार चलता था। आपके पितामह श्री सुरगमलजी सुराणा बहुत ही प्रभावशाली पुरुष थे। आपके पिताजी का नाम श्री पुनमचन्दजी सुराणा था। आपके जीवन निर्माण मे आपके पिता कर्मयोगी, श्री पुनमचन्दजी का महान योग रहा है। वे सहनशीलता की मूर्ति तो थे ही, महान सेवाभावी व परोपकारी व्यक्ति थे। आपकी मातु श्री का नाम श्रीमती मूलीदेवी था।

आपका विवाह वि० स० २००० मिती फाल्गुन शुक्ला तृतीया को बीकानेर निवासी सेठ तुलसीरामजी डागा की सुपुत्री श्रीमती मगलादेवी के साथ सम्पन्न हुआ था। शील, सदाचार व कर्तव्य-परायणता की प्रतिमूर्ति श्रीमती मगलादेवी ने पारिवारिक परिवेश मे सदेव एक आदर्श महिला का उदाहरण प्रस्तुत किया है।

आप मे नया चिन्तन था, कार्यक्षमता व नीति-निर्णायकता थी। साधारण शिक्षित होने पर भी कुशाग्र बुद्धि एव मिलनसारिता के कारण तत्कालीन शासको से आपका घनिष्ट सम्बन्ध हो गया था। भूतपूर्व पूर्वी पाकिस्तान के मुख्यमन्त्री श्री

अतावर रहमान, बागलादेश के भावी राष्ट्रपति श्री मुहम्मद उल्ला, प्रधानमन्त्री शेख मुजीब व ताजुद्दीन अहमद आदि से आपकी अपूर्व आत्मीयता थी ।

इसीप्रकार भारत के राष्ट्रपति श्री फखरुद्दीन अलीअहमद, भूतपूर्व उद्योग-मन्त्री श्री मईनूल हक, आसाम एव केन्द्रीय सरकार के सचिव ए एन किदवई, आसाम के भूतपूर्व मुख्यमन्त्री श्री शरद्चन्द्र सिन्हा आदि सभी महानुभावो के साथ आपका अनुपम सौहार्द था ।

प्रतिभाशाली और सूझबूझ के धनी होने के कारण आप बीस वर्ष की अल्पायु से ही दक्षतापूर्वक व्यापारिक कार्यों का सचालन करने लग गये थे । वि० स० २०१८ तक अधिकाश सिलहट तथा छातक मे ही आपका प्रमुख व्यापार था । तत्पश्चात् आपने गोहाटी, कलकत्ता, शिलोग आदि शहरो मे विशाल पैमाने मे उद्योग व्यवसाय प्रारम्भ कर दिया । दुबराजपुर (वीरभूम) मे चावल व तेल की मीले स्थापित कर व्यवस्थित ढग मे संचालन करने लगे । आपके कुशल निर्देशन मे ये कम्पनियाँ औद्योगिक व व्यावसायिक जगत मे सफलतापूर्वक अपने चरण प्रगति की ओर अग्रसर कर रही थी ।

सामाजिक व धार्मिक कार्यो मे आपकी अद्वितीय अभिरुचि थी । अनेक सामाजिक सस्थाओ से सम्बन्धित थे, फिर भी आपके व्यक्तित्व मे सरलता, निरभिमानता व उदारता के स्पष्ट दर्शन होते थे । उनमे वीकानेर का सुप्रसिद्ध शिक्षण सस्थान जैन स्नातकोत्तर कलिज प्रमुख है, जिसके आप आजीवन ट्रस्टी थे । गोहाटी मे हिन्दी शिशु निकेतन विद्यालय के विकास मे भी आपकी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है । तरुण जैन औषधालय वीकानेर के आप सक्रिय सदस्य थे ।

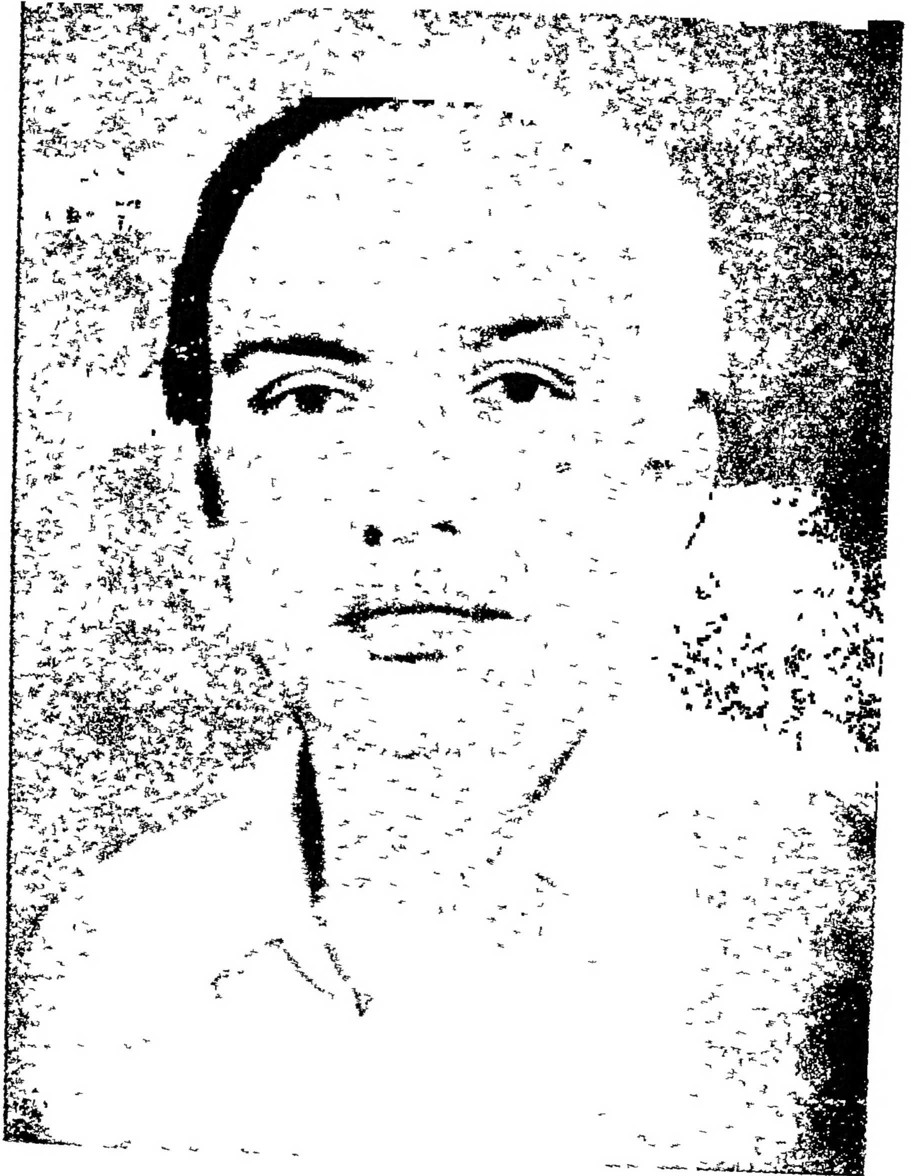
सुराणाजी उदारमना व्यक्ति थे । तेरापथी जैन-भवन गोहाटी, अणुव्रत-भवन देहली, जैन-विश्व भारती लाडनू आदि भवनो के निर्माण मे आपका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है ।

देशनोक मे तेरापथी सभा भवन का शिलान्यास आपके कर-कमलो द्वारा सम्पन्न हुआ उसके निर्माण मे भी आपका सहयोग प्राप्त हुआ था ।

वीकानेर मे, ओसवाल श्मशान भूमि व सुराणो की बगीची आदि के जीर्णोद्धार मे आपका महत्त्वपूर्ण सहयोग रहा । इसके अतिरिक्त कलकत्ते का ओसवाल भवन व तेरापथी महासभा आदि अनेक सस्थाओ मे आपका उल्लेखनीय सहयोग रहा है ।

वीकानेर से २५ मील दक्षिण-पूर्व की ओर मोरखाना मे सुराणो की कुलदेवी "सुस्वाणी माता" का प्राचीन देवालय है उक्त मन्दिर के जीर्णोद्धार मे आपने महत्त्व-पूर्ण योगदान दिया था ।

क्रूर काल की गति वडी विचित्र होती है । उसके फौलादी पंजो से कोई भी प्राणी वच नही सकता । अचानक गत १० अक्टूबर ७७ को सन्ध्या समय आपको सिरदर्द का अनुभव हुआ, फौरन डाक्टरी उपचार किया गया । पर यह साधारण



सुश्रावक स्व० श्रीमान् धनपतसिंह जी सुराणा (बीकानेर)

जन्म वि० स० १९८५ फाल्गुन शुक्ला १३

स्वर्गवास वि० स० २०३४ आश्विन कृष्णा १५

निरदर्द न होकर 'वायरस एनके फ्लाइटिस' का भयकर रोग था। कुशल चिकित्सको द्वारा अनेक वैज्ञानिक साधनो मे चिकित्सा करने के बावजूद भी १२ अक्टूबर ७७ की मध्याह्न मे, आप स्वर्गवासी हो गये।

आपके आकस्मिक व असामयिक निधन से समाज की अनिवर्चनीय क्षति हुई है। आपकी स्मृति मे तेरापथी महासभा भवन, कलकत्ता मे मुनि श्री राकेशकुमार जी के सान्निध्य मे स्मृति सभा का आयोजन किया गया। इस सभा मे अनेक वक्ताओ ने सुराणाजी की विरल विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए, उन्हे हार्दिक श्रद्धाजलि अर्पित की।

अणुव्रत अनुशास्ता युगप्रधान आचार्य श्री तुलसी के प्रति आपकी अगाध श्रद्धा थी, आचार्य श्री ने अपने उद्गार व्यक्त करते हुए फरमाया—"धनपतसिंह बड़े ही श्रद्धालु श्रावक थे। जब से सघ के समीप आये, निरन्तर उनकी श्रद्धा-बढती ही गई। वे शासन के हित-चिन्तक व्यक्तियों मे एक थे। सघ का कार्य करने मे वे गौरव का अनुभव करते थे। उनके आकस्मिक निधन से परिवारवालो को अपार कष्ट हुआ होगा, किन्तु उपाय क्या? मौत के आगे किसी का वश नही चलता। परिवार के लोग इस अवसर पर पूरी दृढता का परिचय देंगे और आये हुए इस कष्ट को धर्म के सहारे भुलाने का प्रयास करेंगे। परिवार के लोग समय पर दर्शन करेंगे तो उससे उन्हे और अधिक बल मिलेगा।"

आपके सुपुत्र सर्वश्री दौलतसिंह, जयकुमार व कमलकुमार उच्च शिक्षित है, फिर भी विनयवान, सरल व व्यापारिक कार्यो मे पूर्णरूप से दक्ष है। हमे विश्वास है कि वे अपने पिता श्री के सत्कार्यो को पूर्ण करने मे सदा सचेष्ट रहेगे।

अपने पूज्य पिता की पावन-स्मृति मे उन्होंने आचार्य श्री तुलसी के विद्वान् शिष्य मुनि श्री गणेशमलजी द्वारा रचित अन्तर-यात्रा नामक महत्त्वपूर्ण पुस्तक के प्रकाशन का समस्त व्यय वहन करके उसे जन-जन के करकमलो तक पहुँचाने के लिए जिस प्रकार की उदारता का परिचय दिया है, वह प्रत्येक व्यक्ति के लिए अनुकरणीय है।

इस अवसर पर आचार्यश्री तुलसी के विद्वान् शिष्य मुनि श्री कन्हैयालालजी को कैसे विस्मृत किया जा सकता है, जिन्होंने प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादन मे अथक परिश्रम करके, इसे जन भोग्य बनाया है उसके लिए वे साधुवाद के पात्र है।

जन-जन के हृदय मे ज्ञान का आलोक जगाने व उन्हे अन्तर्मुखी बनाने मे, यह ग्रन्थ हेतुभूत बना तो हम अपने प्रयास को सफल समझेंगे।

दि० ६-१२-७७

सुमेरमल सुखानी
सयुक्त मन्त्री, तेरापथ युवक परिषद
बीकानेर।

सम्पादकीय

व्यक्ति संसार में आता है और चला जाता है, परन्तु उसका साहित्य युग-युगान्तर तक अमर रहता है। आत्मोन्नयन व आत्मजागरण के लिए आध्यात्मिक साहित्य एक प्रशस्त पथ है। साहित्य जीवन का संबल है। साहित्य युग का दर्पण है। इसमें मेधावी मानस की विचारसारणि प्रतिबिम्बित होती है। सभी देशों में सन्त-साहित्य का ऊँचा स्थान रहा है, रहेगा। भारतीय जन-मानस अपनी संस्कृति के लिए सदा उसका ऋणी है। सन्त-वाणी में भावना की अनुभूति होती है। इस साहित्य के अध्ययन से विचारों में मानसिक एकाग्रता व आचार पवित्रता का अभिसंचार होता है। आध्यात्मिक स्वर-लहरी को झंकृत करने के लिए प्रस्तुत ग्रन्थ 'अन्तर्यात्रा' बहुत ही सरस और सरल भाषा में दोहों के रूप में गुम्फित है।

मुनि श्री गणेशमलजी शास्त्रज्ञ व साधनारत सन्त हैं। मुनि श्री का जन्म वि० सं० १९६६ फाल्गुन कृष्णा-११ को गंगाशहर चोपड़ा परिवार में हुआ था। आपके पिता श्री डूंगरमलजी चोपड़ा धर्मानुरागी एवं शासननिष्ठ भक्त थे। वि० सं० १९८३ माघ शुक्ला सप्तमी लाडणूं में पूज्य कालूगणी के कर-कमलों द्वारा आपका दीक्षा-संस्कार सम्पन्न हुआ। आपको लगभग १५ वर्ष तक गुरुकुलवास का सौभाग्य प्राप्त हुआ। अनेक वर्षों तक आप महामना मन्त्री मुनि श्री मगनलालजी स्वामी की परिचर्या में रहे। आचार्य श्री तुलसी के शब्दों में—

वर्षां रह्यो मगन सेवा में, गणेश गंगा शहरी।
भारी लाभ कमायो मुनिवर, करी निर्जरा गहरी ॥१॥
रात्यूं रोज-रोज व्यावचियो, गणेश गंगा नन्हावें।
घटा भर आटो ज्यूं गूंदं, खावो तो न अघावें ॥२॥

—मगन-चरित्र

जहाँ आप सेवा में रत रहे वहाँ आप ज्ञानाराधना, दर्शनाराधना, चारित्रा-राधना में भी रत रहे। संस्कृत, हिन्दी, प्राकृत आदि भाषाओं का आपने अधिकारपूर्ण अध्ययन किया है। आप आचार्य श्री तुलसी के सहपाठी रहे हैं। श्री भिक्षु शब्दानु-शासन, दार्शनिक ग्रन्थों व कई आगमों का अध्ययन साथ-साथ किया है। आपकी प्रकाशित पुस्तकें 'मुहावरों की महक', 'सूक्ति-बोध' 'बाल-बोध' आदि अनेकों पुस्तकें जन-जन के मानस में आध्यात्मिक त्रिपथगा प्रवाहित करने में सफल बन रही हैं।

सघ और सघपति के प्रति आपके दिल मे अटूट श्रद्धा है। वि० स० २०२३ बीदासर मर्यादा-महोत्सव के अवसर पर साधु-साध्वियो की सगोष्ठी मे आचार्य श्री तुलसी ने कहा—"मुनि श्री गणेशमलजी श्रद्धाशील सन्त हैं। इनके दिल मे शासन और शासनपति के प्रति अगाध श्रद्धा है। इस वर्ष रोहतक मे, वहाँ के लोगो मे जो धर्म जागृति हुई, यह इनकी कार्यदक्षता का ही परिणाम है।"

अणुव्रत प्रचार मे भी आपका अपूर्व योगदान रहा है। बम्बई, चण्डीगढ, शिमला, दिल्ली, जयपुर, उदयपुर आदि अनेक शहरो के सैकडो स्कूल, कॉलिजो व विभिन्न सस्थाओ मे अणुव्रत के माध्यम से आपने जनता-जनार्दन को सही दिशा-दर्शन दिया। अणुव्रत उद्घोष को जन-जन तक पहुँचाने मे आप सक्रिय रहे। आप जहाँ भी पधारे, वहाँ आपकी सहज सरलता व मिलन-सारिता से जनता प्रभावित हुई है, यह मेरे ३४ वर्षीय सतत सामीप्य की अनुभूति है।

एक विशिष्ट आचार्य ने लिखा है—

यथा यथा समायाति, सवित्तौ तत्वमुत्तमम्।
तथा तथा न रोचन्ते, विषया सुलभा अपि॥
यथा यथा न रोचन्ते, विषया सुलभा अपि।
तथा तथा समायाति, सवित्तौतत्वमुत्तमम्॥

जैसे-जैसे उत्तम तत्व उपलब्ध होता है, वैसे-वैसे विषयो के प्रति अनासक्ति होती है और जैसे-जैसे विषयो के प्रति अनासक्ति होती है, वैसे-वैसे उत्तम तत्व उपलब्ध होता है। इसी तत्त्वामृत का रसास्वादन कराने मे प्रस्तुत ग्रन्थ की निर्माण सामग्री हर दृष्टि से उपयोगी एव आदरणीय है। यह ग्रन्थ आध्यात्मिक रस कूपिका है। काम, क्रोध, आत्म-मोह, नि स्पृह आदि विषयो पर इसके १३४ प्रकरण हैं और प्रत्येक प्रकरण नौ-नौ दोहो की साज सज्जा से सज्जित है। साहित्यिक जगत मे यह ग्रन्थ एक नवीनतम शैली का अभिव्यजक है। प्रत्येक दोहे को नवरागनियो की स्वर-लहरी से झकृत किया जा सकता है। प्रत्येक रागनी का ध्रुवपद परिशिष्ट मे अकित है। इसके साथ नियोजित साकेतिक उदाहरणो के माध्यम मे यह ग्रन्थ बहुत ही रोचक, आकर्षक व जनप्रिय बन पडा है। एक-एक विषय पर एक-एक दिन के प्रवचन के लिए सामग्री सहज ही प्राप्त हो जाती है। टिप्पण मे प्रदत्त विभिन्न धर्म-ग्रन्थो के तुलनात्मक उदाहरणो से मनीषि जगत द्वारा उपभोग्य एव संस्तुत्य है।

जीवन के प्रत्येक पहलू मे श्रद्धा का अपूर्व महत्व है। आध्यात्मिक व धर्म-साधना मे भी श्रद्धा का सर्वोच्च स्थान है।

जैसे नीव के बिना भवन का निर्माण नही होता, वैसे ही श्रद्धा के बिना आत्मसाधना असम्भव है। इसी भावना की अभिव्यक्ति निम्नोक्त दोहे मे उपमा सहित कितनी ओजपूर्ण है—

धर्म-साधना मे प्रथम, है श्रद्धा का स्थान।
नींव बिना होता नहीं, मन्दिर का निर्माण॥

कार्य करने की क्षमता प्रत्येक व्यक्ति मे होती है, किन्तु वही कार्य श्रेयस्कर होता है जिससे काम-विकार उत्पन्न न हो। वास्तव मे वही काम, काम होता है जो काम (विषय-वासना) का नाश करता है। इसी भावना का दीप जलाते हुए आपने लिखा है—

काम करो तो वह करो, काम न आए पास।
वही काम वस काम है, करे काम का नाश ॥

दृष्टि दो प्रकार की होती है, बाह्य और अन्तर। जहाँ बाह्य दृष्टि दुःख का कारण है वहाँ अन्तर्-दृष्टि सहजानन्द का। अन्तरात्मा मे रमण करने वाला मानव निःस्पृह, विषय-विरक्त, पाप-भीरु, पवित्र-हृदय और साम्ययोग मे लीन रहता है। इसी भावना की अभिव्यक्ति निम्न दोहे मे सरस व सरल शब्दो मे टकित है—

अतर्-आत्मा आत्म-रत, निःस्पृह विषय-विरक्त।
पाप-भीरु पावन हृदय, साम्ययोग मे रक्त ॥

इस प्रकार प्रत्येक दोहा मुनि श्री के गम्भीरतम अध्ययन व तात्त्विक चिंतन की सलग्नता अगम्य दक्षता की अभिव्यक्ति है। प्रस्तुत ग्रन्थ "अन्तर्यात्रा" के दोहो मे मुनिप्रवर का हृदय बोल रहा है। वास्तव मे "यथानामस्तथा गुण" इस सूक्त को साकार करने वाली यह अन्तर्यात्रा है। 'अन्तर्यात्रा' ही जनता-जनार्दन को अन्तर्मुखता की ओर प्रेरित कर सकती है। अन्तर्यात्रा से मानव जितना प्रभावित होता है उतना बाह्य यात्रा से नही। मानसिक चित्तसमाधि व शान्ति के लिए इसका सतत अध्ययन व अध्यापन अत्यावश्यक है। पुस्तक के परिशिष्ट मे प्रदत्त यत्र-तत्र से सग्रहीत, परिवर्तित, सशोधित व कुछ नूतन कहानियाँ अवश्य ही जनता जनार्दन को सही दिशाबोध देने मे सफल बनेगी, ऐसा आत्मविश्वास है।

वि० स० २०२६ —मुनि कन्हैयालाल
जिन्दल क्लब, हिसार (हरियाणा)





आचार्य श्री तुलसी के विद्वान अन्तेवासी मुनिश्री गणेशमल जी

मेरी दृष्टि में

मुनि श्री गणेशमल जी विद्या-वयोवृद्ध जैन साधु है। पूरा जीवन तप-साधना की आत्म-कथा है। मन-वचन-कर्म से वे आदर्श सन्यासी है। 'अणुव्रत आन्दोलन' के सूत्रधार, परम तपस्वी युगद्रष्टा आचार्य श्री तुलसी के सान्निध्य से मुनि श्री ने निरतर अध्ययन, चितन, मनन से जो अनुपम ज्ञान-कोप प्राप्त किया, उसका दिव्य-दर्शन प्रस्तुत कृति मे किया जा सकता है।

मुनि श्री जैन धर्म के गहन सिद्धान्तो और व्यावहारिक जीवन-दर्शन के मर्मज्ञ विद्वान है। उनका गभीर तत्त्व ज्ञान 'अन्तर्यात्रा' का सवल है। अपने लवे अनुभव तथा विशद शास्त्रीय अध्ययन से अन्तर्दृष्टि प्राप्त की है, उसे सार्वजनिक कल्याण के लिए सुवोध भाषा मे अभिव्यक्त भी किया है।

सपूर्ण रचना दोहा छद मे है। दोहा हिन्दी का और इससे पूर्व अपभ्रंश भाषा का अत्यन्त लोकप्रिय छन्द रहा है। लघु तथा सरल होते हुए भी रचना-प्रक्रिया तथा भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से मैं इसे वहुत कठिन छद समझता हूँ। थोडे शब्दो मे अपने अभिप्राय को पूर्णतया स्पष्ट करने की कला, 'सागर को गागर' मे वन्द करने का अद्‌भुत कौशल निश्चय ही सतत साधना की अपेक्षा रखता है। हिन्दी मे कविवर विहारी और कवीर को छोड अन्य किसी कवि को अधिक सफलता नही मिल सकी। नाविक के तीर जैसी चोट हर दोहे मे और हर कवि मे सभव भी नही। मुनि श्री गणेशमल जी का दोहा छद पर एकाधिकार नि सन्देह प्रशसाजनक है।

यद्यपि इन्होंने साहित्यिक रसपूर्ण दोहे तो नही लिखे, तथापि नीति-धर्म सवधी इनके दोहो मे छद की गरिमा और रचना शैली का सौन्दर्य स्पष्ट रूप मे देखा जा सकता है। इनके दोहो मे समास-शक्ति का गुण विशेष रूप से उल्लेखनीय है विषय की गभीरता तथा कही-कही पर सैद्धातिक तत्व-ज्ञान की चर्चा के कारण शब्द-चयन क्लिष्ट हो गया है, जो स्वाभाविक है।

जैनधर्म के मानवतावादी दृष्टिकोण को ध्यान मे रखते हुए मुनिश्री ने विभिन्न धार्मिक एव नैतिक विषयो पर जो दोहावली प्रस्तुत की है, उसे मानव की 'अन्तर्यात्रा' का सचित्र विवरण कहा जा सकता है।

पाद-टिप्पणी के रूप मे विभिन्न धर्मशास्त्रो के प्रमाण भी उपलब्ध है, जिनसे मुनि श्री के कठोर परिश्रम और बहुश्रुत व्यक्तित्व की सूचना मिलती है। कुछ दोहो मे जैन-आख्यानो के सदर्भ भी आ गए है, जो सामान्य पाठक के लिए कदाचित् अपरिचित होने के कारण सहज-ग्राह्य नही है। फिर भी मुनि श्री की प्रस्तुत रचना अन्तर्जगत के यात्री के लिए एक विशाल राज-मार्ग उपलब्ध करती है, जिस पर चल कर वह भौतिक मायाजाल से हट कर जीवन-मुक्ति का अलौकिक आनन्द प्राप्त कर सकता है।

—उदय भानु हंस
राज्य-कवि-हरियाणा
अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग
गवर्नमेण्ट कॉलेज, भिवानी।



लय संकेतिका

प्रस्तुत ग्रन्य-गत सभी दोहे—निम्नाकित लयो तथा उनके ध्रुवपदो मे गाये जा मकते हैं—

१. लय.—म्हारी रस सेलडियां"

यह मगल वेला, अपने को दो पल-पल प्रतिवोध रे।
दो दिन का खेला, छोडो आपम का वैर विरोध रे॥

२ लय —दुनिया राम नाम नहीं जाणे

देखो मानव भव का मेला, है यह दो दिन का ही खेला।
दो झट आत्म-वोध शुभ वेला, जायेगा भव छोड अकेला॥

३ लय.—मन्दिर मे कोई ढूँढती फिरै

मगल वेला मे साधना करो, अव दो आत्मा को प्रतिवोध।
मगल वेला मे मावना करो॥

४ लय —म्हारा सतगुरु करत विहार

माधक! आत्म-वोध है सार, इमे यदि तू अपनायेगा।
तू अपनायेगा, साधना कर सुख पाएगा॥

५ लय —बगीची निम्बुवा री'

सुगुरु की सुन वाणी, दो निज-आत्मा को वोध ॥सु०॥
मत रखना वैर विरोध ॥मु०॥ कर लो निज मन का शोध ॥सु०॥

६ लय —रूठ्योडा शिवशकर

ज्ञानी ज्ञान सुनाते जी, ज्ञानी ज्ञान सुनाते जी।
आत्म-वोध देकर, जीवन को सुखी वनाते जी॥

७ लय.—वाजी मत खेलो, मत खेलो

आत्मगुण अपनाओ, अपनाओ।
निज कलिमल दूर हटाओ, आत्म० ॥

८ लय.—जोया वेकरार है

आत्मगुणो का खास है, करता रहे विकाश है।
वही आदमी इम दुनिया मे, लेता मुख की मास है ॥आत्म०॥

९ लय:—जीव रे तू शील तणो कर संग······

साधक दे आतमा को बोध ।
हो न सके इसके बिना रे, दोषो का अवरोध ॥

१० लय —हरि गुण गायलै रे·····

विना निज-बोध के रे, होगा नही-सुधार ।
हृदय को शोध के रे, काम-क्रोध को मार ॥

११ लय —कोरो काजलियो'

मानव भव पाया, दो अपने को बोध ॥मा०॥
करलो निज मन का शोध ॥मा०॥ त्यागो अव वैर विरोध ॥मा०॥

१२ लय —मैं चाकर थाको जी·· ···

निज गुण अपनाओ जी, निज गुण अपनाओ जी ' निज गुण अपनाओ जी०
निज गुण अपनाओ सुख पाओ गुण की महिमा गाओ,
जन्म-जन्म के सक्लेशो से झटपट पिण्ड छुडावो । निज०

१३ लय —हठीलाकान जी छल्लो मे नहीं छोड़ ····

टोह करते रहो जी प्रतिदिन आतम-गुणो की,
मोह हरते रहो जी, सगति कर कर गुणीजनो की ॥

१४ लय —जय जय जय जिन जी ने नमू रे नमू · · ···

अब परख-परख निज गुण वन्दे ।
गुण वन्दे ! परिहर फन्दे ! अब परख ॥

१५ लय —राख ना रमकडा

देख ले तू देख ले निज गुणो को २ प्यारे भाई रे
खास खजाना तेरा है वह इसमे फरक न राई रे। देख ले तू०·· · ·

१६ लय —धीठा मे धीठ··

निज आतम गुणो मे अब तो रमना चेतन
भव-भव के सारे मिट जायेगे क्रन्दन ।
रे ! मिट जायेगे क्रन्दन सारे प्रकटे फिर शिव स्यन्दन । निज०।

अनुक्रमणिका

१	सिद्ध-स्तुति	१
२	परमात्मा	२
३	आत्मा	३
४	आत्म-सिद्धि	४
५	भेद	५
६	अन्तरआत्मा	६
७	बहिरात्मा	७
८	आराध्य	८
९	देवाधिदेव	९
१०	सद्गुरु	१०
११	सद्गुरु-महिमा	११
१२	सन्त	१२
१३	सन्त-महिमा	१३
१४	सत्सगति	१४
१५	साधक	१५
१६	भावना	१६
१७	श्लाघा-त्याग	१७
१८	ध्येयनिष्ठा	१८
१९	आत्मध्यान	१९
२०	ध्याता	२०
२१	ध्यान हेतु	२१
२२	ध्यान-सकल्प	२२
२३	आत्म-दर्शन	२३
२४	मन शुद्धि	२४
२५	भेद-ज्ञान	२५
२६	स्मर्तव्य	२६
२७	ज्ञान-मग्न	२७
२८	निर्ममत्व	२८
२९	साम्य	२९
३०	निःस्पृह	३०
३१	स्थिरता	३१
३२	मोहत्याग	३२
३३	ममता	३३
३४	सहज-सुख	३४
३५	विषयसुख	३५
३६	विषय-विरसता	३६
३७	भोग-विरति	३७
३८	उद्बोधन	३८
३९	तात्त्विक दृष्टि	३९
४०	धार्मिक	४०
४१	धर्म	४१
४२	दया	४२
४३	दयावान्	४३
४४	अहिंसा	४४
४५	सत्य	४५
४६	अचौर्य	४६
४७	ब्रह्मचर्य	४७
४८	अपरिग्रह	४८
४९	रत्नत्रय	४९
५०	सम्यग्-ज्ञान	५०
५१	सम्यग्-दर्शन	५१
५२	सम्यग्-चारित्र	५२
५३	तप	५३
५४	मोक्ष	५४
५५	पुनर्जन्म	५५
५६	कर्म-विपाक	५६
५७	कर्म-सिद्धि	५७
५८	विशिष्ट प्रश्नोत्तर	५८

५६ जड	५६	९४ अणुव्रत	९४
६० दान	६०	९५ नीति (१)	९५
६१ भाग्य और उद्यम	६१	९६ नीति (२)	९६
६२ कालवाद	६२	९७ उच्चाचार	९७
६३ स्वभाववाद	६३	९८ कर्तव्य	९८
६४ कर्मवाद	६४	९९ मूल	९९
६५ पुरुषार्थवाद	६५	१०० मानव-महान् (१)	१००
६६ नियतिवाद	६६	१०१ मानव-महान् (२)	१०१
६७ समन्वयवाद	६७	१०२ आदर्श	१०२
६८ अनेकान्तवाद	६८	१०३ चार पुरुष	१०३
६९ नयवाद	६९	१०४ सप्त व्यसन	१०४
७० विवेकसूत्र	७०	१०५ मदिरा-त्याग	१०५
७१ आत्म-निरीक्षण	७१	१०६ दोष-दर्शन	१०६
७२ आत्म-चिन्तन	७२	१०७ अर्थ	१०७
७३ उन्नति	७३	१०८ व्यापारी	१०८
७४ गुण	७४	१०९ अधिकारी	१०९
७५ कषाय	७५	११० अध्यापक	११०
७६ राग	७६	१११ विद्यार्थी	१११
७७ द्वेष	७७	११२ प्रदर्शन	११२
७८ क्रोध	७८	११३ टेढीखीर	११३
७९ मान	७९	११४ नदी नाव-संयोग	११४
८० माया	८०	११५ क्या जीवन है आज ?	११५
८१ लोभ	८१	११६ एक पथ दो काज	११६
८२ आशा	८२	११७ मन जाता है टूट	११७
८३ काम	८३	११८ अन्योक्तियाँ	११८
८४ विजय	८४	११९ स्फुट	११९
८५ लोभ-विजय	८५	१२० मृत्यु	१२०
८६ मान-विजय	८६	१२१ शोक	१२१
८७ क्रोध-विजय	८७	१२२ चिन्ता	१२२
८८ दम्भ-विजय	८८	१२३ प्रतिबोध	१२३
८९ इन्द्रिय-संयम	८९	१२४ उपदेश	१२४
९० इन्द्रिय-जय	९०	१२५ दुर्लभ	१२५
९१ मौन	९१	१२६ योग	१२६
९२ मैत्री का आयाम	९२	१२७ मन	१२७
९३ सहअस्तित्व	९३	१२८ वचन	१२८

१२९ शरीर १२९
१३० शौच १३०
१३१ वैचित्र्य १३१
१३२ विविध १३२
१३३ जय १३३
१३४ प्रशस्ति १३४

परिशिष्ट कथाएँ—

१ भीलपुत्र १३७
२ रोहिणेय १३८
३ अनाथी का अनुभव १३९
४ केशी और परदेशी १४०
५ विजय चोर और धन्नासेठ १४२
६ सुलसा १४३
७ जिनरक्षित १४४
८ सांप को साप आलो १४४
९ नृपति उदायन १४५
१० मेघकुमार १४६
११ राजा और व्यासजी १४६
१२ सच्चा साधु १४७
१३ जटायु १४८
१४ अगुलीमाल १४९
१५ मुनि मैतार्य १५०
१६ शैतान १५०
१७ न्यूटन की निरभिमानता १५२
१८ केशवकुमार १५२
१९ संगम १५३
२० मोहजीत १५४
२१ चुलनीपिता १५५
२२ इलापुत्र १५५
२३ जयाचार्य १५६
२४ बगुला १५७
२५ योगी और सिकन्दर १५७
२६ बिलौने मे सांप १५८
२७ निठल्ली लड़की १५८
२८ नमि राजर्षि १५९
२९ चण्डकौशिक १६०
३० भरत की निस्पृहता १६०
३१ अविचल वीर १६१
३२ गौतम स्वामी १६२
३३ भर्तृहरि १६३
३४ दो चींटी १६४
३५ सुकुमाला १६४
३६ पुरुषोत्तम रथनेमि १६५
३७ मणिरथ मदनरेखा १६६
३८ चौथीरानी १६६
३९ ऊँट १६७
४० श्रमणोपासक १६८
४१ ललितागकुमार १६९
४२ नेमिनाथ भगवान १७०
४३ क्रूरसेठ १७१
४४ अर्जुनमाली और सुदर्शन १७१
४५ राजा वसु १७२
४६ प्रभव चोर १७३
४७ सुभद्रा १७४
४८ निन्नानवें का फेर १७५
४९ सत्य शिव सुन्दरम् १७५
५० मूर्ख लकड़हारा १७६
५१ आषाढभूति १७७
५२ सुकरात का शिष्य १७८
५३ अगुलीतोड १७९
५४ शाक्य भद्दिय राजा १७९
५५ राम का रोष १८०
५६ खाती और उसका पुत्र १८१
५७ स्कदक मुनि १८२
५८ धन्ना अणगार १८२
५९ मम्मण सेठ १८३
६० श्रेयासकुमार १८४
६१ बनिया और बादशाह की दाढी १८४
६२ दो अण्डे १८५

६३	मत और बिच्छू	१८६	९९	आनन्द श्रावक	२१८
६४	श्रेणिक का नरक गमन	१८६	१००	दशार्णभद्र	२१९
६५	कायर तस्कर	१८७	१०१	सती सुन्दरी	२२०
६६	सद्दालपुत्र	१८७	१०२	स्थूलिभद्र का आदर्श	२२१
६७	वस्त्र	१८९	१०३	बन्दर और कौआ	२२३
६८	स्कन्दक सन्यासी	१९०	१०४	ललितकुमार	२२४
६९	हाथी और अन्धे	१९१	१०५	द्वारिका का दहन	२२४
७०	चित्र की सत्कथा	१९२	१०६	परदोषदर्शी	२२६
७१	बाहुबली	१९२	१०७	भाई के प्रति बहिन का स्नेह	२२६
७२	जीवित कौन ?	१९३	१०८	श्रीमद् राजचन्द्र	२२७
७३	चित्रकार का पुत्र	१९५	१०९	कृष्ण और नारद	२२८
७४	मुरली के तीन गुण	१९५	११०	हंस और उल्लू	२३०
७५	मधु की एक बूंद	१९६	१११	ज्ञान का अहं	२३०
७६	आर्द्र कुमार	१९७	११२	बाहर काम अन्दर राम	२३१
७७	अभीचकुमार	१९८	११३	जम्बूस्वामी	२३२
७८	क्रोध चण्डाल	१९८	११४	क्षुल्लक मुनि	२३३
७९	दंतिल	१९९	११५	लोहवणिक्	२३४
८०	महाबल	२०१	११६	नन्दीसेन	२३५
८१	परिग्रहोऽनर्थमूलकारणम्	२०२	११७	कुण्डरीक	२३५
८२	रंक कौन ?	२०२	११८	सेठ की कलम	२३६
८३	रूपीराय	२०३	११९	भले जीओ, भले मरो	२३६
८४	मणिशेखर	२०४	१२०	मरणोत्सुका वृद्धा	२३७
८५	कपिल ब्राह्मण	२०५	१२१	थावच्चा-सुत	२३८
८६	विनीत-अविनीत शिष्य	२०६	१२२	जिनदत्त	२३८
८७	कूरगडुक मुनि	२०८	१२३	प्रतिबोध	२४०
८८	दम्भ का घडा	२०९	१२४	परोपदेशे पाण्डित्य	२४१
८९	कालिदास-विद्योत्तमा	२१०	१२५	चक्रवर्ती का भोजन	२४२
९०	दो कछुए	२११	१२६	भूखा नाई	२४३
९१	सबसे मीठी चुप	२१२	१२७	प्रसन्नचन्द्र राजर्षि	२४४
९२	कब्रिस्तान	२१२	१२८	धन्ना	२४५
९३	सैनिक टुकडी	२१३	१२९	चक्री सनत्कुमार	२४५
९४	सुलस	२१४	१३०	तुम्बी और स्नान	२४६
९५	एक दिन का राज्य	२१४	१३१	विजय-विजया	२४७
९६	कर भला होगा भला	२१६	१३२	मर्म-प्रकाश से परिवार-नाश	२४८
९७	हरिकेशी-मुनि	२१७	१३३	चार बहुए (जय)	२४९
९८	राजपुरोहित	२१७			

१ : सिद्ध-स्तुति

ऍं ॐ सहजानन्दमय, चिन्मय चिरस्मरणीय ।
मिद्ध शुद्धतम स्वर्णसम, सिद्ध-शिला स्थानीय ॥१॥
कर्म-जाल से मुक्त[1] है, अष्ट गुणो से युक्त ।
विप्रमुक्त नित द्वन्द्व से,[2] गमनागमन वियुक्त ॥२॥
अविकल दर्शन-ज्ञान युत, आत्मिक-शक्ति अनन्त ।
अन्तराय-विरहित सतत, आत्म-लीन अत्यन्त ॥३॥
अक्षय, अविचल, अरुज,[3] अज; अजर, अमर, अविकार ।
अरूह, अटल, अवगाहना, अमित अवाध उदार ॥४॥
तिक्त न कटु न कषाय है, गन्ध न स्पर्श न रूप[4] ।
दीर्घ न ह्रस्व न वृत्त है, सिद्ध स्वरूप अनूप ॥५॥
निर्विकल्प निष्कम्प नित, निराकार निःसङ्ग ।
निष्कलमप निरुपाधिमय, निष्क्रिय निःस्व निरङ्ग ॥६॥
भगवन् ! तेरी है दशा, उपमातीत[5] पुनीत ।
वाणी कैसे स्तुति करे, तू है शब्दातीत[6] ॥७॥
वचन-अगोचर सहज सुख, अनुपम अनुभव-गम्य ।
भील वता सकता नही, पुर की वात सुरम्य※ ॥८॥
परमेश्वर परिपूर्ण प्रभु, परम शुद्ध-चिद्रूप ।
सिद्ध-स्तुति-कर्त्ता वने, 'मुनिगणेश' तद्रूप ॥९॥

---

१ कम्ममलविप्पमुक्को उड्ढ लोगस्स अन्तमधिगता ।
मो मव्वणाणदरिसी लहदि सुहमणिंदियमणत ॥५८॥ (पचरत्नसार)
२ अशेषद्वन्द्वोपरम (सूत्र० वृति १।१।३।१४—समस्त द्वन्द्वो से विमुक्त ।
३ (क) वीतरागजन्मादर्शनात् । (न्या० द० ३, १,२४)
—वीतराग का पुनर्जन्म नही होता ।
(ख) अपुणरावित्ति सिद्धिगइ नामधेयठाण । –श्र० सू० ३६३
(ग) यद् गत्वा न निवर्तन्ते, तद् धाम परम मम ।—गीता १५, ६
४ से न सद्दे न रूवे न गधे न रसे न फासे (आचा० १, ५, ६, (१७१-१७२)
५ अउल सुह सपत्ता, उवमा जस्म णत्थि उ । (उत्त० सू० ३६, ६६)
६ मव्वेसरा नियट्टन्ति, तक्का जत्थ न विज्जई, मई तत्थ न गाहिया
(आचा० १, ५, ६, १७१, १७२)
—जो शब्दो की पहुंच, तर्कों की दौड और कल्पनाओ की उडान से परे हैं ।
※—दोहों मे उल्लिखित कथाएं परिशिष्ट मे देखे ।

२ : परमात्मा

मङ्गलमय चिन्मय अभय, जगन्नाथ जग-वन्धु[1] ।
वीतराग[2] त्रिभुवन—तिलक, परमात्मा गुण-सिन्धु ॥१॥

परमात्मा के भेद दो, सह-शरीर, अशरीर ।
शरणागत को शीघ्रतर, दिखलाते भव-तीर ॥२॥

परमात्मा सशरीर जो, तीर्थंकर भगवान् ।
चार कर्म से मुक्त प्रभु, दर्शन—ज्ञान-निधान ॥३॥

दिव्य देशना धर्म की, देते श्री जिन-राज ।
चार तीर्थ की स्थापना, करते त्रिभुवन-ताज ॥४॥

सिद्ध अतनु परमेश जो, सब दुखो से मुक्त ।
जन्म-मरण से रहित है, अष्टगुणो से युक्त ॥५॥

स्थित रहते है लोक के, अग्रभाग मे नित्य ।
सहजानन्द-स्वरूप का, उदित जहाँ आदित्य ॥६॥

हुए और होगे पुन, ईश्वर जीव अनन्त ।
फिर भी अन्त न विश्व का, जीव अनन्तानन्त ॥७॥

वीतराग—उपदेश से, प्राप्त करो भव-छोर ।
वीर वचन से तर गया, रोहिणेय सा चोर ॥८॥

परमात्मा आराध्य है, वहिरात्मा है हेय ।
साधक अन्तर-दृष्टि है, '**मुनिगणेश**' सब ज्ञेय ॥९॥

---

१ (क) जगणाहो, जगवन्धू जयई जगप्पियामहो भयव—नंदी सू० १
—भगवान् जगत् के नाथ, जगत् के वन्धु और जगत् के पितामह हैं ।
(ख) सर्वलोक महेश्वरं सुहृद सर्वभूतानाम् ।—गीता ५, २९
—परमात्मा सर्वलोक के महेश्वर और भूतमात्र के सुहृद्-बन्धु है ।
(ग) न तत्समोऽस्त्यभ्याधिक कुतोऽन्य ।—गीता ११, ४३
—आप जैसा दूसरा कोई नही है । तव आपसे अधिक की तो बात ही क्या ?

२ भग्गरागो भग्गदोसो, भग्गमोहो अनासवो ।
भग्गास्स पापका धम्मा, भगवा तेन वुच्चति ॥ —(विशुद्धि मग्गो ७, ५९)
—जिसका राग भग्न है, द्वेष भग्न है, मोह भग्न है, कि बहुना, जिसके सभी पाप-धर्म भग्न हो गए हैं, इसलिए वह भगवान् कहा जाता है ।

३ : आत्मा

आत्मा ज्ञान-स्वरूप है, निज शरीर परिमाण।
विविध प्रमाण-प्रसिद्ध जो, परिणामी गुणवान् ॥१॥

हर शरीर मे भिन्न है, ज्ञाता रूपातीत।
कर्ता, भोक्ता, कर्म-बद्ध, संसारी दु ख-भीत[१] ॥२॥

दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, वीर्य तथा उपयोग।
ये लक्षण है जीव के, इनका हो न वियोग[२] ॥३॥

असख्यात हर जीव के, है अविभाज्य प्रदेश।
जो कि अछेद्य, अभेद्य है, तथा अदाह्य अशेष[३] ॥४॥

विद्यमान रहते सदा, जीव रूप मे जीव।
होते नही त्रिकाल मे, जीव कभी निर्जीव[४] ॥५॥

होता है अस्तित्व मे, परिणत नित अस्तित्व।
नास्ति-भाव नास्तित्व मे, यह अवाच्य है तत्त्व[५] ॥६॥

है सख्या की दृष्टि से, जग मे जीव अनन्त।
सकल लोक मे व्याप्त है, जिनका आदि न अन्त[६] ॥७॥

सुख-दुख का कर्ता स्वय, है आत्मा नि शक।
मुनि अनाथी का यहाँ, है अनुभव अकलक ॥८॥

"**मुनिगणेश**" ऐसा नही, जग मे कोई स्थान।
जहाँ नही इस जीव ने, अपने छोड़े प्राण[७] ॥९॥

---

१ प्रमाता प्रत्यक्षादिप्रसिद्ध आत्मा चैतन्यस्वरूप परिणामी कर्त्ता साक्षाद् भोक्ता स्वदेह परिमाण प्रतिक्षेत्र भिन्न पौद्गलिकादृष्टवाश्चायम्।

—प्रमाणनय तत्त्व० १।५५।५६

२ नाण च दसण चेव, चरित्त च तवो तहा।
वीरियं उवओगो य, एय जीवस्स लक्खण —उत्तरा० २८।११

३ से न छिज्जई न भिज्जई न डज्झई न हम्मइ कचण सव्वलोए। —आ० १।३।३

४ ण एव भूय वा भव्व वा भविस्सई वा ज जीवा अजीवा भविस्सन्ति, अजीवा वा जीवा भविस्सन्ति —ठाणाङ्ग १०।१।६३१

५ से णूण भन्ते ! अत्थित अत्थिते परिणमई, नत्थित नत्थिते परिणमई ? हन्ता गोयमा ! जाव परिणमई। —भगवती १।३।३२

६ दव्वओण जीवत्थिकाए अणताइं जीवदव्वाइ —भग० २।१०।११७

७ नत्थि केई परमाणुपोग्गलमेते वि पएसे जत्थ ण अय जीवे न जाये वा न मए वा वि। —भग० १२।७

४ : आत्म-सिद्धि

जीव शब्द से जीव की, हो जाती है सिद्धि।
विना वाच्य वाचक नही, यह सर्वत्र प्रसिद्धि ॥१॥
"मैं हूँ" मानव मात्र को, होता यह विश्वास।
किन्तु कभी क्या "मैं नही", होता यह आभास[1] ॥२॥
सुख-दुःख की अनुभूति का, होता है जो ज्ञान।
गुण आत्मा का यह अटल, आत्मा है गुणवान्[2] ॥३॥
"आत्मा" है अथवा नही, सशय का उत्थान।
होता है यह जीव मे, जड तो है वेभान ॥४॥
जीव और जड वस्तु मे, है अत्यन्ताभाव।
जड से हो सकता नही, चेतन का उद्भाव ॥५॥
जीव न हो तो क्या वने, उसका कभी निषेध।
निश्चय होता वह सदा, जिसका हो प्रतिषेध ॥६॥
निज-निज विषयो का करे, सभी इन्द्रियाँ ज्ञान।
हो न सके आत्मा विना, जोड़-रूप विज्ञान[3] ॥७॥
आत्म-सिद्धि निःशक है, जिसके विविध प्रमाण।
केशी ने करवा दिया, परदेशी को ज्ञान ॥८॥
अवगाहन गुण से करे, "मुनिगणेश" नभ-ज्ञान।
चेतन गुण से कर सके, आत्मा का विज्ञान ॥९॥

---

१ जो अहंकारो, भणित अप्पलक्खणं —आचा० चूर्णी १।१।१
—यह जो अन्दर मे 'अह' की 'मैं' की चेतना है यह आत्मा का लक्षण है।

२ अह दुःखी सुखी चाहमित्येष प्रत्यय स्फुटम्।
प्राणिना जायतेऽध्यक्षो निर्वाधोनात्मना विना। —अमित० श्रा०
—मैं सुखी हूँ, मैं दुखी हूँ, ऐसे जीवो को बाधा रहित प्रत्यक्ष प्रतीति होती है वह आत्मा विना किमे होगी ?

३ ण अण्णमुणिय मुणइ अण्णो (सूत्र १) इन्द्रियाँ प्रत्येक भूत स्वरूप है।
—चार्वाक के मत मे दूसरा द्रष्टा न होने के कारण वे ही द्रष्टा हैं। वे इन्द्रियाँ प्रत्येक अपने-अपने विषय को ही ग्रहण करती हैं। दूसरी इन्द्रियो के विषय को दूसरी इन्द्रिय ग्रहण नही करती है। इसलिए अन्य इन्द्रियो द्वारा ज्ञात उस अर्थ को अन्य इन्द्रियाँ नही जान सकती हैं ऐसी दशा मे "मैंने पाँच ही विषय जाने" यह सम्मेलनात्मक ज्ञान चार्वाक के मत मे नही हो सकता।

५ : भेद

द्रष्टा-दृश्य-विभेद से, आत्मा देह न एक[१]।
दृश्य मूर्त्त यह देह है, आत्मा द्रष्टा देख[२] ॥१॥

जड, चेतन के भेद से, आत्मा-देह न एक।
नश्वर जड, यह देह है, आत्मा चेतन देख ॥२॥

भोक्ता-भोग्य-विभेद से, आत्मा-देह न एक।
भोक्ता आत्मा कर्म-युत, देह भोग्य है देख ॥३॥

ज्ञाता-ज्ञेय-विभेद से, आत्मा देह न एक।
आत्मा ज्ञाता है सदा, देह ज्ञेय है देख ॥४॥

रक्षक रक्ष्य-विभेद से, आत्मा देह न एक।
रक्षक रक्ष्य-शरीर का, आत्मा ही है देख ॥५॥

उत्पादक-उत्पाद्य से, आत्मा तन मे भेद।
तन-उत्पादक जीव है, तन उत्पाद्य सुवेद ॥६॥

अशन-ग्रहण परिणमन नित, और विसर्जन कार्य।
जीव और निर्जीव मे, अन्तर इनसे आर्य ॥७॥

आत्मा तन से भिन्न है, बतलाता सिद्धान्त[३]।
विजय चोर अरु धन्य का, है सुन्दर दृष्टान्त ॥८॥

उत्पादन समकक्ष का, निद्रा, श्रम, विश्राम।
"मुनिगणेश" जड-जीव मे, इनसे भेद प्रकाम[४] ॥९॥

---

१ अन्नो जीवो, अन्न सरीर —सूत्रकृताग २।१।६
—आत्मा और है शरीर और है।

२ (क) अणिदियगुण जीव, दुन्नेय मसचक्खुणा —दशवै० नि० भा० ३४
चर्म चक्षुओ से देख पाना कठिन है क्योकि आत्मा के गुण अनिन्द्रिय-—अमूर्त है।
(ख) अप्पाण विणु णाण णाण, विणु अप्पगो न सदेहो —नियम० १७१
—यह निश्चित सिद्धान्त है कि आत्मा के बिना ज्ञान नही और ज्ञान के विना आत्मा नही।

३ देहोऽहमिति सकल्पो महत्ससार उच्यते। —तेजोविन्दूपनिषद् ५।६
—मैं देह हूँ यह सकल्प ही सबसे बडा ससार है।

४ ईच्छा-द्वेष-प्रयत्न-सुख-दुःख-ज्ञानान्यात्मनोलिंगम्। —न्यायदर्शन १।१।१०
—ईच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख ज्ञान—ये आत्मा के ज्ञापक लिंग (लक्षण) हैं।

६ : अन्तर-आत्मा

अन्तर-आत्मा,[1] आतम-रत, नि स्पृह विषय-विरक्त ।
पाप-भीरु, पावन हृदय, समता मे अनुरक्त ॥१॥

सद्गुरु के सयोग से, समझे आत्म-स्वरूप ।
अन्तर द्रष्टा वन तजे, विषय-विकार, विरूप ॥२॥

समझे सम्यग्-ज्ञान से, चेतन-तन मे भेद ।
आत्मा है तलवार सम, देह म्यान-सम वेद[2] ॥३॥

'मैं' काला गोरा नही, 'मैं' न कभी कृश-स्थूल ।
ये जड के पर्याय है, चेतन से प्रतिकूल ॥४॥

घटता वढता 'मैं' सदा, यो समझे अनजान ।
घटे, वढ़े वह "मै" नही, यह है सम्यग्-ज्ञान[3] ॥५॥

"मैं" न मरूँ, जनमू कभी, होऊँ वृद्ध न वाल ।
जन्म-मरण है देह का, "मै" तो अमर त्रिकाल ॥६॥

अन्तर-आत्मा समझता, सवको आत्म-समान ।
करता रहता वह सदा, समतामृत का पान ॥७॥

अन्तर-दृष्टा के लिए, चमत्कार वेकार ।
अम्वड़ चलित न कर सका, सुलसा दृष्टि उदार ॥८॥

भव मे करता है भ्रमण, मिथ्या-मत मे लीन ।
"मुनिगणेश" शिव साधता, अन्तर दृष्टि प्रवीण ॥९॥

---

१ वहिरात्मा शरीरादौ, जातात्मभ्रान्तिरान्तर ।
चित्तदोषात्म-विभ्रान्ति, परमात्माऽतिनिर्मल. ॥५॥
मूल ससारदु.खस्य, देह एवात्मधीस्तत ।
त्यक्त्वैना प्रविशेदन्तर्वहिरव्यापृतेन्द्रिय' ॥२५॥ —समाधिशतक

२ आत्मनो देहतोऽन्यत्व, चिन्तनीय मनीपिणा ।
शरीरभारमोक्षाय सायकस्येव कोशत ॥७९॥ —अमित० श्रावकाचार

३ न यस्य हानितो हानिर्न वृद्धिर्वृद्धितो भवेत् ।
जीवस्य सह देहेन, तनैकत्व कुतस्तनम् ॥८३॥ —अमित० श्रा०
वहिरन्त परश्चेति, त्रिधात्मा सर्वदेहिषु ।
उपेयात्तत्र परम मध्योपायाद्वहिस्त्यजेत् ॥४॥ —समाधि श०

७ : वहिरात्मा

हिसा-नंदित मूढमति, वाह्यदशा मे लीन ।
वहिरात्मा है व्यक्ति वह, अन्तर ज्ञान-विहीन[१] ॥१॥

पर को अपना समझता, पर मे लुब्ध महान् ।
आत्मबुद्धि जड देह मे, भूला अपना भान[२] ॥२॥

मान रहा 'मैं' स्थूल हूँ, कृश हूँ श्याम स्वरूप[3] ।
"मैं" ब्राह्मण, चण्डाल हूँ, नर नारी तद्रूप ॥३॥

मेरा घर, परिवार यह, मेरा है धन-माल ।
मेरी माँ मेरी वधू, मेरा राज्य विशाल ॥४॥

मेरी जाति महान् है, मेरा जग मे नाम ।
वहुत वडा "मैं" आदमी, सव जन का विश्राम ॥५॥

"मैं" वालक, "मैं" वृद्ध हूँ, "मैं" हूँ सुन्दर काय ।
मान रहा है मूढ नर, पर को निजपर्याय[४] ॥६॥

विषयो मे सुख मानता, पर-पदार्थ मे लीन ।
आर्त्त-ध्यान मे रत सतत, अघ-चय करता दीन ॥७॥

वाह्य प्रलोभन देखकर, जिसका विचलित ध्यान ।
जिन-रक्षित की भाँति वह, पाता दुख महान् ॥८॥

वहिरात्मा नर देखता, जग मे दु.ख अपार ।
अन्तर-दृष्टि विना नही, "मुनिगणेश" भव-पार ॥९॥

---

१ वहिरात्मेन्द्रिय-द्वारैरात्मज्ञानपराङ्मुख ।
स्फुरित स्वात्मनो देहमात्मत्वेनाध्यवस्यति ॥७॥ —समाधि श०
—आत्मा का सच्चा स्वरूप क्या है, इस ज्ञान से शून्य इन्द्रियो के द्वारा विषयो के ग्रहण मे व्यापार करता हुआ वहिरात्मा जड शरीर को आत्मा के रूप मे मानता है ।

२ देहेष्वात्मधिया जाता पुत्र-भार्यादिकल्पना ।
सम्पत्तिमात्मनस्ताभिर्मन्यते हा हत जगत् ॥१४॥

३ श्यामोगौरः कृश' स्थूल काण' कुण्ठोऽवलोवली ।
वनितापुरुप पढो विरूपो रूपवानहम् ॥ —अमित श्रा० १५।५६

४ वालकोऽह कुमारोऽह तरुणोऽहमह जरी ।
एता देहपरिणाम जनिता सन्ति कल्पना ॥ —अमित श्रा० १५।६३

८ : आराध्य

निज-आत्मा निज-देव है, निज आत्मा गुरु तात।
निज-आत्मा निज-धर्म है, यह निश्चय की बात ॥१॥

जो ईश्वर वह "मैं" स्वय, जो "मैं" वह परमेश[1]।
"मैं" आराध्य अत स्वय, यहाँ न संशय लेश ॥२॥

मेरे परमाराध्य है, सहजानन्द-स्वरूप।
करूँ भव्य आराधना, बन जाऊँ तद्रूप ॥३॥

देव परम आराध्य है, जो हैं वीत-विकार।
राम, बुद्ध, हरि, वीर हो, वन्दन शत-शत वार[2] ॥४॥

समाराध्य हैं सुगुरु जो, पञ्च महाव्रत युक्त।
समता मे रमते सदा, मोह राग से मुक्त ॥५॥

धर्म वही आराध्य है, जो कषाय से दूर।
आत्मा को पावन करे, समता से भरपूर ॥६॥

रख पाऊँ आराध्य पर, मन मे दृढ विश्वास।
सफल साधना कर सकूँ, पाऊँ परम प्रकाश ॥७॥

रखकर निज आराध्य पर, दृढ विश्वास नितान्त।
शिष्य हुआ है स्वस्थ झट, गिनकर अहि के दाँत ॥८॥

दर्शन, ज्ञान, चरित्र है, जिसके साधन तीन।
"मुनिगणेश" उस साध्य को, पाऊँ बन तल्लीन ॥९॥

---

१ (क) य परमात्मा स एवाह, योह स परमस्तत।
अहमेव मयाराध्य', नान्य कश्चिदिति स्थिति ॥ —समाधि-शतक-३१
—जो परमात्मा है, वह मैं हूँ, जो मैं हूँ वह परमात्मा है। इसलिए मैं ही अपना आराध्य हूँ।
(ख) अप्पा सो परमप्पा।—आत्मा ही परमात्मा है। —प्रज्ञा० सू०
(ग) जैन धर्म प्रत्येक सामान्य आत्मा को साधना द्वारा परमात्मा बनने का मार्ग बताता है। —जार्ज बर्नार्डशा (कल्याण मा० ४०६)

२ भवबीजाकुर-जनना, रागाद्या क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा, हरो जिनो वा नमस्तस्मै —आचार्य हेमचन्द्र

३ नाण च दसण चेव, चरित्त च तवो तहा।
एस मग्गो त्ति पन्नत्तो जिणेहि वरदसिहि। —उत्त० २८।२

९ : देवाधिदेव

देवो के अधिदेव है, वीतराग भगवान्।
ध्याता जिनका ध्यान कर, पाता पद निर्वाण[1] ॥१॥
जान रहे सब लोक के, तीन काल के भाव।
अप्रतिहत वर-ज्ञान है, निर्मल आत्म-स्वभाव ॥२॥
सद्दर्शन सयुक्त प्रभु, क्षायिक वर-चारित्र।
आत्मिक शक्ति अनन्त है, स्फटिक-समान पवित्र ॥३॥
वर अतिशय चौतीस है, वाणी-गुण पैंतीस।
लक्षण एक हजार युत, अष्टाधिक जगदीश ॥४॥
भूतल के भूषण अमल, निर्मल शारद चन्द।
अष्टादश दूषण रहित, आत्मानन्द अमन्द ॥५॥
तीर्थंकर त्रिभुवन-तिलक, परम तितिक्षावान्[2]।
त्रिभुवन-तारक तीर्थपति, त्रिभुवन-गुरु गुण-खान ॥६॥
अज्ञानी इस विश्व मे, बाँध रहे है कर्म।
बिना देव अरिहन्त के, कौन बताये धर्म ॥७॥
निष्कारण ही तारते, भक्तो को भगवान्।
नृपति उदायन के लिए, संकट सहे महान् ॥८॥
"मुनिगणेश" अरिहन्त प्रभु, करके धर्म-प्रकाश[3]।
चतुर चिकित्सक-सम करे, कर्म रोग का नाश ॥९॥

---

१ निम्ममो निरहकारो वीयरागो अणासवो।
सपत्तो केवल नाण सासय परिणिव्वुए ॥ —उत्त० ३५-२१

२ (क) घणघाई कम्मरहिया केवलणाणाई परमगुणसहिया।
चोतिसअदिसअजुत्ता अरिहन्ता एरिसा होति॥ पचरत्नसार—२०५

(ख) खमासूरा अरिहन्ता। (अर्हत् क्षमा-वीर (अद्भुत क्षमाशील होते है)
—स्था० सू० ४१४

क्षमा शोभती उस भुजग को जिसके पास गरल हो।
उसको क्या जो दन्तहीन, विषरहित विनीत सरल हो॥ —दिनकर कुरुक्षेत्र

३ जियकोहमाणमाया जियलोहा तेण ते जिणा हुति।
अरिणो हन्ता, रय हन्ता, अरिहन्ता तेण वुच्चति॥ —आव० नि० १०८३
—क्रोध, मान, माया और लोभ को विजय कर लेने के कारण 'जिन' कहलाते है।
कर्मरूपी शत्रुओ का तथा कर्मरूप रज का हनन-नाश करने के कारण अरिहन्त कहे जाते हैं।

१० : सद्गुरु

पाँच महाव्रत पालते, आत्मार्थी अनगार।
बतलाते पथ मोक्ष का, गुरु गुणवान् उदार ॥१॥
पाँच समिति के समितनित, तीन गुप्ति से गुप्त[1]।
शान्त, दान्त, अध्यात्म-रत, विषय-विकार विलुप्त ॥२॥
भेद-भाव रखते नही, सबके प्रति सम-भाव।
ज्ञान-ध्यान मे लीन नित, पर मे नही लगाव ॥३॥
लेते मधुकर-वृत्ति से, भिक्षा त्रिकरण-शुद्ध।
सग्रह कुछ करते नही, होते कभी न क्रुद्ध ॥४॥
उदासीन जग से सदा, नि स्पृह गुण-भण्डार।
शाप और वरदान का, कभी न ढोते भार ॥५॥
चाहे कोई स्तुति करे, चाहे निन्दावाद।
सुख हो चाहे दु ख हो, किन्तु न हर्ष-विषाद[2] ॥६॥
पाप-भीरु पावन हृदय, स्फटिक समान चरित्र।
सयम मे रमते सदा, सकल विश्व के मित्र ॥७॥
जीवन-रथ की सौंप दो, गुरु के हाथ लगाम।
सत मेघ स्थिर हो गया, वीर वचन अभिराम ॥८॥
कष्टसहन करके स्वय, करते पर-उपकार।
"मुनिगणेश" सद्भाग्य से, मिलते गुरु अविकार ॥९॥

---

१ (क) मण-वय-काय-सुसवडे जे स भिक्खू। —द० सू० १०।७

(ख) कायेन सवुता धीरा अथो वाचाय सवुता।
मनसा सवुता धीरा ते वे सुपरिसंवुता॥ —ध० प० १७।१४

—कायिक, वाचिक और मानसिक चचलताओ से जो परे हैं, वही धीर है।

(ग) शुभाशुभाभ्या मार्गाभ्या, वहन्ती वासना-सरित्।
पौरुषेण प्रयत्नेन, योजनीया शुभे पथि॥

—यो० वा० मुमुक्षप्रकरण ६।१०

शुभ और अशुभ मार्ग से वह रही वासना रूपी नदी को अपने पुरुषार्थ के द्वारा हटाकर शुभ मार्ग मे लगाना चाहिए।

२ सम. शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयो.।
शीतोष्णसुखदु खेषु सम सङ्गविवर्जितः॥

—गीता १२।१८

११ : सद्गुरु-महिमा

पतितो को पावन करे, वह भगवान समान ।
करो भक्ति गुरुदेव की, तज कर मन अभिमान[१] ॥१॥

क्रोध, क्रोध करके गया, रहा नही क्षण एक ।
जव सद्गुरु ने हृदय मे, विकसित किया विवेक ॥२॥

हुआ हृदय मे ज्ञान जव, सद्गुरु के सयोग ।
जानलिया जग स्वप्नवत्, और भोग सहरोग ॥३॥

दुष्ट-पुरुष का सग कर, भटक रहा अनजान ।
सद्गुरु मिल जाता अगर, वन जाता भगवान् ॥४॥

ज्ञानी गुरु ने जव दिया, करुणा करके ज्ञान ।
भव्य प्राणियो को हुआ, निजस्वरूप का भान ॥५॥

अन्तर की आँखे खुले, होता हृदय-प्रकाश ।
अज्ञानी-ज्ञानी वने, रह कर गुरु के पास[२] ॥६॥

सद्गुरु माता, हे पिता, सद्गुरु सच्चे मित्र ।
विना सुगुरु के कौन जो, जीवन करे पवित्र ॥७॥

काट सके वन्धन वही, जो गुरु स्वय अवद्ध ।
नारद ने नृप से कहा, व्यास लोभ से वद्ध ॥८॥

सफल साधना हो सके, सद्गुरु के आधार ।
"**मुनिगणेश**" नौका विना, कहाँ जलधि का पार ॥९॥

---

१ (क) तद्दिट्ठीए तम्मुत्तीए तप्पुरक्कारे तस्सन्नी तन्निवेसणे ।

—आचा० सू० १, ५, ४

—शिष्य गुरु की दृष्टि से चले, उनकी निस्सगता का अनुसरण करे, उन्हे आगे रखे, उनमे पूर्ण श्रद्धा रखे, उनके पास रहे ।

(ख) मन्मना भव मद् भक्तो मद्याजी मा नमस्कुरु ।
मामेवैष्यति सत्य ते, प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ —गीता १८।६५

—मुझ से लगन लगा, मेरा भक्त वन, मेरे लिए यज्ञ कर, मुझे नमस्कार कर ऐसा करता हुआ तू मुझे ही प्राप्त करेगा । यह मेरी प्रतिज्ञा है ।

२ अज्ञानतिमिरान्धाना, ज्ञानाञ्जन-शलाकया ।
नेत्रमुन्मीलित येन, तस्मै श्रीगुरवे नम ॥

१२ : संत

कष्ट न अपना देखते, करते पर-अपकार।
मित्र सकल ससार के, नि स्पृह सन्त उदार ॥१॥

वदन शान्ति का सदन है, सदय हृदय अविकार[1]।
तत्पर पर-उपकार मे, सकल विश्व परिवार ॥२॥

मिले निमित्त विकार के, फिर भी मन अविकार।
उन सन्तो के चरण से, पावन है ससार ॥३॥

सत्य, अहिसा, नम्रता, समता, क्षमा, महान्।
सन्तो मे होते सहज, ये सद्गुण अम्लान ॥४॥

रोगादिक की वृद्धि से, खिन्न न सन्त सुधीर।
निर्भय नौकास्थित पुरुप, भले बढे नद-नीर ॥५॥

पर को दुःख देते नही, सहते कष्ट सहर्ष।
आत्म-तुल्य सब जीव है, यह जीवन आदर्श ॥६॥

रहते जल मे कमल सम, जग मे सन्त अलीन[2]।
शान्ति-सिन्धु जग-बन्धुवर, आत्म-ध्यान मे लीन ॥७॥

जो न किसी मे देखते, किसी दशा मे दोष।
कहा बुद्ध ने है वही, साधु पुरुप निर्दोष ॥८॥

अत्युत्तम हैं, सन्त वे, निर्विकार नि.स्नेह।
आत्मा मे करते रमण, "**मुनिगणेश**" गुण-गेह ॥९॥

---

१ विकारहेतौ सत्ति विक्रियन्ते।
येषा न चेतासि त एव धीरा ॥ —कु० स० १, ५६
(सुख-दुःख आदि के कारण) विकार उत्पन्न होने की स्थितियो मे भी, जिनके मन मे विकार नही आता, वे ही धीर पुरुष हैं।

२ (क) जहा पोम जले जाय नोवलिप्पइ वारिणा। —उत्त० सू० २५-२६
—साधक को जल मे कमल की तरह ससार मे निर्लेप रहना चाहिए।

(ख) नो लिम्पति लोकेन तोयेन पदुमं यथा —थेरगाथा ७०४
—विद्वान पानी मे कमल की तरह लोक मे लिप्त नही होता।

(ग) पद्मपत्रमिवाम्भसा। —गीता ५।१०
—साधक पानी मे कमल की तरह ससार मे निर्लिप्त रहे।

१३ : संत-महिमा

राग-भावना से नही, रञ्जित होते सन्त।
रग न चढता शख पर, उज्ज्वल नित अत्यन्त ॥१॥
जैसे जल मे कमल-दल, रहता है निर्लिप्त।
वैसे विषयो मे कभी, सन्त न होते लिप्त[1] ॥२॥
जैसे भाजन कांस्य का, रहता जल से मुक्त।
वैसे जग मे सन्त-जन, रहते स्नेह-वियुक्त ॥३॥
जैसे दिनकर तेज से, होता है अति दीप्त।
वैसे तप के तेज से, ऋषि रहते उद्दीप्त ॥४॥
समता से सकट सदा, सहते सन्त सहर्ष।
अचला अचल-स्वभाव से, सहन करे सब स्पर्श[2] ॥५॥
सुर-गिरि सम रहते सदा, निश्चल सन्त नितान्त[3]।
खिन्न न होते हैं कभी, सकट मे भी शान्त ॥६॥
नभ मे शारद-चन्द्रमा, सहज सौम्य आकार।
जग मे आत्मानन्द-रत, सन्त शान्त साकार ॥७॥
मुनि के चरण-स्पर्श से, मिट जाते सब रोग।
पक्षी-गीध जटायु जो, बना सुरूप निरोग ॥८॥
शारद-जल सम अमलतम, है आचार-विचार[4]।
"मुनिगणेश" वे सन्त-गण, भूतल के शृ गार ॥९॥

---

१ वोछिन्द सिणेहमप्पणो, कुमुयं सारइय व पाणिय।
से सव्वसिणेह वज्जिए, समय गोयम ! मा पमायए ॥

—उत्त० सू० १०-२८

—शरद् ऋतु का कमल जिस प्रकार जल मे निर्लिप्त रहता है, उसी प्रकार स्नेह से मुक्त रहो। प्रमाद मत करो।

२ वसुन्धरा इव सव्व फासविसहा। —सूत्र कृ० २२।३८

—मुनि जन पृथ्वी की तरह समस्त सुख-दु खो को समभाव से सहन करने वाले होते हैं।

३ मेरुव्व वाएण अकपमाणो। —उत्त० सू० २१।१६

—वायु से नही हिलने वाले मेरु पर्वत की तरह धीर पुरुष कष्टो से विचलित नही होते।

४ सारदसलिल व सुद्ध हियया। —सू० कृ० २।२।३८

—मुनिजनो का हृदय शरदकालीन नदी के जल की तरह निर्मल होता है।

१४ : सत्संगति

सद्गुरु के सत्सग मे, मिलता हित-उपदेश।
सलिल-सिक्त तरु की तरह, वह बढता विन क्लेश[1] ॥१॥
भव-कानन विष-वृक्ष के, दो फल सुधा समान।
सन्त जनो की सगति, शास्त्र-सुधा रस-पान ॥२॥
दुर्लभ सगति सन्त की, मिले भाग्य-सयोग।
जन्मान्तर-कृत पाप के, कट जाते सब रोग ॥३॥
पावन बनता पतित नर, क्षण भर कर सत्सग।
धेनु सग से घास भी, बनता दूध सुरग ॥४॥
चन्दन शीतल लोक मे, शीतल-तर रजनीश।
शीतलतम सत्सग है, बतलाते जगदीश ॥५॥
उत्तम बनता अधम भी, उत्तम नर के सग।
मुक्ता बनता सलिलकण, पाकर शुक्ति-प्रसंग ॥६॥
टिक पाता सत्सग से, क्या घट मे अज्ञान।
हो जाता है दीप से, तम का झट अवसान ॥७॥
पापी भी पावन बने, सत्सगति के योग।
चोर अगुलीमाल का, वृत्त सुनो सब लोग ॥८॥
किसने किया कुसग से, अपना नही अनिष्ट।
"**मुनिगणेश**" सत्-सग से, फलते सभी अभीष्ट ॥९॥

---

१ (क) जे आयरिय-उवज्झायाण, सुस्सूसा वयणकरा।
तेसिं सिक्खा पवड्ढन्ति, जलसित्ता इव पायवा ॥ —द० सू० ९।३।१२

(ख) जाड्य धियो हरति सिंचति वाचि सत्य, मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति।
चेत. प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्ति, सत्सगति कथय किं न करोति पु साम्
—भर्तृहरि

(ग) अभिवादनशीलस्य नित्य वृद्धोपसेविन।
चत्वारि तस्य वर्द्धन्ते, आयुर्विद्या यशोबलम् ॥
—मनु स्मृ० २।१२१

—पूज्य जनो का सदा अभिवादन और वृद्धजनो की सेवा करने वाले की आयु, विद्या, यश और वल बढता है।

२ (क) बुद्धिमान वृद्ध-सेवया (मनुष्य वृद्ध पुरुषो की सेवा से बुद्धिमान बनता है)
—म० भा० वन पर्व ३१३-४८

(ख) न हँस के सीखे हैं, न रो के सीखे हैं।
जो कुछ भी सीखे हैं, किसी के हो के सीखे हैं ॥ —अकबर

१५ : साधक

नौका यदि जल मे रहे, तो क्या है नुकसान।
पर नौका मे जल रहे, तो निश्चित अवसान ॥१॥
पाप भीरु साधक रहे, भले विश्व के वीच।
पर साधक के चित्त मे, रहे न जग का कीच ॥२॥
साधक करता साधना, तज कर पर-सम्बन्ध।
मन को छूती भी नही, अपनी स्तुति की गन्ध[1] ॥३॥
जागरूक रहना सदा, है साधक का काम।
सफल साधना के लिए, यह शिक्षा अभिराम[2] ॥४॥
आत्म-साधना से नही, विचलित होता वीर।
निजकृत दुष्कृत प्रकट कर, वनता निर्मल नीर[3] ॥५॥
रहे निरत स्वाध्याय मे, घोर विपद् मे धीर।
साधक पाता शीघ्रतर, साध्य-सिन्धु का तीर ॥६॥
उदासीन ससार से, ध्याता निर्मल ध्यान।
समरसता के सलिल मे, साधक करता स्नान ॥७॥
घोर आपदा मे रहे, अविचल मेरु समान।
धन्यवाद सौ वार है, मुनि मेतार्य महान् ॥८॥
भव्य भावना से सतत, भावित-चित्त नितान्त।
"**मुनि गणेश**" साधक रहे, पूर्ण शान्त अभ्रान्त ॥९॥

---

१ अच्चण रयण चेव, वंदण पूयण तहा।
इड्ढी सक्कार सम्माण, मणसा वि न पत्थए॥ —(उत्त० ३५-१८)

२ पमत्ते वहिया पास अप्पमत्तो परिव्वए।
—प्रमत्त को धर्म से बाहर देख, अप्रमत्त भाव से सयम मे विचरण कर।
— (आचा०)

३ (क) कयपावोऽपि मणूसो, आलोइय निन्दिउ गुरूसगासे।
होई अईरेग लहुओ, ओहरियभरोव्व भारवहो॥ (मरण-समाधि १०२)
—जैसे भारवाही भार उतार कर अत्यन्त हल्कापन अनुभव करता है इसी प्रकार साधक भी गुरु के समीप अपने दुष्कृत्यो की आलोचना निंदा कर पाप से हल्का हो जाता है।

(ख) आहच्च चण्डालिय कट्टु, न निण्हविज्ज कया इवि।
कड कडेत्ति भासेज्जा, अकड नोकडेत्ति य॥ —उत० १।११

(ग) अधा वह नही जिसकी आँखें फूट गई हैं, अन्धा वह है जो अपने दोष ढकता है। —(आ० वि०)

(घ) भूल करने मे पाप तो है ही, परन्तु उसे छिपाने मे उससे भी वडा पाप है
—आ० वि०

१६ : साधना

दुर्लभ सम्यग्-ज्ञान है, दुर्लभ श्रद्धा शुद्ध[१] ।
दुर्लभ संयम-साधना, दुर्लभ भाव विशुद्ध ॥१॥
नर-तन पाकर भी कठिन, धर्म-श्रवण का योग ।
लिप्त राग मे, द्वेप मे, रहते हैं सब लोग ॥२॥
सत्यधर्म के श्रवण का, योग मिला आसान ।
कठिन, कठिनतम है सही, श्रद्धा का मधान ॥३॥
रुचि होकर भी धर्म मे, दुर्लभ-तम उद्योग ।
मोह-मुग्ध नर को सदा, मीठे लगते भोग ॥४॥
धर्म साधना मे प्रथम, है श्रद्धा का स्थान ।
नीव विना होता नही, मन्दिर का निर्माण ॥५॥
अस्थिर मति की साधना, है हल्दी का रग ।
कर देता वह पलक मे, सकल रंग मे भंग ॥६॥
जिनप्रवचन परिपूर्ण है, विविध मतो का व्यूह ।
नि.सशय यह क्लेशहर, साधे सन्त समूह[२] ॥७॥
शत्रु-साधना के कहे, राग-द्वेप-अभिमान ।
है यहाँ शैतान का, शिक्षाप्रद आख्यान ॥८॥
अरि हैं अविजित इन्द्रियाँ, मानस और कषाय ।
"मुनि गणेश" जीतो इन्हे, समता श्रेष्ठ उपाय[३] ॥९॥

---

१ (क) सद्धा परमदुल्लहा । —उ० सू० ३।९
धर्म मे श्रद्धा होना परम दुर्लभ है ।
(ख) श्रद्धादेवी प्रथमजाऋतस्य । —तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।१२
—श्रद्धादेवी ही सत्यस्वरूप ब्रह्म से सर्वप्रथम उत्पन्न हुई है ।

२ भद्द मिच्छादसणसमूहमइयस्स अमयसारस्स ।
जिणवयणस्स भगवओ सविग्गसुहाहिगम्मस्स ॥ —सन्मतितर्क ३।६९
—विभिन्न मिथ्यादर्शनो का समूह, अमृतसार=अमृत के समान क्लेश का नाशक और मुमुक्षु आत्माओ के लिए सहज सुबोध भगवान् जिन प्रवचन का मंगल हो ।

३ एगप्पा अजिए सत्तू, कसाया इंदियाणि य ।
ते जिणित्तु जहानाय, विहरामि अहं मुणी ॥ —उत्त० अ० २३।३८

१७ : श्लाघा-त्याग

श्रेय वृक्ष के हेतु है, निज-स्तुति तीक्ष्ण कुठार।
तज निज श्लाघा, प्राप्त कर, फल अनुपम रसदार ॥१॥

जो अपनी ही स्तुति करे,[1] वह अपूर्ण अनुदार।
हीरा मुख से कव कहे, मेरा मूल्य अपार ॥२॥

जो निज-स्तुति की चाह विन, करता कार्य कलाप।
उसकी स्तुति संसार मे, होती अपने आप ॥३॥

अपनी उन्नति के समय, आता जव अभिमान।
पूर्वज-पुरुषो का रखे, स्मृति मे चरित महान् ॥४॥

श्लाघा, पूजा, राज्य, पद, ये है पर-पर्याय।
लक्ष्य-प्राप्ति मे ये सभी, होते नही सहाय ॥५॥

प्रकट न करना श्रेष्ठ है, करके पर-कल्याण।
स्वाति वूँद चुपचाप रख, करते जलद प्रयाण ॥६॥

निज स्तुति से नर का नही, हो सकता उत्थान।
चर्वण कर निज-अधर का, क्या सँभव रसपान ॥७॥

अपनी श्लाघा से वचे, वनता वही महान्।
न्यूटन ने निज को कहा, मै वच्चा अनजान ॥८॥

उदासीन मुनि लोक से, चित्स्वरूप मे लीन।
"मुनि गणेश" चाहे नही, अपनी कीर्ति प्रवीण ॥९॥

---

१ [क] अप्पणो थवणा परस्स निंदा।—प्र० व्या० ७
—अपनी स्तवना—वडाई और दूसरो की निन्दा मत करो।

[ख] दूसरा मनुष्य तुम्हारी स्तवना करता है, यह ठीक है, पर तुम स्वयं अपने मुँह से ऐसा मत कहो।—वाइ० नी० व० २७, २

[ग] मुहुमे सल्ले दुरुद्धरे।—सू० कृ० १, २, २, ११
—प्रतिष्ठा या प्रशसा का शल्य-काटा वडा सूक्ष्म है। उसे निकालना वडा कठिन है।

[घ] जैसे आग की भट्टी चाँदी और सोने को गला डालती है, प्रशसा भी मनुष्य के लिए वैसी ही है। प्रशसा भी मनुष्य को नष्ट कर देती है।
—वाइ० नी० व० २७, २१

१८ : ध्येय-निष्ठा

दृढनिष्ठा निज ध्येय मे, जीवन का यह सार।
परम सफलता का यही, एक सबल आधार ॥१॥
ध्येय-निष्ठ नर चमकते, ज्यो नभ मे रवि-चन्द्र।
कर जाते वे जगत मे, अमर नाम निस्तन्द्र[1] ॥२॥
ध्येय-निष्ठ निज चरित मे, करते प्रगति महान्।
जीवित ही मृत-तुल्य है, ध्येयहीन अज्ञान ॥३॥
नि सशय निज-कृत्य मे, आत्म-शक्ति भरपूर।
नित्य लगाते ध्येय-निष्ठ, सिद्धि न उनसे दूर ॥४॥
तब तक होते है नही, ध्येय-निष्ठ सन्तुष्ट।
जब तक अपने ध्येय की, प्राप्ति न होती पुष्ट ॥५॥
बिना ध्येय-निष्ठा नही, रह सकता उत्साह।
पा सकता साधक नही, परम सिद्धि की राह ॥६॥
ध्येय-निष्ठ नर के लिए, कठिन न कोई काम।
कर दिखलाते वे त्वरित, दुष्कर काम ललाम[2] ॥७॥
ध्येय-निष्ठ नर को मिले, परम सम्पदा सार।
निशि भोजन के नियम से, केशव भूप उदार ॥८॥
जहाँ न निष्ठा ध्येय मे, आत्म-शक्ति है व्यर्थ।
'मुनि गणेश" मानव मुधा, खोते जीवन अर्थ ॥९॥

---

१ [क] धम्ममि जो दढमइ, सो सूरो सतिओ य वीरो य।
ण हु धम्मणिरुस्साहो, पुरिसो सूरो सुबलिओऽवि ॥ —सूत्र० नि० ६०
—जो व्यक्ति धर्म मे दृढ निष्ठा रखता है वस्तुतः वही बलवान् है। वही शूरवीर है। जो धर्म मे उत्साहहीन है, वह वीर एव बलवान होते हुए भी न वीर है, न बलवान् है।
[ख] दुख शोक जो जब आ पडे, सो धैर्यपूर्वक सब सहो।
होगी सफलता क्यो नही, कर्त्तव्य पथ पर दृढ रहो ॥—ज० व०

२ [क] कार्य वा साधयेयम् देहं वा पातयेयम्।
[ख] चएज्ज देह न उ धम्मसासण—द० सू० चूलिका १, १७
[ग] इहासने शुष्यतु मे शरीर, त्वगस्थिमास प्रलय च यातु।
अप्राप्य बोधि बहुकाल दुर्लभा, नैवासनात् कायमिद चलिष्यति ॥—बु० चु०

१९ : आत्म-ध्यान

मेघ विना वर्षा नही, है यह यथार्थ उक्ति।
शुद्धात्मा की स्मृति विना, मिले न मुनि को मुक्ति[1] ॥१॥
सहजानन्द-स्वरूप का, ध्यान भवोदधि तीर।
मोक्ष-वृक्ष का वीज है, ज्ञानवाटिका नीर ॥२॥
आधि, व्याधि, दुख-दीनता, ईति, भीति के कष्ट।
चित्-स्वरूप के स्मरण से, हो जाते सब नष्ट ॥३॥
निज-स्वरूप के ध्यान से, प्रकटे परमानन्द।
अश न उसका पा सके, इन्द्र नरेन्द्र अमन्द ॥४॥
'मैं' विशुद्ध-चिद्रूप हूँ, इससे उत्तम ध्यान।
मुना न देखा है कही, है सिद्धान्त प्रमाण[2] ॥५॥
सात धातु से रचित जो, घृणित अशुचि का गेह।
पूज्य वने पर के लिये, आत्म-ध्यान से देह ॥६॥
सद्गुण आ जाते सभी, निकट न रहते दोष।
अपने आत्म-स्वरूप को, ध्याते जो निर्दोष ॥७॥
यदि आत्मा वलवान हो, तो क्या करे निमित्त।
सगम चलित न कर सका, महावीर का चित्त ॥८॥
उत्तम ध्येय 'गणेश' है, सहजानन्द-स्वरूप।
ध्याता जिसका ध्यान कर, वन जाता तद्रूप ॥९॥

१ [क] सीस जहा सरीरस्स, जहा मूल दुमस्स य
सव्वस्स साहुधम्मस्स, तहा झाण विधीयते ॥ —इसि० २२-१३
—आत्म धर्म की साधना मे ध्यान का प्रमुख स्थान है, जैसे कि शरीर मे मस्तक का तथा वृक्ष के लिए इसकी जड का।
[ख] त्यागेन हीनस्य कुतोऽस्ति कीर्त्ति, सत्येन हीनस्य कुतोऽस्ति पूजा ॥
न्यायेन हीनस्य कुतोऽस्ति लक्ष्मी, ध्यानेन हीनस्य कुतोऽस्ति सिद्धि ॥
२ [क] स्थित्वा प्रदेशे विगतोपसर्गे, पर्यंकवद्धस्थितपाणिपद्म ।
नासाग्र-सस्थापित-दृष्टिपातो, मन्दीकृतोच्छ्वासविवृद्धवेग ॥६१॥
विधाय वश्य चपल-स्वभाव, मनोमनीपी विजिताक्षवृत्ति ।
विमुक्तये ध्यायति ध्वस्तदोष विविक्तमात्मानमनन्यचित्त —अमित श्रा० ॥
[ख] छिंदति भावसमणा झाण कुठारेहिं भवरुक्ख ।—भाव० १२२

२० : ध्याता

समदर्शी सद्बुद्धि शुचि, समताशील सुधीर।
सहनशील श्रद्धाधनी, ध्याता गुण-गम्भीर[१] ॥१॥
हानि-लाभ जीवन-मरण, मान और अपमान।
स्तवना-निन्दा मित्र-अरि, सुख-दुख एक समान[२] ॥२॥
विजितासन दृढ सहनन, इन्द्रियजयी उदार।
निरालस्य निर्मल हृदय, निद्रा पर अधिकार[३] ॥३॥
अन्तरदृष्टा तत्वविद्, आत्मा मे अनुरक्त।
शान्त-दान्त-निरपेक्ष नित, नम्र विवेकी भक्त ॥४॥
जिज्ञासा निज-रूप की[४], जन्म-मरण से भीत।
जागरूक चैतन्य की, प्रतिमा परम पुनीत ॥५॥
तन-धन-बाह्य पदार्थ के, ध्याता आज अनेक।
किन्तु आत्म-ध्याता मिले, विरला कोई एक ॥६॥
राग-द्वेष के क्लेश का, करके शीघ्र विनाश।
पाता ध्याता ध्यान-रत, परमानन्द प्रकाश ॥७॥
ध्याता करता है नही, कभी किसी पर मोह।
मोहजीत की भाति नित, रहता है निर्मोह ॥८॥
'**मुनि गणेश**' ध्यानस्थ मुनि, सकल विकल्प-विलीन।
करता वास समाधि मे, विषय-वासना-हीन ॥९॥

---

१ सम्यक्त्वालकृत शातो रम्यारम्यनिरुत्सुक ।
निर्भयो भाक्तिक· श्राद्धो, वीरो वैरगिकोऽशठ ॥२८॥—अमित श्रा० ।

२ [क] सम शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयो ।
शीतोष्णसुखदु खेषु सम सङ्गविवर्जित ॥१२॥१८ गीता

[ख] लाभालाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा
समो निंदा पससासु, तहा माणवमाणओ ॥—१९, ९९ उत्तरा० सू०

३ निरालस्यो निरुद्वेगो जितनिद्रो जितासन ।
सर्वव्रतकृताभ्यासः सतुष्टो निष्परिग्रह —॥२७॥—अमित श्रा०

४ स्वरूपमधिजिगमिषुर्ध्याता ॥—मनोनुशासनम् ४, १
—जिस व्यक्ति मे स्वरूप-जिज्ञासा, अपना मौलिक स्वरूप जानने की भावना होती है, वही ध्याता ध्यान का अधिकारी होता है।

२१ : ध्यान-हेतु

चातक को प्रिय मेघ है, जलचर को कासार।
पाप-भीरु को परम प्रिय, आत्म-ध्यान अविकार ॥१॥

देव, धर्म, गुरु की करे, उपासना अम्लान।
होता इसके योग से, आत्म-ध्यान आसान ॥२॥

आत्म-ध्यान ध्याते सदा, निःस्पृह मुनि उपशान्त।
सर्व सङ्ग का त्याग कर, रहते नित एकान्त[1] ॥३॥

सहजानन्द-स्वरूप का, ध्यान विमल मार्तण्ड।
आच्छादित करते उसे, विकल्प-वारिद खण्ड ॥४॥

आत्म-ध्यान मे विघ्न-कर, द्रव्यादिक जो चार।
आत्मार्थी उनका करे, पहले ही परिहार ॥५॥

दूर-भव्य, अभव्य को, भाता कभी न ध्यान।
ज्यो अजीर्ण मे हो नही, रुचिकारक पकवान ॥६॥

भेद-ज्ञान सद्भावना, निर्जनता, अविकार।
गत-चिन्ता, वर भव्यता, ध्यान हेतु स्वीकार[2] ॥७॥

ध्यान-सिद्धि के हेतु है, आवश्यक निर्मोह॥
चलित हुआ चुलनीपिता, माता से कर मोह ॥८॥

त्यागी मुनि ससार की, करे न चिन्ता लेश।
आत्म-ध्यान-गिरि हेतु जो, वज्र-समान **'गणेश'** ॥९॥

---

१ मोक्खपहे अप्पाण ठवेहि त चेव झाहि त चेय।
तत्थेव विहरणिच्च मा विहरसु अण्णदव्वेसु ॥ —पचरत्नसार—४६२
—हे भव्य ! तू मोक्ष मार्ग मे अपनी आत्मा को स्थापित कर उसी का ध्यान कर उसी को चित्तमे अनुभव कर और उसमे निरन्तर विहार कर अन्य द्रव्यो मे विहार मत कर।

२ [क] ऊनोदरिका-रसपरित्याग-यथाशक्त्यऽनशन-स्थान-मौन-प्रति-लीनता-स्वाध्याय भावना-व्युत्सर्गास्तद्धेतव ॥ (मनोनुशासनम्—३, २)
—ऊनोदरिका, रसपरित्याग, यथाशक्ति अनशन, स्थान-आसन, मौन, प्रति-सलीनता, स्वाध्याय, भावना और व्युत्सर्ग—ये ध्यान के हेतु हैं।

[ख] सगत्यागो निर्जनस्थानक च, तत्त्व-ज्ञान सर्वचिन्ता-विमुक्ति।
निर्बाधत्व योगरोधो मुनीना, मुक्त्यै ध्याने हेतवोऽमीनिरुक्ता।

२२ : ध्यान-संकल्प

मैं आत्मा हूँ अरुज अज, अजर अमर अविकार।
अपने मे मैं पूर्ण हूँ, अगणित गुण-भण्डार[1] ॥१॥
मैं न किसी का अग हूँ, मैं परमात्म-स्वरूप।
जग मे मेरा कुछ नही, मैं केवल चिद्रूप[2] ॥२॥
पर के योग-वियोग से, मुझे न हर्ष-विपाद।
निजस्वरूप मे लीन के, प्रतिपल परमाल्हाद ॥३॥
क्षणभगुर जड देह है, मैं हूँ इससे भिन्न।
ज्योतिर्मय आनन्दमय, मैं हूँ स्वस्थ अखिन्न ॥४॥
मैं बलवान् महान् हूँ, ज्ञानवान भगवान्।
सब कुछ करने के लिये, है सामर्थ्य महान्[3] ॥५॥
मैं निज कार्यो मे सफल, होऊँगा नि.गक।
विघ्न-विनाशक मैं स्वय, मंगलमय अकलक ॥६॥
मैं ही मेरा हूँ स्वय, परमोद्धारक मित्र।
और न कोई दूसरा, मेरा मित्र-अमित्र[3] ॥७॥
विगद भावना से बने, आत्मा स्फटिक समान।
इलापुत्र ने पा लिया, निर्मल केवल-ज्ञान ॥८॥
'मुनि गणेश' ध्याता स्वय, 'मैं' ही मेरा ध्येय।
'मैं' मेरे ही ध्यान मे, मग्न रहूँ यह श्रेय ॥९॥

---

१ प्रमाता प्रत्यक्षादि प्रसिद्ध आत्मा चैतन्यस्वरूप परिणामी कर्त्ता साक्षाद्—भोक्ता स्वदेहपरिमाण प्रतिक्षेत्र भिन्न पौद्गलिकादृष्टवाश्चायम्।
—प्रमाण-नयतत्वालोक ७, ५५, ५६

२ अहमिक्को खलु सुद्धो दसणणाणमईओ सदा रुवी।
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्ण परमाणुमित्तपि ॥ —२२॥ पचरत्नसार

३ ते च ज्योतिर्मयोऽहमानन्दमयोऽह स्वस्थोऽह निर्विकारोऽह वीर्यवानहमित्यादय —मनोनुशासनम्—६, १६
—मैं ज्योतिर्मय हूँ, आनन्दमय हूँ, स्वस्थ हूँ, निर्विकार हूँ, वीर्यवान् हूँ आदि आदि सत्सकल्प हैं। सकल्प करते समय मन स्थिर और पवित्र होना चाहिए।

४ पुरिसा ! तुममेव तुम मित्त किं बहिया मित्तमिच्छसि—आचा० सू० ११८
—हे पुरुष ! सदनुष्ठान करने वाला यह तेरी आत्मा ही तेरा मित्र है फिर मित्र की बाहर क्यो खोज करता है ?

२३ : आत्म-दर्शन

सब शास्त्रो का सार है, आत्म-दर्शन अम्लान[१]।
इसको पाने के लिये, साधक का अभियान ॥१॥
आत्म-साधना मे अटल, अविचल अन्तर्दृष्टि[२]।
वर्धमान परिणाम नित, निर्ममता की सृष्टि ॥२॥
स्थापित कर निज चित्त को, आत्मा मे अविराम।
रहना सहज स्वभाव मे, अविचल आठो याम[३] ॥३॥
निर्विकल्प चिद्ध्यान है समता सुधा प्रसूति।
है यह परमानन्द की, योगी-गम्य अनुभूति ॥४॥
सर्वेन्द्रिय-निग्रह सतत, तन पर नही ममत्व[५]।
समता मे करना रमण, हैं सचमुच श्रमणत्व ॥५॥
सरल-स्वभावी, सत्य-रत, निर्मोही, नत, धीर।
सहन-शील, श्रद्धा-धनी, निर्मल गंगा-नीर ॥६॥
विशद भावना से सतत, भावित-चित्त नितान्त।
दर्शन आत्म-स्वरूप का, पाता साधक शान्त[६] ॥७॥
नृत्य आदि को समझता, साधक मात्र प्रलाप।
जयाचार्य का है यहाँ, उदाहरण निष्पाप ॥८॥
गुरु की करुणा दृष्टि से, होता सफल प्रयोग।
'मुनि गणेश' अनुभाव्य है, परमाध्यात्मिक योग ॥९॥

---

१ आत्मा वा अरे द्रष्टव्य श्रोतव्योमन्तव्यो निदिध्यासितव्य । —वृह० उप० २-४-५

२ मूल ससार दुख स्य देह एवात्मधीस्तत ।
त्यक्त्वैना प्रविशेदन्तर्वहिरव्यापृतेन्द्रिय ॥ (श्री समाधिशतक टीका—१५)

३ प्रच्याव्य विषयेभ्योऽह मा मयैव मयि स्थितिम् ।
वोधात्मान प्रपन्नोऽस्मि परमानन्द-निर्वृतिम् ॥ (श्री समाधिशतक टीका-३२)

४ वाह्य वस्तुनोऽग्रहणाद् दृढ स्थैर्यं महानन्दश्च ।—मनोनुशासनम्-२-११
—इनमे वाह्य वस्तुओ का ग्रहण नही होता, इसलिए इन भूमिकाओ मे स्थिरता दृढ एव चिरकालीन होती है । तथा सहजानन्द का अनुभव भी विपुल होता है ।

५ सर्वेन्द्रियाणि सयम्य, स्तिमितेनान्तरात्मना ।
यत्क्षण पश्यतो भाति, तत्तत्व परमात्मन ॥ —समाधि टीका ३०

६ सत्येन लभ्यस्तपसाह्येष आत्मा, सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।
अन्त शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो, यं पश्यन्ति यतय क्षीणदोषा ॥
—मुण्डकोऽप०-३-५

२४ : मनः-शुद्धि

आत्मार्थी साधक करे, पहले चित्त-विशुद्धि[1]।
हो न रसायन कारगर, बिना उदर-मल-शुद्धि ॥१॥

समता-रस के कुम्भ को, मन-कपि देता फोड़।
फिर कैसे उसको मिले, सरस स्वाद बे-जोड़[2] ॥२॥

राग करे कोई पुरुष, अथवा कोई रोष।
साधक का क्या हित-अहित, यदि हो मन निर्दोष[3] ॥३॥

निर्मल विधु के उदय से, उदय अरति-रति-भाव।
पर, उससे क्या चाँद का, वह तो सौम्य-स्वभाव ॥४॥

यदि न प्रभावित चित्त हो, पाकर सुख-दुख-योग।
उस साधक की साधना, रहती सदा निरोग ॥५॥

रे नर! मन ही एक है, सुख-दुख का आधार।
और न कोई दूसरा, अपने मन को मार ॥६॥

शुभ भावों से हो प्रथम, अशुभ भाव-अवरुद्ध।
क्रमश. स्थिति चिद्रूप मे, साधक परम विशुद्ध ॥७॥

मन की निर्मलता विना, कब होता विश्वास।
धोले बगुले ने किया, झष-भक्षण सोल्लास ॥८॥

पाकर शैलेशी-दशा, होता भव से मुक्त।
'मुनि गणेश' मन शुद्धि का, है प्रभाव उन्मुक्त ॥९॥

---

१ जो सो मणप्पसादो, जायई सो निज्जर कुणति।—व्यव० भा० ६।१९०
—साधना मे मनःप्रसाद (मानसिक निर्मलता) ही कर्म निर्जरा का मुख्य कारण है।

२ सर्वमेव वृथा तस्य यस्य शुद्धं न मानसम्।—धर्मकल्पद्रुम—
—जिसका मन शुद्ध नहीं है, उसकी सकल धार्मिक शारीरिक क्रियाएँ निरर्थक ही हैं।

३ [क] तुल्ले वि इंदियत्थे, एगो सज्जई विरज्जई एगो
अज्झत्थ तु पमाण य इंदियत्था जिणा विंति ॥—व्यव० भा० २।५४
— इन्द्रियों के विषय समान होते हुए भी एक उनमें आसक्त होता है और दूसरा विरक्त। जिनेश्वर देव ने बताया है कि इस सम्बन्ध मे व्यक्ति का अन्तर हृदय ही प्रमाण भूत है, इन्द्रियों के विषय नहीं।
[ख] मन एव मनुष्याणा कारण बन्ध मोक्षयो।—(पार्श्वनाथ-चरित्र)

२५ : भेद-ज्ञान

चेतन तन के भेद का, जिससे होता ज्ञान।
भेद-ज्ञान वह ज्ञान है, समझे मुनि मतिमान्[1] ॥१॥
अपने शुद्ध स्वरूप की, प्राप्ति-हेतु मुनि शान्त।
भेद-ज्ञान के भाव मे, रहते लीन नितात ॥२॥
धन, परिजन, सुख, सुयश से, प्रमुदित होते अज्ञ।
भेद-ज्ञान की प्राप्ति से, आनन्दित नित विज्ञ ॥३॥
भेद-ज्ञान के वज्र का, जव तक हो न प्रहार।
तव तक आत्मा-भूमि पर, रहे कर्म-गिरिभार ॥४॥
कोल्हू करता है पृथक्, जैसे तिल से तेल।
करना तन चेतन पृथक्, भेद-ज्ञान का खेल ॥५॥
दुर्लभ आत्म-स्वरूप मे, रुचि रखना एकान्त।
दुर्लभतर निजरूप के, ज्ञापक सत् सिद्धान्त ॥६॥
दुर्लभतम निजरूप के, उपदेशक गुरु शान्त।
उससे भी दुर्लभ अधिक, भेद-ज्ञान अभ्रान्त ॥७॥
वन जाता है अभय नर, भेद-ज्ञान के योग।
पढ़ो सिकन्दर की कथा, तन्मय होकर लोग ॥८॥
भेद-ज्ञान दीपक करे, मोह-तिमिर का नाश।
'मुनि गणेश' चिद्रूप के, दर्शन विना प्रयास[2] ॥९॥

---

१ अन्न इम मरीर, अन्नो जीवुत्ति एव कयवुद्धि।
दुक्ख-परिकिलेसकर छिंद ममत्त सरीराओ ॥—आ० नि० १६४७
—यह शरीर अन्य है। आत्मा अन्य है। साधक इस तत्त्व बुद्धि के द्वारा दु ख एवं क्लेशजनक शरीर की ममता का त्याग करे।

२ [क] भेद विज्ञानत सिद्धा. सिद्धा ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो वद्धा, वद्धा ये किल केचन ॥३५४॥ —पचरत्नसार ॥
—जो कोई सिद्ध हुए हैं वे भेद विज्ञान से सिद्ध हुए हैं और जो कोई वधे हैं वे उसी के अभाव से ही वधे हैं।

[ख] सपद्यतेसवर एव साक्षाच्छुद्धात्मतत्त्वस्य किलोपलभात्।
स भेदविज्ञानत एव तस्मात् तद् भेद विज्ञानमतीव भाव्य ॥
—पचरत्न-सार ३५३
— यह साक्षात् सवर वास्तव मे शुद्ध आत्म-तत्त्व की उपलब्धि से होता है और वह शुद्ध आत्म-तत्त्व की उपलब्धि भेद-विज्ञान मे ही होती है। इसलिए यह भेद विज्ञान अत्यन्त भाने योग्य है।

२६ : स्मर्तव्य

कैसे मै जन्मा यहाँ, जाना है किस स्थान ?
क्या मेरा है क्या नही, यह स्मर्तव्य महान् ॥१॥
क्या क्या मैने है किया, क्या मेरा कर्तव्य ।
मेरा सहजानन्दमय, है स्वरूप स्मर्तव्य[1] ॥२॥
अपने को ससार से, कर लेता जो दूर ।
अपने मे रह कर सदा, पाता सुख भरपूर ॥३॥
भौतिक-सुख ही दु ख का, है कारण साक्षात् ।
विना हुए सयोग के, कव वियोग की वात[2] ॥४॥
चाहूँ चक्री-पद नही, आत्म-धर्म को त्याग ।
निर्धनता स्वीकार है, रहे धर्म-अनुराग[3] ॥५॥
नही किया होता अगर, राग-द्वेप का क्लेश ।
क्यो फिर मैं दुख भोगता, पाता शान्ति विशेप ॥६॥
कलुपित किया कषाय से, अपना मन दिन-रात ।
सहना पडता है तभी, आधि-व्याधि आघात ॥७॥
विषयो की स्मृति मात्र से, वढता काम-विकार ।
साँप विलौने मे मिला (यो), सुनकर मर गए चार ॥८॥
दु खपूर्ण ससार मे, सुख का क्या है काम[4] ।
मिला न चक्री को यहाँ, '**मुनि गणेश**' आराम ॥९॥

---

१ [क] कोऽह कीदृक् कुत आयात. २—चर्पटमजरी
[ख] जो पुव्वरत्तावररत्तकाले सपिक्खई अप्पगमप्पएण ।
किं मे कडं किंचम किच्चसेस, किं सक्कणिज्ज न समायरामि ।
—द० सू० चू० २।१२
—जागृत साधक प्रतिदिन रात्रि के समय प्रारम्भ मे और अन्त मे सम्यक् प्रकार से आत्म-निरीक्षण करता है कि मैंने क्या (सत्कर्म) किया हे ? क्या नहीं किया है ? और वह कौनसा काम वाकी है जिसे मैं कर सकने पर भी नही कर रहा हूँ ।

२ खणमेत्तसोक्खा वहुकालदुक्खा, पगामदुक्खा अणिगामसुक्खा ।
ससार मुक्खस्स विपक्खभूया खाणी अणत्थाण उ काम भोगा ॥
—उ० सू० १४।१३

३ स्या चेटो दरिद्रोह जिनधर्माधिवासित ।

४ अहो दुक्खो हु ससारो—उत्तरा० सू० १९। १५

२७ : ज्ञान-मग्न

ज्ञान ध्यान मे मग्न जो, रहता है दिन-रात ।
विष-सम है उसके लिये, विषयान्तर की वात[1] ॥१॥

रखता अपने चित्त को, अनासक्त अविकार ।
आतम-ज्ञान मे मग्न नर, पाता शान्ति अपार ॥२॥

ज्ञान-मग्न नर समझता, विपय-कथा वेकार ।
भोग-रोग, धन धूल है, दारा कारागार[2] ॥३॥

ज्ञान-मग्न को सौख्य है, सचमुच वचनातीत ।
पा न सके चक्रीश भी, सकल मही को जीत ॥४॥

ज्ञानामृत की बूद भी, शीतलतम साक्षात् ।
उसमे रहता मग्न जो, उस नर की क्या वात ॥५॥

रहे ज्ञान मे मग्न जो, करे न विकथावाद ।
पाता परमानन्द के, रस का अभिनव स्वाद[3] ॥६॥

ज्ञान-मग्नता के विना, रहे न मन अविकार ।
विना नीव कैसे टिके, मन्दिर की दीवार ॥७॥

पुरुप निठल्ला जो रहे, उसे सताता काम ।
लडकी के दृप्टान्त से, लो शिक्षा अभिराम ॥८॥

विकथा, नीद प्रमाद मे, रत रहता है मूढ ।
'मुनि गणेश' रत ज्ञान मे, रहता ज्ञानी गूढ ॥९॥

---

१ यस्य ज्ञान-सुधासिन्धौ, परब्रह्मणि मग्नता ।
विपयान्तर सचारस्तस्य हालाहलोपम ॥२॥—(ज्ञानसागर)

२ परिब्रह्मणि मग्नस्य, श्लथा पौद्गलिकी कथा
क्वामी चामीकरोन्मादा , स्फारादारादरा क्व च ॥४॥ —ज्ञानसागर

३ [क] न वि अत्थि न वि हो ही सज्झाय सम तवोकम्म ।-वृह० भा० ११६९
—स्वाध्याय के समान दूसरा तप न अतीत मे कभी हुआ, न वर्तमान मे कही है और न भविष्य मे कभी होगा ।

[ख] ज्ञान-ध्यान विनोदेन कालो गच्छति धीमताम् ।
व्यसनेन च मूर्खाणा, निद्रया कलहेन वा ॥ —नीति श०॥

[ग] णाण अकुसभूद मत्तस्स हु चित्तहत्थिस्स । —भग० आ० १६०

२८ : निर्ममत्व

निर्ममत्व वर तत्त्व है, परम शान्ति का धाम ।
आत्म-साधना के लिए, यह साधन अभिराम ॥१॥

जिसको जितना मोह है, उतना ही दुख-भार ।
चिदानन्द की चाह तो, शीघ्र अहं को मार ॥२॥

हो जाते दूषण सभी, निर्ममत्व से नष्ट ।
अमित आत्म-आनन्द का, अनुभव होता स्पष्ट ॥३॥

वहिरात्मा प्रतिपल करे, पर-पदार्थ पर राग ।
शान्ति उसे कैसे मिले, विन ससार विराग ॥४॥

कौन सुने, जाऊँ कहाँ, कहाँ मिले प्रिय साथ ।
इस चिन्तन के गर्भ मे, है ममता का हाथ ॥५॥

है ममता को मारने, तप-जप विविध उपाय ।
पर विशुद्ध निज रूप का, चिन्तन यह सदुपाय ॥६॥

भवतृष्णा ही एक है, मोह महीरुह मूल ।
रे साधक ! क्यो कर रहा, इसे सीच कर भूल ॥७॥

जो रमते निज रूप मे, वे कव करते मोह ।
नमि मिथिला की ओर क्यो, झाके जो निर्मोह ॥८॥

मेरा कोई है नही, है स्वार्थी संसार[1] ।
'मुनि गणेश' सुख एक मे, दो मे दुख अपार ॥९॥

---

१ [क] एगे अहमसि, न मे अत्थि कोई, न याहमविकस्स वि ।
—आचा० सू० १, ६, ६,
—मैं (आत्मा) अकेला ही हूँ । न कोई मेरा है और न मैं किसी का ।

[ख] सुह वसामो जीवामो जेसि मो नत्थि किंचण ।
मिहिलाए डज्झमाणीए, न मे डज्झई किंचण ॥ —उत्त० ९।१४)

[ग] सु सुख वत जीवामि, यस्य मे नास्ति किन्चन ।
मिथिलाया प्रदीप्ताया, न मे दह्यति किंचन ॥—म० भा० शान्तिपर्व २७६।४
—मैं सुख से जी रहा हूँ । मेरा कुछ भी नहीं है । इसलिए मिथिला के जलने पर मेरा कुछ नहीं जलता ।

[घ] अहमेको न मे कश्चिन्नाहमन्यस्य कस्यचित्—म०भा० शान्तिपर्व १७४।१४
—मैं अकेला हूँ, न तो कोई मेरा दूसरा है और न मैं किसी का ।

२६ : साम्य

हो न राग प्रिय मित्र पर, और न अरि पर द्वेष ।
साम्य, शान्ति का सदन है, इसमे करो प्रवेश[1] ॥१॥
कष्ट न होगा देह को, खर्च न एक छदाम ।
करो साम्य की साधना, अमित मिले आराम ॥२॥
चन्दन चर्चित देह हो, अथवा वासी—छेद[2] ।
दोनो मे समचित्त है, समता भाव अभेद ॥३॥
चाहे कोई स्तुति करे, अथवा निन्दावाद ।
हो न हर्ष विषाद यह, साम्य-सुधा सुस्वाद ॥४॥
नही तपस्या कर सके, सह न सके यदि कष्ट ।
साम्य-मात्र से सिद्धि यह, जो अमूल्य क्रय स्पष्ट ॥५॥
जो परोक्ष स्वर्गादि है, नास्तिक करे निषेध ।
समता - सुख प्रत्यक्ष है, कर न सके प्रतिषेध ॥६॥
शास्त्रो के अध्ययन का, यही निकाला सार ।
समता - रस है एक ही, दुखो का प्रतिकार ॥७॥
वन जाता समभाव से, पशु भी सुखी महान् ।
हुआ चण्डकौशिक अमर, चढकर समता यान ॥८॥
"मुनि गणेश" समभाव विन, ज्ञानादिक वेकार[3] ।
होते सम - रस युक्त वे, शिव - सुख के आधार ॥९॥

---

१ सत्साम्य-भाव-गिरि-गह्वर मध्यमेत्य ।
पद्मासनादिकमदोषभिद च वद्ध्वा ।
आत्मानमात्मनि सखे परमात्मरूप
त्व ध्याय वेत्सि ननु येन सुख समाधे ।

२ अणिस्सओ इह लोये, पर लोए अणिस्सिओ ।
वासी-चन्दण-कप्पो च असणे अणसणे तहा ॥ —उत्त० सू० १९-९२
—इहलोक और परलोक मे अनासक्त, वसूले से काटने और चन्दन लगाने पर तथा आहार मिलने या न मिलने पर सम रहने वाला मुनि कहलाता है ।

३ किं दिव्वेण तवेण, किं च जवेण किं च चरित्तेण ।
समयाइ विण मुक्खो न हुओ कह वि न हु होई ।

३० : नि.स्पृह

नही प्राप्य अवशेष है, यदि पा लिया स्वरूप।
मुनि होते नि स्पृह अत., परमैश्वर्य अनूप[१] ॥१॥

अर्चा, पूजा, वदना, ऋद्धि, मान, सम्मान।
इनकी क्यो इच्छा करे, नि स्पृह संत महान्[२] ॥२॥

भू-शय्या वन-भवन है, याचित-अशन नितान्त।
फिर भी भूपति से अधिक, नि स्पृह रहता शान्त[३] ॥३॥

विषय-स्पृहा विप की लता, ज्ञान-दात्र से काट।
जिसके फल है कटुकतम, मूर्च्छा, दैन्य, उचाट ॥४॥

दीन-वृत्ति मे माँगता, रहता तृष्णा-दास।
विश्व बने तृण तुल्य यदि, काटे आशा-पाश[४] ॥५॥

क्या न अकिंचन-जन बना, तीन लोक का नाथ।
आगम-ज्ञाता समझते योगि-गम्य यह बात ॥६॥

जिसके पर की है स्पृहा, वह कब होता तृप्त।
नि स्पृह जो रहता सदा, वह साधक सतृप्त ॥७॥

भव-भव मे करता भ्रमण, जो आशा का दास।
नि स्पृह श्री भरतेश ने, किया मुक्ति मे वास ॥८॥

पर की इच्छा दु ख है, नि.स्पृहता सुख-खान[५]।
"मुनि गणेश" करता सदा, सतोषामृत—पान ॥९॥

---

१ स्वभावलाभात् किमपि, प्राप्तव्य नावशिष्यते।
इत्यात्मैश्वर्यसपन्नो, नि स्पृहो जायते मुनि ॥१॥ —ज्ञानसागर

२ अद्यापि दुर्निवार, स्तुतिकन्या भजति कौमारम्।
सद्भ्यो न रोचते साऽसन्तोऽप्यस्यै न रोचन्ते ॥१३३॥ सुभाषित०

३ भू शय्या भैक्षमसन जीर्ण वासो वन गृहम्।
तथापि नि स्पृहस्याहो चक्रिणो प्यधिक सुखम् ॥६॥

४ तृण ब्रह्मविद स्वर्ग-स्तृण शूरस्य जीवितम्।
जिताक्षस्य तृण नारी, नि स्पृहस्य तृण जगत् ॥

५ पर-स्पृहा महादु ख, नि स्पृहत्व महासुखम्।
एतदुक्त समासेन, लक्षण सुख-दु खयो ॥

३१ : स्थिरता

इष्ट अनिष्ट पदार्थ पर, करे न राग, न द्वेष[1]।
अपने आत्म-स्वरूप मे, स्थिरता तदा विशेष ॥१॥

ज्ञानी आत्म-स्वरूप का, दर्शन करे नितान्त।
पर के दर्शन से रहे, चित्त सदा विभ्रान्त ॥२॥

स्थिर रहता निज-रूप मे, वही वस्तुत स्वस्थ।
विषयो में आसक्त नर, रहता नित अस्वस्थ[2] ॥३॥

सत्-साधक योगी करे, ऐसा दृढ़ अभ्यास।
स्थैर्य रहे चिद्-रूप मे, यह आगम निर्यास ॥४॥

सिद्ध-क्षेत्र मे सिद्ध ज्यो, निश्चल चित्त नितान्त।
चित्-स्वरूप के ध्यान मे, मग्न रहे मुनि शान्त ॥५॥

रागादिक कल्लोल से, लोल न मन-पानीय[3]।
आत्मा का दर्शन तभी, होता है कमनीय ॥६॥

घोर-आपदा मे सदा, धारण करके धैर्य।
चिन्तक आत्म स्वरूप का, तजता कभी न स्थैर्य ॥७॥

मन की स्थिरता से मिले, साध्य-सिद्धि का तीर।
रूपसियो के रूप मे, विचलित हुए न वीर ॥८॥

"मुनि गणेश" चिद्-रूप मे, नही किया स्थिर-स्वान्त।
परिभ्रमण करता अत, मानव-मन विभ्रान्त ॥९॥

---

१ जस्सिमे सद्दा य, रूवा य, गधा य, फासा य, अभिसमन्नागया भवति।
से आयव, णाणव, वेयव, धम्मव, बम्भव। —आचा० ३। १। ४
—जो आत्मा मनोज्ञ एव अमनोज्ञ शब्द रूप, गध, रस और स्पर्शों मे राग-द्वेष नही करता, वही आत्मा ज्ञान, वेद, (आचारादि आगम) धर्म और ब्रह्म को जानने वाला है।

२ प्रच्याव्य विषयेभ्योऽह, मा मयैवमयि स्थितम्।
बोधात्मान प्रपन्नोऽस्मि, परमानन्द-निर्वृतिम् ॥-समाधिशतक ३२

३ रागद्वेषादि कल्लोलैरलोल यन्मनोजलम्
स पश्यत्यात्मनस्तत्व सतत्व नेतरो जन ॥-समाधिशतक ३५

३२ : मोह-त्याग

ग्राहक जो पर-द्रव्य का, पर मे लुब्ध महान्।
निगड़ित ममता निगड से, मर्कट-मुष्टि समान ॥१॥
ये मेरे ये अन्य के, जड, चैतन्य पदार्थ।
है विचार ये मोहमय, कहते संत यथार्थ ॥२॥
मेरा तन, मैं देह हूँ, मेरा है परिवार।
मैं स्वामी सपत्ति का, है यह मोह-प्रसार ॥३॥
करता है पर का स्मरण, मोह-मुग्ध अनजान।
सहजानन्द-स्वरूप का, भूल रहा वह भान ॥४॥
रमण करे पर-द्रव्य मे, पर मे मोह महान्।
भूला आत्म-स्वरूप को, कैसे हो कल्याण[3] ॥५॥
अनिष्ट आत्मा का करे, महाशत्रु यह मोह।
ज्ञानी जीते ज्ञान से, पाते सुख-सदोह ॥६॥
पर-रक्षा मे लीन नित, अज्ञानी आसक्त।
तन पर भी ममता कहाँ, ज्ञानी संत विरक्त ॥७॥
होता साधक के लिये, बाधक मोह महान्।
गौतम स्वामी को अत., मिला न केवलज्ञान ॥८॥
आत्म-ध्यान से अन्य है, मोह-जन्य सब काम।
'मुनि गणेश' उनको तजे, पाता वह आराम ॥९॥

---

१ ममत्त छिंदई ताहे, महानागोव्व कंचुय। —उत्त० १९।८६
—आत्म साधक ममत्व के बंधन को तोड़ फैंके—जैसे कि सर्प शरीर पर आई हुई काचुली को उतार फैंकता है।

२ [क] मातृपितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च।
तवानन्तानि यातानि कस्य ते कस्य वा भवान् ॥—सुभाषित०
[ख] लब्धास्त्यक्ताश्च ससारे यावन्तो बान्धवास्त्वया।
न सन्ति खलु तावन्त्यो गगायामपि वालुका ॥-सुभाषित

३ जेण सिया, तेण नो सिया, इणमेव नावबुज्झति जे जणा मोहपाउडा।
—आचा० लोकविजय २।८८, ८९
—जिससे-जिस धनादि मे-तुम्हारी इन्द्रियो को सुखानुभव होता है उससे तुम्हारी आत्मा को सुख नही होता। जो मोहग्रस्त हैं वे इस तत्व को नही समझते।

३३ : ममता

टिक पाता वैराग्य क्या ? यदि ममता का वास[१]।
पाप-भीरु नर जगत से, रहता नित्य उदास ॥१॥
क्या हो विषय- विरक्ति से, यदि जागृत ममकार[२]।
केवल कञ्चुक-त्याग से, हो न भुजग अविकार ॥२॥
धैर्य, शौर्य, निर्लोभ शम, भव-वैराग्य विशाल।
इनको ममता राक्षसी, खा जाती तत्काल ॥३॥
ज्यो वट के लघु बीज से, होता वृक्ष विशाल।
त्यो ममता के बीज से, भव-सतति विकराल ॥४॥
कभी न सद् को देखता, जो मानव जन्मान्ध।
चित्र ! असद् को देखता, जो ममता मे अन्ध ॥५॥
पर-विषयक ममकार का, त्याग बहुत आसान।
किन्तु मोह निज नाम का, तजना कठिन महान् ॥६॥
कृत्रिम-सुख, सुख मानता, मानव ममता-लीन।
रत्न समझता कांच को, बालक बुद्धि-विहीन ॥७॥
तेरा कोई है नही, मत करना ममकार।
कहा भर्तृहरि ने अत, धिक्-धिक् यह ससार ॥८॥
रे नर तज, ममकार को, यदि न सके तू त्याग[३]।
तो 'गणेश' ममकार वह, हो सब मे समभाग ॥९॥

---

१ [क] ममत्तभाव न कहिं चि कुज्जा (कभी भी ममत्व भाव नही करना चाहिए।)
—द० चू० २८

[ख] न च ममायेथ किञ्चि लोकस्मि (ससार मे किसी भी वस्तु पर ममता न करो।)
—सू० नि० ५२।८

[ग] सन्निधि परिवज्जये (संग्रह मत करो) —थे० गा० २०१

[घ] मा गृध कस्यस्विद् धनम् —ईशा० १ (किसी के धन पर मत ललचाओ।)

२—जे ममाइयमइ जहाई, से जहाई ममाइय। —आचा० २।६।१५६
से हु दिट्ठपहे मुणी, जस्स नत्थि ममाइय। —आचा० २।६।१५७
—जो ममत्वबुद्धि का परित्याग करता है, वही वस्तुत ममत्व-परिग्रह का त्याग कर सकता है। वही मुनि-वास्तव में पथ (मोक्षमार्ग) का द्रष्टा है। जो किसी भी प्रकार का ममत्व भाव नही रखता।

३—त्यक्तव्यो-ममकारस्त्यक्तु यदि शक्यते नासौ।
कर्त्तव्यो ममकार किन्तु स सर्वत्र कर्त्तव्य ॥

३४ : सहज-सुख

इन्द्रिय-सुख है क्षणिकसुख, मिथ्या स्वप्न-समान[1]।
सच्चा सुख है सहज-सुख, अविनाशी असमान ॥१॥
जिस सुख के पीछे हुआ, पागल सव ससार।
आखिर निकला दुःख वह, धोखा हुआ अपार ॥२॥
विपयज-सुख सुख मानता, मोह-मुग्ध अज्ञान।
जल-गत विधु-प्रतिविम्व को, कहता विधु अनजान ॥३॥
जैसे जल शीतल सहज, पावक उष्ण-स्वभाव।
वैसे सुख भी जीव का, है सहयोगी भाव ॥४॥
जल-पावक मे व्याप्त ज्यो, शीतलत्व, उष्णत्व।
आत्मा मे सुख सहज त्यो, समझ गूढ यह तत्त्व ॥५॥
यदि प्रकाशमय दृष्टि है, दीपक का क्या काम।
आत्मा सुखमय है स्वय, वाह्य सौख्य वेकाम[2] ॥६॥
भीतर सुख-सागर भरा, वाहर खोजे मूढ।
कस्तूरी वन मे कहा, हरिण न समझे गूढ ॥७॥
सहज सुखो की भावना, तो कृत्रिम सुख छोड।
दो चीटी का है यहाँ, उदाहरण वे-जोड ॥८॥
निश्चल, निज-वश, निरुज नित निरुपद्रव, निर्दोष।
निर्भय, निरुपम, सहज-सौख्य '**मुनि गणेश**' का घोप ॥९॥

---

१ सपर वाधासहिय, विच्छिण्ण वधकारण विसम।
ज इन्दियेहिं लद्ध, त सोक्ख दुक्खमेव तह ॥ —प्रवचन० १।७
—जो सुख इन्द्रियो से प्राप्त होता है, वह पराश्रित, वाधा सहित, विच्छिन्न, वंध का कारण तथा विपम होने से वस्तुत सुख नही, दुःख ही है।

२ तिमिरहरा जई दिट्ठी, जणस्स दीवेण णत्थि कायव्व।
तह सोक्ख सयमादा, विपया किं तत्थ कुव्वति ? —प्र० २।६७
—जिसकी दृष्टि ही स्वय अन्धकार का नाश करने वाली है उसे दीपक क्या प्रकाश देगा। इसी प्रकार जव आत्मा स्वयं सुख-रूप है तो उसे विपय क्या सुख देंगे ?

३५ : विषय-सुख

परगत, परवश, कष्टकर, सभय, सरोग, सदोप ।
विपयज-सुख सुख है नही, सुख-आत्मिक निर्दोष ॥१॥
पराधीन है विपय-सुख, सुख आत्मिक स्वाधीन ।
आत्म-लीन सुख देखता, दुख विपयो मे लीन ॥२॥
केवल रुचिकर आदि मे, भौतिक सुख-दुख-खान ।
पर, कटुतम फल-काल मे, है किम्पाक समान[1] ॥३॥
चर्वण करके अस्थि का, क्या रस पाता श्वान ।
भौतिक सुख को भोग कर पछताता अनजान ॥४॥
ज्यो कदली के स्तम्भ मे, मिले न कुछ भी सार ।
त्यो भोगो मे क्या मिले, वे तो हैं निस्सार[2] ॥५॥
मरता है विष-पान से, इस भव मे ही व्यक्ति ।
पर अनन्त दुख भोगता, जिसके विषयासक्ति ॥६॥
जल के भ्रम से भटकता, वन मे चारो ओर ।
मरु मे जल कैसे मिले, पाता मृग दु ख-छोर ॥७॥
विषयो मे आसक्ति है, घोर दु ख की खान ।
सुकुमाला-जितशत्रु का, शिक्षाप्रद आख्यान ॥८॥
सुख के भ्रम से भटकता, विषयो मे दिन-रात ।
"**मुनि गणेश**" सुख है कहाँ, जो दुखमय साक्षात् ॥९॥

---

१ [क] जहा किंपाग-फलाण, परिणामो ण सुन्दरो ।
एव भुत्ताण भोगाण, परिणामो ण सुन्दरो ॥ —उत्त० सू० १६।१७
—जिस प्रकार किंपाकफल खाने मे मधुर लगता है, किन्तु अन्त मे प्राणो का नाश कर देता है। उसी प्रकार काम-भोगो की आदि सुन्दर होती है पर उनका अन्त बडा असुन्दर-अभद्र होता है ।
[ख] विपयेन्द्रियसयोगाद् यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ॥—गीता १८।३८
—विपय और इन्द्रियो का सयोग, जो आदि मे अमृत जैसा लगता है, परिणाम मे विष तुल्य होता है। इसे राजस्—रजोगुण प्रसूत सुख कहा गया है ।
२—सुट्ठु वि मग्गिज्जतो, कत्थ वि केलीइ नत्थि जह सारो ।
इन्दिय—विसयेसु तहा, नत्थि सुह सुट्ठ. वि गविट्ठ ॥ —भ० प्र० १०४

३६ : विषय-विरसता

विषयो के उपभोग से, वढता तृष्णा-पूर ।
खारे जल के पान से, प्यास न होती दूर ॥१॥
दुख पाकर भी भोग मे, समझे सुख अनजान ।
चख कर अपना ही रुधिर, मुदित अस्थि-भुक् श्वान[1] ॥२॥
हाय ! सहज सुख त्यागकर, विषयो से अनुराग ।
पद्माकर को छोडकर, घट-जल पीता काग ॥३॥
भोग काल मे मनुज को, मीठे लगते भोग ।
है कटुतम फल-काल मे, ज्यो किम्पाक-प्रयोग[2] ॥४॥
दुख-मय भोगो से मिले, कैसे सुख-सयोग ।
खुजलाने से खाज का, वढता जाता रोग ॥५॥
विषयो का सेवन किया, जाने कितनी वार[3] ।
किन्तु न तृप्त हुआ कभी, जल से पारावार ॥६॥
लगते विषय सुहावने, करता उनसे मेल ।
किन्तु न रह पाता कुशल, वालक अहि से खेल ॥७॥
विषयो मे आसक्त नर, पाता दुख अपार ।
पुरुषोत्तम रथनेमि सम, अपने मन को मार ॥८॥
सहज अतीन्द्रिय-सौख्य का, जव तक लिया न स्वाद ।
"मुनि गणेश" तव तक विषय, —सुख आते है याद ॥९॥

---

१ [क] कामा दुरतिक्कमा—आ०सू० २, ५, २१

—काम दुरति क्रम है। अथवा कामनाओ की पूर्ति होना कठिन है।

[ख] अणेग-चित्ते खलु अय पुरिसे, से केयण अरिहए पूर इत्तए।

—आचा० ३।३।४२

—जो इस चित्त की कामनाओ को पूर्ण करने की इच्छा करता है वह चलनी को जलने से भरना चाहता है।

२ किं किंपाकफलेष्विवान्तविरसेष्वेतेषु धत्से रतिम् ? (सवेगद्रुम कदली)

३ [क] न जातु काम कामानामुपभोगेन शाम्यति।

[ख] पाताल इव दुष्पूर । —म०भा० शान्तिपर्व १७७,३६

[ग] आवृत ज्ञानमेतेन, ज्ञानिनो नित्य-वैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय ! दुष्पूरेणानलेन च ॥—गीता ३।३६

—अर्जुन यह कभी सन्तुष्ट न होने वाला काम रूपी अनल (अग्नि) ज्ञानियो का सदा शत्रु है। इसी से ज्ञान (विवेक) ढका हुआ है।

३७ : भोग-विरति

काम-भोग की कामना, क्यो करता है मूढ ।
शील शान्ति का द्वार है, समझ तत्त्व यह गूढ़[1] ॥१॥
भोग, रोग का मूल है, फिर क्यो भोगे भोग ।
सुखप्रद, अभय विराग है, जो है सदा निरोग ॥२॥
वाह्य पदार्थो पर करे, जो न कभी अनुराग ।
है सच्चा वैराग्य वह, जन्म-लता हित आग ॥३॥
मिट जाता है त्याग से, वाह्य वस्तु पर राग ।
मन विचलित होता नही, पाता शान्ति पराग ॥४॥
विना इष्ट संयोग के, प्राप्त न होते भोग ।
भोगी है परतन्त्र यो, मिटे न मन का रोग ॥५॥
विपय-सौख्य तिल-तुल्य है, गिरि-सम दुख महान् ।
कोटि-भवो तक भी कहाँ, उनका फिर अवसान ॥६॥
भोगो मे रति दुख है, भोग-विरति सुख-खान ।
तजे भोग की भावना, सुख-इच्छुक विद्वान्[2] ॥७॥
भोगो मे आसक्त नर, पाता कष्ट अपार ।
मणिरथ नृप ने खो दिया, उत्तम नर अवतार ॥८॥
इन्द्रिय सुख से राग का, होता है उद्भाव ।
"**मुनि गणेश**" वन्धन यही, त्याग विषय-सुख-भाव ॥९॥

---

१ [क] तवेसु वा उत्तम बभचेर (ब्रह्मचर्य, तपो से सर्वोत्तम तप है)।
—सू०कृ० १, ६, २३

[ख] सील आभरण सेट्ठ । सील गन्धो अणुत्तरो । सील पाथेयमुत्तम ।
—शील सर्वश्रेष्ठ आभूषण हैं, सर्वोत्तम सौरभ हैं और उत्तम पाथेय है ।
—थेरगा० ६१७, १८, १६

[ग] ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत ।—अ०वे० ११-५-१६
—ब्रह्मचर्य रूप तप से देवताओं ने मृत्यु को जीता ।

[घ] शील सर्वत्र वै धनम् (शील सब जगह सर्वोत्तम धन है ।)—वैदिक

२ कामी कामे न कामए, लद्धे वावि अलद्ध कण्हुई । सूत्र० १।२।३।६
—साधक सुखाभिलाषी होकर काम-भोगो की कामना न करें, प्राप्त भोगो को भी अप्राप्त जैसा कर दे अर्थात् उपलब्ध भोगो के प्रति भी निःस्पृह रहे ।

३८ : उद्बोधन

प्रतिक्षण वीता जा रहा, यौवन, आयु अमोल ।
क्यो प्रमाद फिर कर रहा, सुन सद्गुरु के बोल[1] ॥१॥
पीले पत्ते पेड के, झड पडते तत्काल ।
रे मानव ! इस देह का, है ऐसा ही हाल ॥२॥
पुनरपि आती है नही, जो बीती है रात ।
निष्फल क्यो खोता समय, करो धर्म अवदात ॥३॥
जानो पहले ज्ञान से, क्या है बन्धन गूढ ।
फिर तोडो निज शक्ति से, बन समदृष्टि अमूढ़[2] ॥४॥
चाहे कोई रुष्ट हो, चाहे कोई तुष्ट ।
क्या बाधा है धर्म मे, यदि हो आत्मा पुष्ट[3] ॥५॥
अपने पर शासन करो, है यह सच्चा योग ।
अनुपम मानव भव मिला, नदी नाव सयोग ॥६॥
मिलते पण्डित ग्रन्थ के, जग मे आज अनेक ।
पर पण्डित आचार का, विरला कोई एक[4] ॥७॥
क्षणभगुर सुख के लिए, सुख अनन्त मत छोड़ ।
चौथी रानी को मिला, सब वैभव बेजोड़ ॥८॥
वन मे रहने मात्र से, (यदि) बनते सन्त महन्त ।
"**मुनि गणेश**" फिर क्यो नही, होते पशु भी सन्त[5] ॥९॥

---

१ वओ अच्चेति जोव्वण च । —आचाराग १।२।१
—आयु और यौवन प्रतिक्षण बीता जा रहा है ।

२ बुज्झिज्जति तिउट्टिज्जा, बधण परिजाणिया—सूत्रकृताग १।१।१।१
—सर्वप्रथम बधन को समझो और समझकर फिर उसे तोडो ।

३ धम्मा-धम्मा न परप्पसाय कोपाणुवत्तिओ जम्हा । —विशेषा०भा० ३२५४
—धर्म और अधर्म का आधार आत्मा की अपनी परिणति ही है । दूसरो की प्रसन्नता और नाराजगी पर उसकी व्यवस्था नही है ।

४ कोऽयि केवलमेव गथ मेहावी भवति, ण तु जहा तह पडितो—आचा०चू० १।५।३
—कुछ लोग केवल ग्रथ के पडित (शब्द पडित) होते हैं । 'यथार्थ पडित (भाव पडित) नहीं होते ।

५ जई वणवासमित्तेण नाणी जाव तवस्सी भवति, तेण सीहवग्घादयो वि ।
—आचा० चू० १।७।१
—यदि कोई वन मे रहने मात्र से ही ज्ञानी और तपस्वी हो जाता है तो फिर सिह बाघ आदि भी ज्ञानी तपस्वी हो सकते हैं ।

३९ : तात्त्विक-दृष्टि

अन्तर-द्रष्टा पुरुष की, तात्त्विक दृष्टि नितान्त ।
समझे सहजानन्दमय, आत्म-रूप अभ्रान्त ॥१॥
बाह्य-रूप मे मुग्ध नित, बाह्य दृष्टि दिग्भ्रान्त ।
बाह्य विश्व मे कर रहा, भ्रमण चित्त विभ्रान्त[1] ॥२॥
दर्शन तात्त्विक दृष्टि से, देहादिक का यत्र ।
अकुर अभय-विराग का, विकसित होता तत्र ॥३॥
तन, धन, स्त्री, परिजन, सदन, यान, ग्राम, आराम ।
बाह्य दृष्टि नर के लिए, बन्धन-हेतु प्रकाम ॥४॥
अन्तर अवलोकन विना, भाता नारी-रूप ।
हो जाता आसक्त नर, पाता दुर्गति-कूप ॥५॥
घृणित मूत्र-मल से भरा, चर्मावृत यह गात्र ।
अन्तर-दृग् नर जानता, उग्र जहर का पात्र ॥६॥
भस्म, केश, लुचन, जटा, मलिन-वस्त्र अस्नान ।
केवल बाह्य-स्वरूप मे, बाह्य-दृष्टि का ध्यान[2] ॥७॥
अन्तर-दृष्टि विना कभी, हो न हिताहित ज्ञान ।
उदाहरण है ऊँट का, निःसन्देह प्रमाण ॥८॥
निर्विकार निर्मल-हृदय, निर्ममत्व सद्ध्यान ।
तत्त्व-दृष्टि से सन्त की, यह "गणेश" पहचान ॥९॥

---

१ तुल्ले वि इंदियत्थे, एगो सज्जइ विरज्जई एगो ।
अज्झत्थ तु पमाण न इंदियत्था जिणा विंति ॥—व्यव० भा० ३।४५
—इन्द्रियो के विषय समान होते हुए भी एक उनमे आसक्त होता है और दूसरा विरक्त । जिनेश्वर देव ने बताया है कि इस सम्बन्ध मे व्यक्ति का अन्तर हृदय ही प्रमाणभूत है, इन्द्रियो के विषय नही ।

२ न लिङ्ग धर्मकारणम् ॥ —मनुस्मृति ६।६६
—विभिन्न प्रकार की साम्प्रदायिक वेश-भूषा धर्म का हेतु नही है ।

३ खतोअ मद्दवदज्जव विमुत्तया यह अदीणय तितिक्खा ।
आवस्सगपरिसुद्धि अ होंति भिक्खुस्स लिंगाई ॥ —दशवै० नि० ३४९
—क्षमा, विनम्रता, सरलता, निर्लोभता, अदीनता, तितिक्षा और आवश्यक क्रियाओ की परिशुद्धि—ये सब भिक्षु के वास्तविक चिन्ह है ।

४० : धार्मिक

वैर न वैरी से रखे, नही स्व-जन से राग[1]।
समता मे रमता रहे, धार्मिक-नर सद्भाग ॥१॥

भीति सदा है पाप से, नीति नितान्त विशुद्ध।
प्रीति नही अन्याय से, वह नर धार्मिक शुद्ध ॥२॥

प्राण-विघातक शत्रु को, माने मित्र समान।
समता से संकट सहे, वह धार्मिक अम्लान ॥३॥

प्रमुदित-मन, पर-गुण सुने; देखे पर उत्कर्ष।
बोले हित, मित, सत्य नित्य, धार्मिक नर आदर्श ॥४॥

मित्र-दृष्टि से देखता, सब जग को दिनरात।
निर्भय रहता वह सदा, पाता सुख साक्षात् ॥५॥

सपद् और विपत्ति मे, धार्मिक एक स्वभाव।
पावक से सतप्त गुड, फिर भी मधुर प्रभाव ॥६॥

धार्मिक धार्मिकता रखे, भले नीच दे कष्ट।
अनल-तप्त सुवर्ण का, होता रूप न भ्रष्ट ॥७॥

होता धर्म-प्रसाद से, सब विघ्नो का नाश।
अरणक दृढ-धर्मी रहा, झुका यक्ष सोल्लास ॥८॥

अपने अवगुण देखता, वह धार्मिक पहचान।
"मुनि गणेश" पर-दोष की, और न देता ध्यान ॥९॥

---

१ (क) वेर मज्झ न केणई। —आ० सू० ३०, ३
—मेरा किसी से वैर नही है।
(ख) न चेम देहमाश्रित्य वैर कुर्वति केनचित्। —म० स्मृ० ६, ४७
—इस नश्वर शरीर के लिए किसी के साथ वैर मत करो।

२ (क) मेरुव्व वाएण अकपमाणो। —उत्त० सू० २२, २६
—वायु से नही हिलने वाले मेरु पर्वत की तरह धीर पुरुष कष्टो से विचलित नही होते।
(ख) चइज्ज देह नउ धम्म सासण। —द० चूलिका १, १७
—देह भले ही चली जाये पर धर्म-शासन छूटने न पाए।
(ग) रघुकुल रीति सदा चली आई,
प्राण जाए पर वचन न जाई, —रा० च०

४१ : धर्म

आत्मा की शुचि के लिये, धर्म अनन्य उपाय[१]।
करो भव्य आराधना, तजकर चार कषाय ॥१॥
उदासीनता जगत् से, जब हो भोग-विराग।
सम्यग् फलता है तभी, आत्म-धर्म का बाग ॥२॥
समता के सद्भाव मे, होता धर्म-विकास[२]।
मत की ममता से नही, होता सत्य-प्रकाश ॥३॥
व्यभिचारी व्यभिचार से, चोरी से जो चोर।
हिंसा से हिंसक बचे, यही धर्म, तप घोर ॥४॥
हिंसा से होता नही, दया-जन्य जो धर्म।
जलज कमल कैसे बढे, जहाँ अग्नि का कर्म ॥५॥
अविरति का पोषण जहाँ, होता वहाँ न धर्म।
भोग विरति ही धर्म है, ज्ञानी समझे मर्म ॥६॥
जय होती है धर्म की, है यह निश्चित बात,
है ललितागकुमार की, सरस कथा साक्षात् ॥७॥
अधिकारी है धर्म के, प्राणी मात्र समान।
जाति-पाति के भेद को, है न यहाँ पर स्थान ॥८॥
है अबन्धु का बन्धुवर, धर्म त्राण-साकार।
निराधार का है यही, "मुनि गणेश" आधार ॥९॥

---

१ (क) आत्मशुद्धिसाधन धर्मं । —जैन सि० दी० ७।२३
(ख) धम्मं चर (धर्म का अनुसरण करना चाहिए) —उत्त० सू० १८।३
(ग) धम्म चरे (धर्म का आचरण करना चाहिए) —ध० प० १३-३२
(घ) धर्मं चर (धर्म का पालन करो) —तैत्तिरी० १, ११, १
(ङ) ऊर्ध्ववाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति माम् ।
धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मं किं न सेव्यते ।
—म० भा० स्वर्गा० ५।६२
(महर्षि व्यास कहते हैं) मैं हाथ ऊंचा करके कह रहा हूँ, फिर भी मेरी कोई नही सुनता धर्म से ही अर्थ और काम की प्राप्ति होती है, फिर उस धर्म का पालन क्यो नही करते ?

२ धर्म एव हतोहन्ति, धर्मो रक्षति रक्षित । —म० स्मृ० ८, १५

३ अहिंसा-सभवो धर्म स हिंसात कथ भवेत् ।
न तोयजानि पद्मानि, जायन्ते जातवेदस ॥

४२ : दया

करना त्रिकरण-योग से, कभी न प्राणी-घात।
है यह करुणा-भावना, दया-धर्म अवदात[1] ॥१॥
पर-प्राणी के घात को, समझो अपना घात।
है पर-प्राणी की दया, आत्म-दया साक्षात्[2] ॥२॥
वधक बचे वध से यही, दया-धर्म अम्लान।
और वधक वध त्याग कर, करता निज कल्याण ॥३॥
हिंसा होती है जहाँ, वहाँ दया है दूर।
और दया होती वहाँ, जहाँ साम्य भरपूर ॥४॥
सब धर्माङ्कुर पनपते, दया-नदी के तीर।
टिक पाएँगे वे नहीं, सूख गया यदि नीर[3] ॥५॥
दया-भावना के बिना, आत्मा हो न विशुद्ध।
हिंसा-लीन मनुष्य का, रहता चित्त अशुद्ध ॥६॥
है कल्याणकरी दया, दया शान्ति की खान।
दया दुःख विदारिणी, दया धर्म असमान[4] ॥७॥
दुःखित जीवों की दवा, देखे पुरुष महान्।
नेमिनाथ भगवान ने, दिया अभय का दान ॥८॥
'मुनि गणेश' है सिन्धुसम, यह भीषण संसार।
और दया की भावना, है नौका साकार ॥९॥

---

१ सव्वे पाणा ण हंतव्वा एस धम्मे धुवे णिइए सासए। —आचा०
—किसी प्राणी को मत मारो, यह धर्म ध्रुव नित्य शाश्वत है।

२ पुरिसा! तुमंसि नाम सच्चेव, जं हंतव्वं त्ति मन्नसि।
—पुरुष! जिसे तू मारना चाहता है, वह तू ही है।

३ दया-धर्म-नदी-तीरे, सर्वेधर्मास्तृणाङ्कुरा।
तस्यां शोपमुपेतायां, कियन्नंदन्ति ते चिरम् ॥

४ कल्लाण-कोडि जणणी दुरंतदुरियारिवग्ग-णिट्ठवणी।
संसार-जलहि-तरणी एकाच्चिय होई जीव दया ॥
—एक ही यह जीव दया करोड कल्याण करने वाली है। दुःख-दरित (पाप) एवं अरि (शत्रु वर्ग को नष्ट करने वाली है। तथा संसार समुद्र को पार करने वाली नौका है।

४३ : दयावान्

दयावान् नर के लिये, साध्य-सिद्धि आसान।
निर्दय नर की साधना, ऊषर वृष्टि समान ॥१॥
दयावान् विन तप किये, पाता स्वर्ग ललाम।
तप-तप कर भी देखता, निर्दय दुर्गति-धाम ॥२॥
करते दीन-दयालु का, वैरी भी विश्वास।
निर्दय नर से मित्र भी, पाते है सत्रास ॥३॥
सदय हृदय नर पर कभी, टिके न दोपारोप।
तक्र-सिक्त भू-भाग पर, हरियाली का लोप ॥४॥
दयावान् नर से नही, हो सकता है पाप।
रहता है वह सव जगह, धर्मनिष्ठ निष्पाप[1] ॥५॥
जिसके दिल मे है दया, वह मानव है भव्य[2]।
पाप-परायण निर्दयी, श्रद्धा-हीन अभव्य[3] ॥६॥
दयावान् देता नही, वैरी को भी कष्ट।
सह लेता है वह स्वय, भीषण सकट स्पष्ट ॥७॥
दया विना मानव वने, दानव से भी क्रूर।
अपने सुत को सेठ ने, दिये कष्ट भरपूर ॥८॥
दयावान् नर के लिये, प्राणी मात्र समान।
"मुनि गणेश" वह सोचता, सव का हो कल्याण[4] ॥९॥

---

१ सीह जहा खुड्डमिगा चरता, दूरे चरती परिसकमाणा।
एव तु मेहावि समिक्ख धम्म, दूरेण पाव परिवज्जएज्जा ॥ —सूत्र १।१०।२०
—जिस प्रकार मृग शावक सिंह से डरकर दूर-दूर रहते है उसी प्रकार बुद्धिमान धर्म को जानकर पाप से दूर रहे।

२ शम-सवेग-निर्वेदानुकम्पाऽऽस्तिक्यानि तल्लक्षणम् —जै० सि० दी० ५
—सम्यक्त्व के पाँच लक्षण होते है—शम, सवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य।

३ पाणवहो चडोरुद्दो, खुद्दो अणारियो निग्घिणो, निससो, महब्भयो
—प्राणवध (हिसा) चण्ड है, रुद्र है, क्षुद्र है, अनार्य है, करुणारहित है, क्रूर है और महाभयकर है। —प्रश्न व्याकरण २।२

४ सर्वे भवन्तु सुखिन सर्वे सन्तु निरामया।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दु खभाग भवेत् ॥

४४ : अहिंसा

सकल विश्व क्षेमकरी, अभयकरी उदार ।
भव्य अहिंसा भगवती, एक सबल आधार[१] ॥१॥
आत्म-तुल्य सब जीव है, दे न किसी को कष्ट ।
सब के प्रति सद्भावना, यही अहिंसा स्पष्ट[२] ॥२॥
सदा अहिंसा के लिए, प्राणी मात्र समान ।
करे किसी भी जीव की, हिंसा का न विधान ॥३॥
हिंसक हिंसा से बचे, यही अहिंसा सार ।
यदि हिंसक हिंसक रहे, यह हिंसा साकार ॥४॥
वध्य-वधक पर हो जहाँ, समता का व्यवहार ।
सुखद अहिंसा का वहाँ, फलता है सहकार ॥५॥
पर की हिंसा वस्तुत., निज हिंसा पहचान ।
पर-हिंसा का त्याग है, अपना ही उत्थान[३] ॥६॥
है न अहिंसा भाव से, जहाँ प्रमादाचार ।
वध न भले हो जीव का, है हिंसा साकार[४] ॥७॥
अहो ! अहिंसा से मिटे, जन्म-जात भी वैर ।
देख सुदर्शन को हुआ, यक्ष शान्त निर्वैर ॥८॥
आत्मा की सद्वृत्ति है, भाव अहिंसा सार ।
"मुनि गणेश" है तत्त्वत., हिंसा दुर्व्यवहार ॥९॥

---

१ अहिंसा तस-थावर सव्वभूयखेमकरी —प्रश्न व्याकरण २।१
—अहिंसा, त्रस और स्थावर (चर-अचर) सब प्राणियो का कुशलक्षेम करने वाली है ।

२ अत्त-समे मन्नेज्ज छप्पिकाए —दश० १०।५
—छहो कायो के जीवो को अपने समान समझो ।

३ जीववहो अप्पवहो, जीवदया अप्पणो दया होई —भक्त० ९३
—किसी भी अन्य प्राणी की हत्या वस्तुत अपनी हत्या है । और अन्य जीव की दया अपनी ही दया है ।

४ आहच्च हिंसा समितस्स जातु, सा दव्वतो होत्ति ण भावतो उ ।
भावेण हिंसा तु असजतस्स जेवा वि सत्ते ण सदा वधेति ॥ —बृह० भा० ३९३३
—सयमी साधक के द्वारा कभी हिंसा हो भी जाये तो वह द्रव्य हिंसा होती है । भाव हिंसा नही । किन्तु जो असयमी है वह जीवन मे कभी किसी का वध न करने पर भी भावरूप से सतत हिंसा करता रहता है ।

४५ : सत्य

सत्य सहज है मरल है, सत्य सिद्धि-सोपान[१] ।
सत्य सार है लोक मे, सत्य स्वय भगवान् ॥१॥
सत्य तुल्य तप है नही, सत्य श्रेष्ठ शृ गार ।
सत्य अभय का मार्ग है, सत्य मवल आधार ॥२॥
नही साँच को आँच है, मत होना भयभीत ।
धीरज रखना कष्ट मे, होगी तेरी जीत[२] ॥३॥
सत्य विना ससार से, पनपे पापाचार ।
सूर्य विना ज्यो रात मे, तम का प्रवल प्रसार ॥४॥
सव व्यसनो का एक है, सत्य सफल उपचार[३] ।
पापी भी पावन वने, सत्य धर्म आधार ॥५॥
जप-तप संयम-साधना, ध्यान विनय व्यवहार ।
सत्य विना सव व्यर्थ हैं, शील विना शृ गार ॥६॥
सव धर्मो का साध्य है, एक सत्य अविकार ।
सम्यग्दर्शन के विना, कव हो साक्षात्कार ॥७॥
विचलित होता सत्य से, मानव मोह-प्रभाव ।
वसु राजा ने खो दिया, अपना सत्य स्वभाव ॥८॥
झूठ हलाहल जहर है, सत्य सुधा की धार[४] ।
"**मुनि गणेश**" है सत्य की, महिमा अपरम्पार ॥९॥

---

१ (क) त सच्च खु भगव (सत्य ही भगवान है) —प्रश्न व्या० २-२
(ख) सच्च वे अमतावाचा (सत्य ही अमृत वचन है) —सु० नि० २६-२४
(ग) सत्यमेवेश्वरो लोके (सत्य ही ससार मे ईश्वर है)
— वा० रा० ११०-१३
(घ) नास्ति सत्यात्परो धर्म (सत्य से बढकर कोई धर्म नही है)
—म० भा० शा० प० २६१-२४
(ङ) सत्य ही राम है, नारायण है, ईश्वर है, खुदा है, अल्लाह है ।
—गांधी जी
(आ० वि० भाग-२ आ० वि०)
२ सत्यमेव जयते नानृतम् (सत्य की विजय होती है, असत्य की नही)
३ सच्च लोगम्मि सार भूय (सत्य ही ससार मे सारभूत है) —प्रश्न व्या० २-१
४ सच्च हवे सादुतर रसान (सव रसो मे सत्य का रस ही स्वादुतर है । विशेष श्रेष्ठ है) —सु० नि० १-१०-२

४६ : अचौर्य

जो मानव करता ग्रहण, व्रत अचौर्य असमान।
वह वनता विश्वास का, भाजन, सुखी महान् ॥१॥
तप का, वय का, रूप का, और भाव का चोर।
होता है वह किल्विपी, करके कर्म कठोर[1] ॥२॥
जो पर के उपकार का, करता है अपलाप।
लगा रहा वह क्या नही, स्तेय पाप की छाप ॥३॥
विषयो मे रहता सदा, जो मानव आसक्त।
करता पर-धन का हरण, खोता नर-भव व्यक्त ॥४॥
औरो के अधिकार का, जो करता अपहार।
वह चोरी के पाप का, वाँध रहा है भार ॥५॥
विना दिये पर वस्तु को, लेना चोरी पाप।
तृण भी अदत्त ले नही, मुनि की जग मे छाप[2] ॥६॥
चोरी के धन से नही, मिल सकता आराम।
क्यो अनीति से कर रहा, धन-अर्जन अविराम ॥७॥
करता त्रिकरण योग से, जो चोरी का त्याग।
प्रभव चोर की भाँति वह, पाता शान्ति पराग ॥८॥
अपने हक के लाभ मे, जो रहता सतुष्ट।
"मुनि गणेश" अस्तेय व्रत, रहता उसका पुष्ट ॥९॥

---

१ तववेणे वयतेणे रूवतेणे य जे नरे।
आयारभावतेणे य कुव्वइ देवकिव्विस—दशवै० ५-२-४६
—जो मनुष्य तप का चोर, वाणी का चोर, रूप का चोर, आचार का चोर और भाव का चोर होता वह किल्विपक देव-योग्य-कर्म करता है।

२ सव्व अदिन्न परिवज्जयेय—सु०नि० २६-२०
—सव प्रकार की चोरी का सर्वथा परित्याग करे।

३ [क] सएण लाभेण तुस्सई परस्स लाभे णो आसाएइ दोच्चा सुहसेज्जा।
—स्था० ४।३
—जो अपने प्राप्त हुए लाभ मे सन्तुष्ट रहता है और दूसरो के लाभ की इच्छा नही रखता वह सुखपूर्वक सोता है (यह सुख शय्या का दूसरा पहलू है)

[ख] सदृश पश्यति वुधा. परकीय काचन तृण वाऽपि।
सतुष्टा निज वित्ते परताप-विभीरवो नित्यम् ॥६२॥—अमित०श्र०

४७ : ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य है ब्रह्म की, चर्या शुद्ध नितान्त।
विषयो मे होकर विमुख, रखना मन को शान्त[1] ॥१॥
जो मानव को ब्रह्म की, ओर शीघ्र ले जाय।
ब्रह्मचर्य है शान्ति का, उत्तम एक उपाय[2] ॥२॥
ब्रह्मचर्य ही स्नान है, सबसे उत्तम स्नान।
जल से स्नान किये बिना, तनकी शुद्धि[3] महान् ॥३॥
साध लिया जिस व्यक्ति ने, ब्रह्मचर्य व्रत एक।
सध जाते उसके स्वय, गुण विनयादि अनेक ॥४॥
ब्रह्मचर्य की साधना, है खाडे की धार।
भीषण जलनिधि तैरना, भुज-बल के आधार ॥५॥
सकल व्रतो मे कठिन व्रत, ब्रह्मचर्य तप घोर।
इसकी करे उपासना, वह बनता सिर-मौर ॥६॥
ब्रह्मचर्य व्रत के लिये, नव बाडे इक कोट।
जो नर इन्हे न लाँघता, वह रहता निर्खोट ॥७॥
शीलवान के शील से, होता जय-जयकार।
सती सुभद्रा के बिना, खुल न सके पुर-द्वार ॥८॥
दानव, मानव, देवता, सब करते सत्कार।
जो कि ब्रह्मचारी रहे, नित 'गणेश' अविकार ॥९॥

---

१ [क] ब्रह्मचर्य-सत्यतपो भूतदयेन्द्रियनिरोध लक्षणं तच्चर्यते अनुष्ठीयते। यस्मिन् तन्मौनीन्द्र प्रवचन ब्रह्मचर्यमित्युच्यते—सूत्र० २।५।१ टीका
—जिसमे सत्य, तप, भूत-दया एवं इन्द्रिय-निरोध ब्रह्म की चर्या—अनुष्ठान हो उस मौनीन्द्र-प्रवचन-जिन-प्रवचन को ब्रह्मचर्य कहते हैं।
[ख] या ब्रह्मणि स्वात्मनि शुद्धबुद्धे, चर्या पर द्रव्यमुच. प्रवृत्ति।
तद् ब्रह्मचर्यव्रतसार्वभौम, ये पान्ति ते यान्ति पर प्रमोदम् ॥
[ग] जीवो बभा जीवम्मि चेव चरिया, हविज्ज जा जदिणो।
त जाण बभचेर, विम्मुक्कपरदेहतित्तिस्स ॥—भग०आ० ८७८

२ जो हमे ब्रह्म की तरफ ले जाये, वह ब्रह्मचर्य है। इसमे जननेन्द्रिय का सयम आ जाता है। वह सयम मन, वाणी और कर्म से होना चाहिए
—ब्रह्मचर्य (इ०भा० ७ पृष्ठ ५२)

३ ब्रह्मचर्यादिभिः काय शुद्धो गगा विनाऽप्यसौ —स्कन्धपुराण

४८ : अपरिग्रह

पर-पदार्थ पर जो रखे, साधक मूर्च्छा-भाव।
है परिग्रह पाप यह, सयम-ईंधन दाव[1] ॥१॥
इच्छाओ की वहुलता, है दुख का आधार।
शीघ्र उन्हें सीमित करे, व्रत अपरिग्रह धार ॥२॥
है न परिग्रह-सम कही, और दूसरा पाश।
लोभी मानव लोक का, वन जाता है दास[2] ॥३॥
ज्ञानी-जन करते नही, पर-पदार्थ पर मोह।
तन पर भी मूर्च्छा नही, रहते नित निर्मोह ॥४॥
सतोषी मुनि है सुखी, जग मे आठो-याम।
लोभी चक्री को कहाँ, जीवन मे आराम[3] ॥५॥
तृष्णा गहरा गर्त्त है, जिसमे जग अणु तुल्य।
इससे रहता दूर वह, पाता शाँति अमूल्य ॥६॥
धन-कुवेर की भी नही, मिटती मन की प्यास।
आग कभी वुझती नही, पाकर इन्धन घास ॥७॥
जव तक नर निन्नानवे, के फेरे से दूर।
तव तक रहता है सुखी, वरना दुख भरपूर ॥८॥
पाता तृष्णा सिंधु का, सतोषी झट थाह।
"मुनि गणेश" उसको मिले, आत्मानन्द अथाह ॥९॥

---

१ (क) न सो परिग्गहो वुत्तो नायपुत्तेण ताईणा।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो इइ वुत्त महेसिणा। —दशवै० ६ २०
—सव जीवो के त्राता महावीर ने वस्त्र आदि को परिग्रह नही कहा है, मूर्च्छा को परिग्रह कहा है—ऐसा महर्षि (गणधर) ने कहा है।
(ख) इच्छानिदानानि परिग्गहानि (परिग्रह का मूल इच्छा है)
—म० नि० १-११-१०७

२ इदमद्य मया लब्धमिमप्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे, भविष्यति पुनर्धनम् ॥ —गी० १६-१३
—आज मुझे यह धन मिला, कल मेरा यह मनोरथ पूरा होगा, आज मेरे पास इतना धन है, वाद मे मेरे पास इतना हो जायेगा।

३ सतोषामृततृप्ताना यत्सुख शान्तचेतसाम्।
कुतस्तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम् ॥ —सुभाषित

४९ : रत्न-त्रय

मिलता रत्न-त्रय विना, कभी न आत्मस्वरूप।
इनकी करो उपासना, तज कर मोह विरूप[1] ॥१॥
निर्मल आत्म-स्वरूप मे, रुचि रखना नि शक।
निश्चयनय अनुसार है, सद्दर्शन अकलक ॥२॥
सद्दर्शन व्यवहार से, यथा-तथ्य श्रद्धान।
आठ अङ्ग सयुक्त जो, आत्मिक-गुण अम्लान ॥३॥
निज आत्मा का ज्ञान है, सचमुच सम्यक् ज्ञान।
कारण है यह मुक्ति का, निश्चय करे प्रमाण ॥४॥
अप्टाङ्गी आचार-युत, तत्त्व-प्रकाशक ज्ञान।
है व्यवहार विचार यह, आराधे मतिमान ॥५॥
सहजानन्द स्वरूप मे, निश्चल स्थिति अत्यन्त।
निश्चय सच्चारित्र यह, करे कर्म का अन्त ॥६॥
पाप-वृत्ति का त्याग है, सच्चारित्र व्यवहार।
मूलोत्तर गुण-युत सदा, आराधे अनगार ॥७॥
दर्शन ज्ञान चरित्र है, ये तीनो ही श्रेय।
नृप के पचम पुत्र का, है उत्तर आदेय ॥८॥
रत्न-त्रय आराध कर, प्राप्त करो निज-रूप।
'मुनि गणेश' नर जन्म का, है यह सफल स्वरूप ॥९॥

१ (क) ससारगड्टपडितो णाणादवलवितु समारुहति।
मोक्खतड जध पुरिसो, वल्लिविताणेण विसमाओ ॥ —नि० भा० ४६५
—जिस प्रकार विपमगर्त मे पडा हुआ व्यक्ति लता आदि को पकडकर ऊपर आता है; उसी प्रकार ससार गर्त मे पडा हुआ व्यक्ति ज्ञान आदि का अवलम्बन लेकर मोक्षरूपी किनारे पर आ जाता है।

(ख) णाण पयासग, सोहओ तवो, सजमो य गुत्तिकरो।
तिण्हपि समाजोगे, मोक्खो जिणसासणे भणिओ ॥ —आव० नि० १०३
—ज्ञान प्रकाश करने वाला है, तप विशुद्धि एव सयम पापो का निरोध करता है। तीनो के समयोग मे ही मोक्ष होता है। यही जिनशासन का कथन है।

(ग) परमार्थतस्तु ज्ञानदर्शनचारित्राणि मोक्ष कारण न लिंगादीनि।
—उत्त० चू० २३
—परमार्थ दृष्टि से ज्ञान-दर्शन और चारित्र ही मोक्ष का मार्ग है, वेप आदि नही।

५० : सम्यग्-ज्ञान

रविमडल के तुल्य है, स्व-पर-प्रकाशक ज्ञान ।
आत्मा का हे सहज गुण, अविनाशी अम्लान ॥१॥
सशयादि दूषण-रहित, जो होता है ज्ञान ।
है वह तार्किक दृष्टि से, सम्यक्-ज्ञान प्रमाण[1] ॥२॥
ज्ञान, जो कि समदृष्टि का, है निज-लीन स्वभाव ।
होता सम्यक्ज्ञान वह, यह आगम के भाव ॥३॥
मिथ्यात्वी का कर्म की, शुद्धि-जन्य जो ज्ञान ।
वह तो भाजन-भेद से, कहलाता अज्ञान[2] ॥४॥
होता ज्ञानावरण से, विलय न अवितथ ज्ञान ।
मोहोदय के योग से, होता मिथ्या ज्ञान ॥५॥
मति, श्रुत ज्ञान परोक्ष हैं, शेष तीन प्रत्यक्ष ।
टिक सकता अज्ञान कब, सम्यग्-ज्ञान समक्ष ॥६॥
आत्म-रूप का ज्ञान है, सबसे उत्तम ज्ञान ।
कर्म-रूप रज के लिये, है प्रचण्ड पवमान ॥७॥
सफल न हो सकती क्रिया, अगर न सम्यग् ज्ञान ।
आग न निकली अरणि से, लकड़हार अनजान ॥८॥
करो ज्ञान आराधना, अष्ट अग सयुक्त ।
"मुनि गणेश" आत्मा बने, सब दुखो से मुक्त ॥९॥

---

१ यथार्थ निर्णायिज्ञान प्रमाणम् —जैन सिद्धान्त दीपिका ६।१
—यथार्थ निर्णायि ज्ञान को प्रमाण कहते हैं (सशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित)

२ (क) सम्मद्दिट्ठिस्स सुय सुयणाणं, मिच्छद्दिट्ठिस्स सुयं सुयअन्नाण —नन्दीसूत्र
—सम्यक् दृष्टि का श्रुतज्ञान है। मिथ्या-दृष्टि का श्रुत अज्ञान है।

(ख) मिथ्यात्वीना ज्ञानावरण क्षयोपशमजन्योऽपि बोधोमिथ्यात्व—सहचरितत्वात् अज्ञान भवति—जैन सिद्धान्त दीपिका—२।२२ वृत्ति

(ग) कुत्सित ज्ञानमज्ञान कुत्सार्थस्य नञोऽन्वयात् ।
कुत्सितत्व तु मिथ्यात्वयोगात् तत् त्रिविध पुन ॥ —द्रव्यलोक प्रकाश ६९

(घ) भाजन लारै जाण रे, ज्ञान अज्ञान कहिजिए ।
समदृष्टि रे ज्ञान रे, अज्ञान अज्ञानी तणो —भग० जोड ८।२।५५

५१ : सम्यग्-दर्शन

सब जग के ऐश्वर्य से, सम्यग्दर्शन सार ।
अनुपम सुख की प्राप्ति का, एक सबल आधार[1] ॥१॥
अर्हत् उत्तम देव है, गुरु निर्ग्रन्थ उदार ।
समतामय जिनधर्म है, सद्दर्शन सुखकार[2] ॥२॥
आत्मा नि सन्देह है, परमात्मा अनुरूप ।
निश्चयनय अनुसार यह, सम्यग् दर्शन—रूप ॥३॥
सद्दर्शन की स्पर्शना, कर लेता जो जीव ।
मुक्ति-महल की डालता, नि सशय वह नीव[3] ॥४॥
आस्था, शम, सवेग, वर, अनुकम्पा, निर्वेद ।
लक्षण ये सम्यक्त्व के, उनसे भव का छेद[4] ॥५॥
नि शङ्कादिक आठ है, दर्शन के आचार ।
सम्यक्त्वी नर के लिए, सेवनीय हर वार[5] ॥६॥
स्थिरता भक्ति प्रभावना, धर्म कुशलता सार ।
सेवा करना तीर्थ की, भूषण पाँच प्रकार[6] ॥७॥
शीघ्र डुवा देती न क्या, शंका-जल की वाढ ।
क्षण मे विचलित हो गये, श्रद्धा से आपाढ ॥८॥
पाँच दोष सम्यक्त्व के, उनका कर परिहार ।
"मुनिगणेश" आराधता, सम्यग्दृष्टि उदार ॥९॥

---

१ सम्मद्दसणलभो वर खु तेल्लोक्कलभादो । —भग० आ० ७४२

२ अरिहन्तो महदेवो जावज्जजीवाय सुसाहुणो गुरुणो ।
जिण पण्णत्त तत्त इअ सम्मत्त मए गहिय ॥ —आवश्यक सूत्र ।

३ अतोमुहुत्तमित्त पि फासिअ हुज्ज जेहिं सम्मत्त ।
तेसि अवड्ढपुग्गलपरिअट्टो चेव समारो — धर्म सगह दूसरा अधिकार श० २१टीका

४ शमसवेगनिर्वेदानुकम्पाऽऽस्तिक्यानितल्लक्षणम् —जैन० सि०-दी० ८।६

५ निस्सकिय निक्कखिय निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य ।
उववूह-थिरीकरणे, वच्छल्ल-पभावणे अट्ठ ॥ —जैन तत्त्वप्रकाश

६ स्थैर्यं प्रभावना भक्ति कौशल जिनशासने ।
तीर्थ-सेवा च पञ्चास्य, भूषणानि प्रचक्षते ॥

५२ : सम्यग्-चारित्र

जग मे काल अनादि से, भटक रहा यह जीव ।
विना चारु चारित्र के, पाता दुःख अतीव[1] ॥१॥
आत्म-रमणता रूप जो, आत्मा के परिणाम ।
है निश्चय चारित्र यह, धर्म शान्ति का धाम ॥२॥
करना सब सावद्य का, तीन योग-युत त्याग ।
है व्यवहार चरित्र यह, कर्म-काष्ठ हित आग[2] ॥३॥
सम्यग् दर्शन ज्ञान का, जब होता है योग ।
उद्‌भव तब चारित्र का, होता मोह-वियोग ॥४॥
चरित-हीन नर के लिए, वृथा शास्त्र का ज्ञान ।
कोटि दीप भी क्या करे, बिना आँख अम्लान ॥५॥
पर-पदार्थ निरपेक्षता, सुख-दुःख मे समभाव[3] ।
वीतरागता का उदय, सच्चारित्र—प्रभाव ॥६॥
जो सम्यग् चारित्र को, आराधे अविकार ।
भव पन्द्रह से अधिक वह, करे नही अनगार ॥७॥
आत्मा मे करना रमण, है यह सयम धर्म ।
बता दिया सुकरात के, चेले ने यह मर्म ॥८॥
निर्भयता, नि सगता, निर्मलता व्रतसार ।
"मुनि गणेश" निर्ग्रन्थता, निर्विकार आचार ॥९॥

---

१ (क) चरणगुणविप्पहीणो, वुड्डई सुबहु पि जाणतो—आ० नि० ९७
—जो साधक चरित्र के गुण से हीन है, वह बहुत से शास्त्र पढने पर भी ससार समुद्र मे डूब जाता है ।
(ख) अप्प पि सुयमहिय, पयासग होई चरणजुत्तस्स ।
इक्को वि जह पईवो, सचक्खुअस्स पयासेई ॥ —आव० नि० ९९

२—सुबहुंपि सुयमहिय किं काही चरणविप्पहीणस्स ?
अघस्स जह पलित्ता दीवसयसहस्सकोडी वि ॥ —आव० नि० ९८
—शास्त्रो का बहुत सा अध्ययन भी चारित्रहीन के लिए किस काम का ? क्या करोडो दीपक जला देने पर भी अधे को कोई प्रकाश मिल सकता है ?

३ चरित्त खलु धम्मो, धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो ।
मोहक्खोह विहीणो, परिणामो अप्पणो हु समो ॥

५३ : तप

चार मार्ग हैं मुक्ति के, उनमे तप है तूर्य।
निरावरण होता त्वरित, जिससे आत्मा सूर्य ॥१॥
मन मङ्गल सोचे सदा, रहे इन्द्रियाँ शान्त।
लीन रहे स्वाध्याय मे, यही तपस्या कान्त[1] ॥२॥
तप संवेग विवेक है, तप है निर्मल ध्यान।
तप विषयो से विरति है, तप है विनय महान् ॥३॥
आत्म-शुद्धि के लक्ष्य से, वर्धमान परिणाम।
तप उत्तम निष्काम है, आत्म-शान्ति का धाम ॥४॥
घोर तपस्वी ऋषि करे, तप मे कर्म-प्रणाश।
तप-अनुमोदक भी करे निज कर्मो का नाश[2] ॥५॥
ज्ञान-कुशल भी तप विना, पा न सके भव-पार।
पोत-पताका क्या करे, विना पवन आधार[3] ॥६॥
जो कषाय को कृश करे, तप है वह अभिराम।
केवल तन कृशकर नही, पाता चेतनराम[4] ॥७॥
तप आत्मा मे रमण है, तप समता बेजोड।
शिक्षाप्रद दृष्टान्त है, शिष्य अंगुली तोड़ ॥८॥
धैर्य धर्म ही एक है, "मुनि गणेश" तप-मूल।
है अधीर नर के लिये, तप गगनाङ्गण-फूल ॥९॥

---

१ सो नाम अणसणतवो, जेण मणो मगुल न चितेइ।
जेण न इदियहाणी, जेण य जोगा न हायति ॥ —मरण समाधि १३४
—वही अनशन तप श्रेष्ठ है जिससे कि मन अमगल न सोचे, इन्द्रियो की हानि न हो और नित्यप्रति की योग-धर्म क्रियाओ मे विघ्न न आए।

२ जहा तवस्सी धुणते तवेण, कम्म तहा जाण तवोऽणुमता। —बृह० भा०-४४०१
—जिस प्रकार तपस्वी तप के द्वारा कर्मो को धुन डालता है वैसे ही तप का अनुमोदन करने वाला भी।

३ निउणो वि जीवपोओ, तवसजममारुअविहूणो। —आ० नि० ९६
—शास्त्रज्ञान मे कुशल साधक भी तप-सयम-रूप पवन के विना संसार सागर को तैर नहीं सकता।

४ इदियाणि कसाये य, गारवे य किसे कुरु, णो वय ते पससामो, किससाहु सरीरगं
—नि० भा० ३७५९
—हम साधक के केवल अनशन आदि मे कृश (दुर्बल) हुए शरीर के प्रशसक नहीं हैं वस्तुत. तो इन्द्रिय (वासना) कषाय और अहंकार को ही कृश (क्षीण) करना चाहिए।

५४ : मोक्ष

सकल कर्म-क्षय मोक्ष है, जन्म-मरण से मुक्त।
अव्याबाध अनन्त सुख, सकल दुख निर्मुक्त[१] ॥१॥
खाना पीना कुछ नहीं, और न भोग-विलास।
फिर क्या है सुख मोक्ष मे, उठे प्रश्न यह खास ॥२॥
खाने का फल क्या कहो, मिट जाना है भूख।
और भूख-निवृत्ति का, फल है स्वास्थ्य अचूक ॥३॥
सिद्धो के नित स्वास्थ्य है, नही क्षुधादिक-रोग।
परम स्वस्थ नर के लिए, निष्फल मुक्ति-प्रयोग ॥४॥
करता है अस्वस्थ नर, भेषज का उपभोग।
बिना रोग लेना दवा, वृथा बताते लोग ॥५॥
सिद्धो को रुचते नही, बिना मोह के भोग।
खुजलाना भाता नही, बिना पाम के रोग ॥६॥
निःस्पृह निर्धन भी सुखी, सस्पृह दुखी-नृपाल।
परमानन्दित नित अत, निःस्पृह सिद्ध त्रिकाल ॥७॥
पराधीनता दुःख है, सुख, रहना स्वाधीन।
परम सुखी है सिद्ध अत., निज स्वरूप मे लीन ॥८॥
"मुनि गणेश" आनन्द है, पर-पदार्थ निरपेक्ष।
भद्दिय नरपति ने कहा, जग-सुख भय-सापेक्ष ॥९॥

---

१ (क) कृत्स्नकर्मक्षयादात्मन स्वरूपावस्थान मोक्ष।
(जैन सिद्धान्त दीपिका ५।३८)
—समस्त कर्मों का फिर बन्धन न हो, ऐसा क्षय होने मे आत्मा अपने ज्ञान-दर्शनमय स्वरूप मे अवस्थित होती है, उसका नाम मोक्ष है।

(ख) प्रकृतेर्विरहो मोक्ष। —षड्-दर्शन-समुच्चय।
—सांख्य दर्शन के अनुसार आत्मा रूप पुरुष तत्त्व से प्रकृति रूप भौतिक तत्त्व का अलग हो जाना, और विशुद्ध रूप से स्व-स्वरूप मे परिणत हो जाना ही मोक्ष है।

(ग) "स मोक्षो योऽपुनर्भव।" —भागवत-स्कध।
—जिस स्थान को प्राप्त करने के पश्चात् फिर जन्म-मरण नही करना पडता है, वही स्थान मोक्ष है।

(घ) आत्मन्येव लयो मुक्तिर्वेदान्तिकमते मता। —विवेक-विलास
—सभी प्रकार के बंधनो से मुक्त होकर आत्मा का पर-ब्रह्म रूप ईश्वरीय शक्ति मे विलीन हो जाना यही वेदान्त दर्शनो के अनुसार मोक्ष-अवस्था है।

५५ : पुनर्जन्म

आत्मा का होता पुनर्-जन्म, मरण के वाद ।
पुनर्जन्म कहते उसे, समझो यह अविवाद[1] ॥१॥
हो न किसी भी रूप मे, पहले जिसका भाव, ।
हो सकता है क्या कभी, उसका प्रादुर्भाव ॥२॥
होता है उत्पन्न वह, प्राग् जिसका सद्भाव ।
होता नही अभाव से, कभी लोक मे भाव ॥३॥
क्या होता सद्द्रव्य भी, कभी सर्वथा नष्ट ।
पुनर्जन्म होता अत॰, सद् आत्मा का स्पष्ट ॥४॥
द्रव्यार्थिक-नय मानता, आत्मा नित्य नितान्त ।
अत मृत्यु के वाद मे, पुनर्जन्म अभ्रान्त ॥५॥
एक जन्म का त्यागकर, अपर-जन्म स्वीकार ।
करता रहता जीव यह, कर्मो के अनुसार[2] ॥६॥
जैसे होती वीज से, अकुर की उत्पत्ति ।
वैसे कर्म-प्रभाव से, नर-भव की सम्पत्ति ॥७॥
रोता है नव-जात शिशु, करता है स्तन-पान ।
गत-भव का अभ्यास ही, है वलवान प्रमाण[3] ॥८॥
सीता ने गत जन्म मे, थोपा मुनि पर दोप ।
'मुनि गणेश' इस जन्म मे, मिला राम का रोष ॥९॥

---

१ (क) कम्म च जाई मरणस्स मूल (जन्म और मरण का मूल कर्म है)
—उत्त० सू० ३२-७
(ख) कम्मा पुनब्भवो होति (कर्म के कारण ही पुनर्भव-जन्म होता है)
—दी० नि० विभग पृ० ४२-६

२ (क) यथा धेनु-सहस्रेषु, वत्सो याति स्वमातरम् ।
तथा पूर्वकृतम् कर्म, कर्त्तारमनुगच्छति ॥ —म० भा० शान्तिपर्व १८२, ६६
—हजारो गायो मे भी जैसे वछडा सीधा अपनी माता के पास दौडा जाता है, उसी प्रकार कर्म भी अपने कर्त्ता का अनुगमन करता है ।
(ख) कत्तारमेव अणुजाइ कम्म (कर्म अपने कर्त्ता के पीछे-पीछे चलता है)
—उत्त० सू० १३,२३

३ अशिक्षित कथ वालो मुखमर्पयति स्तने । —वैदिक
—बच्चा जन्मते ही विना सिखाये अपना मुँह माता के स्तन पर क्यो लगा देता है । (कर्म सस्कार के कारण ही)

५६ : कर्म-विपाक

सुख मे स्मित-आनन नहीं, दुख मे बने न दीन ।
ज्ञाता कर्म-विपाक के, मुनि समता मे लीन[1] ॥१॥
घोर तपस्वी-सयमी, ज्ञानी गुण-भण्डार ।
निज दुष्कर्म प्रभाव से, डूबे भव-जल-धार ॥२॥
जिनके भ्रू-विक्षेप से, ढह् जाते गिरि शीश ।
पाप-उदय से रक ज्यो, फिरते वे अवनीश ॥३॥
वैरी बनते स्वजन भी, कर्मोदय के योग ।
वायु बुझाती दीप को, करती जो सहयोग ॥४॥
दीन-वदन नित मांगता, जोड-जोड़ जो हाथ ।
होता पुण्य-प्रभाव से, क्षण मे पृथ्वीनाथ ॥५॥
धनी बने निर्धन कभी, निर्धन भी धनवान् ।
पुण्य-पाप का खेल है, चेत अरे ! नादान ॥६॥
पापो के फल-भोग मे, होते जितने भीत ।
उतने डरते बँध मे, (तो) लेते बाजी जीत ॥७॥
कर्मो को भुगते बिना, मिलती कही न छूट ।
खाती का सिर काटकर, प्राण लिए है लूट ॥८॥
कटुतम कर्म-विपाक है, रोको आश्रव-द्वार ।
"मुनि गणेश" होगा तभी, आतमा साक्षात्कार ॥९॥

---

१ (क) सुचिण्णाकम्मा सुचिण्णाफला भवंति । दुचिण्णाकम्मा दुचिण्णाफला भवति
—द० उ० ६

—अच्छे कामो के अच्छे फल होते हैं और बुरे कामो के बुरे फल ।

(ख) य कम्म करिस्सामि कल्लाण व पावग, तस्स दायार भविस्सामि—बौद्ध

—मैं जो भी कल्याण कर्म-पुण्य या पाप कर्म करूँगा, उसका फल भोगी मुझे ही होना होगा ।

(ग) यादृश क्रियते कर्म, तादृश लभ्यते फलम्—वैदिक

—जैसा कर्म किया जाता है, उसका वैसा ही फल प्राप्त होता है ।

(घ) किये हुए कर्म को मिटाया नही जा सकता
—शेक्सपीयर, सू० सा० पृष्ठ १०२

(ङ) कर्म प्रधान विश्व करी राखा ।
जो जस करहि सो तसफल चाखा ॥ —रामचरित मानस

५७ : कर्म-सिद्धि

सुख-दुख प्राणी भोगते, कर्मो के अनुसार।
स्पष्ट कर्म-फल है अत, कर्म-सिद्धि साकार ॥१॥
दृष्ट-हेतु पीयूप-विप, सुख-दु ख के साक्षात्।
फिर क्यो अदृष्ट कर्म की, मानव माने वात ॥२॥
दृष्ट-हेतु सुख-दु ख के, हो न सके एकान्त।
साधन-सम भी हो भले, फल वैषम्य नितान्त[1] ॥३॥
मिश्री नर-हित सुखद है, खर-हित दुखद महान्।
दृष्ट-हेतु ही इसलिए, माने क्यो विद्वान् ॥४॥
क्या फल कर्मो का मिले, है यह निश्चित वात।
कृपि करके भी कृपक के, धान्य न आता हाथ ॥५॥
हो न सके वन्ध्या-क्रिया, निश्चित यह सिद्धान्त।
सामग्री की पूर्णता, फल देती अभ्रान्त[2] ॥६॥
कैसे देते कर्म-फल, जबकि स्वय जड-रूप।
क्या न जहर का फल मिले, मानव को तद्रूप[3] ॥७॥
पाप-कर्म लेते नही, कभी किसी का पक्ष।
खधक मुनि ने वेदना, भोगी है प्रत्यक्ष ॥८॥
हो न वध यदि कर्म का, हो जाये सब मुक्त।
"मुनि गणेश" है इसलिए, कर्म-सिद्धि उपयुक्त ॥९॥

---

१ (क) जो तुल्लसाहणाण फले विसेसो ण सो विणा हेउ।
कज्जत्तणओ गोयम ! घडोव्वहेऊ य सो कम्म ॥ —वि० भा०
(ख) जगतो-यच्च वैचित्र्य, सुखदु खादि भेदत.।
कृपिसेवादिसाम्येऽपि विलक्षण फलोदय ।
अकस्मान्निधिलाभस्य विद्युत्पातश्च कस्यचित् ॥
क्वचित्फलमयत्नेऽपि यत्नेऽप्यफलता क्वचित् ।
तदेतद् दुर्घट दृष्टात्कारणाद् व्यभिचारिण ।
तेनादृष्टमुपेतव्यमस्य किञ्चन कारणम् ॥ —न्यायमजरी
२ परलोककडा कम्मा इहलोए वेइज्जति। —भगवती सूत्र
३ मुत्तेणामुत्तिमओ—उवघाया—उणुग्गहा कह होज्जा ?
जह विण्णाणाइण मईरापाणो—सहाईहि। —विशेपा० भा० गा० १६३७

५८ : विशिष्ट प्रश्नोत्तर

उत्तम तिथि है कौनसी? यत्र न पाप-प्रवृत्ति[१]।
श्रेष्ठ तीर्थ है कौनसा? यत्र अकृत्य-निवृत्ति ॥१॥
क्या है चिन्ह महान् का? हो न कभी जो क्षुब्ध[२]।
निज हित कौन न देखता? जो विषयों मे लुब्ध[३] ॥२॥
रूप स्तुत्य किसका नही? जो है शील-विहीन[४]।
निष्फल होता नर कहाँ? जहाँ लोभ मे लीन ॥३॥
होता कौन विनीत है? जो न रहे स्वच्छन्द[५],
कौन पात्र धिक्कार का? हिमानदी मद ॥४॥
होता क्या अश्रेय है? दुष्ट-सग का रग।
क्या अनार्य है कार्य नित? पर-नारी का सग ॥५॥
कौन महागर्वी बने? जो मानव अल्पज्ञ।
लघुता पाता कौन है? निज गुण-गायक अज्ञ ॥६॥
चिन्तनीय क्या है नही? गुरु-आज्ञा अनवद्य[६]।
देता कौन अचिन्त्य फल? धर्म-कल्पतरु सद्य ॥७॥
घोर तपस्वी कौन है? श्रेणिक प्रश्न उदार।
महावीर प्रभु ने कहा? है धन्ना अणगार ॥८॥
कौन मित्र है मृतक का? 'मुनि गणेश' इक धर्म[७]।
बुद्धिमान् है कौन नर? जो न करे दुष्कर्म ॥९॥

---

१ पावाण जदकरण, तदेव खलु मगलं परम। —बृह० भा० ८१४
—पाप कर्म न करना ही वस्तुत परम मंगल है।

२ न दु खितोऽपि सन्ताप भजते य स पडित (सुभाषित सचय)
—सकटग्रस्त होने पर भी जो खिन्नता अनुभव नही करता है वही वास्तव मे पडित है।

३ दु खी सदा को? विषयानुरागी (श० प्र० १३)
—सदा दु खी कौन है जो ससार के भोगो मे अनुरक्त है।

४ ण भूषण भूसयते सरीर विभूषण सील हिरीय इत्थिए। —बृह० भा० ४११८
नारी का आभूषण शील और लज्जा है, बाह्य आभूषण उसकी शोभा नही बढा सकते।

५ इगियारारसपन्ने, से विणीए त्ति वुच्चई। —उत्तरा० १।२

६ आज्ञा गुरूणा ह्यविचारणीया। —र० म० १४-४६

७ धर्मोमित्र मृतस्य च। (मृत्यु के पश्चात् भी यदि कोई मित्र है तो धर्म है।)

५९ : जड़

जड़ मे चेतन तू वसा, जड से करता प्यार ।
समझ रहा पर रूप को, अपना रूप उदार ।।१।।
रमता जड़ के साथ तू, करता जड शृंगार ।
रखता है अपनत्व नित, त्याग भेद-व्यवहार ।।२।।
जड की नित रक्षा करे, समझे जड को सार ।
पूजा जड की कर रहा, जड़ का ही सत्कार ।।३।।
शोक करे जड का सदा, जड के हित व्यापार ।
जड को पाने के लिए, है सारा आचार ।।४।।
जिस जड को तू जानता, है सुख का आधार ।
पर उसने ही तो दिये, प्रत्युत दुःख अपार ।।५।।
जड के सगम से रहे, आधि-व्याधि दुर्वार ।
लोह-खण्ड के सग से, सहे आग घन-मार ।।६।।
जड के हित जितना करे, जीवन मे उद्योग ।
उतना निज-हित जो करे, (तो) कटजाएँ सव रोग[२] ।।७।।
धन सग्रह को समझता, जडमति जग मे सार ।
रिक्त हाथ मम्मण गया, घोर नरक के द्वार ।।८।।
चेतन अव अवसर मिला, कर अपना उद्धार ।
"मुनि गणेश" जड से, कभी, रखना मत ममकार ।।९।।

---

१ यस्मै त्व यतसे विभेपि च यतो यत्रानिश मोदसे ।
यद्यच्छोचसि यद्यदिच्छसि हृदा यत्प्राप्य पेप्रीयसे ।
स्निग्धो येषु निजस्वभावममल निर्लोठ्य लालप्यसे ।
तत्सर्व परकीयमेव भगवन्नात्मन् न किञ्चित् तव ।। —शान्त सुधारस ६।३

२ असि-मसि-कृपि-विद्या-शिल्प-वाणिज्ययोगैः
तनुधन-सुतहेतोः कर्म यादृक् करोपि ।
सकृदपि यदि तादृक् सयमार्थं विधत्से ।
सुखममलमनन्त किं तदा नाश्नुषेऽलम् । —अध्यात्मकल्पद्रुम ।

६० : दान

गृह-त्यागी मुनि संयमी, पाक-क्रिया से मुक्त।
धर्म-दान का पात्र है, साम्य-भाव से युक्त[1] ॥१॥
भूमि-भेद से वृष्टि की, परिणति विविध प्रकार।
दाता पाता दान का, फल भाजन अनुसार ॥२॥
धेनु तुल्य सत्पात्र है, पन्नग-तुल्य अपात्र[2]।
बनें घास से दूध है, और दूध विष-गात्र ॥३॥
मुनि को लेना चाहिये, सदा यथा-कृत दान।
आधाकर्मी का ग्रहण, घोर पाप का स्थान ॥४॥
संयम-यात्रा के लिये, लेते मुनिवर दान।
होता अशुद्ध-दान से, संयम का अवसान ॥५॥
शुद्ध दान देना कठिन, रखकर पूर्ण विवेक।
रत्नों के व्यापार में, हानि-लाभ अतिरेक[3] ॥६॥
दाता देता धर्म के, लिये पात्र को दान।
क्यों अशुद्ध देकर करे, प्रत्युत पाप महान् ॥७॥
देकर दान जिनेश को, श्री श्रेयांसकुमार।
प्रथम बना दाता यही, धन्यवाद सौ बार ॥८॥
चार मार्ग हैं मोक्ष के, उनमें पहला दान।
"**मुनि गणेश**" दो पात्र को, दान सदा अम्लान। ९॥

---

१ (क) पात्रभवेद् गुणैरेभि, मुनि. स्वपरतारक।
तस्मैदत्तं पुनात्यन्न अपुनर्जन्मकारणम्। —महापुराणपर्व २०
(ख) वितीर्य यो दानमसंयतात्मने, जन फल कांक्षति पुण्यलक्षणम्।
वितीर्य बीज ज्वलिते स पावके; समीहते शस्यमपास्तदूषणम् ॥
—अमि० १०,५४१
—असंयमी को दान देकर जो पुण्य की इच्छा करता है, वह आग में बीज डालकर अनाज पैदा करना चाहता है।

२ पात्रापात्रविवेकोऽस्ति धेनुपन्नगयोरिव।
तृणात्संजायते क्षीरं क्षीरात्संजायते विषम् ॥ —सुभाषित

३ मुहादाईमुहाजीवी दोवि गच्छन्ति सोग्गइं। —द० सू० ५।१।१००
—मुधादायी, निष्कामभाव से दान देने वाला और मुधाजीवी—निःस्पृह होकर साधनामय जीवन जीने वाला दोनों ही सद्गति प्राप्त करते हैं।

६१ : भाग्य और उद्यम

भले मिले सब भाग्य से, पर उद्यम अनिवार्य[१]।
निर्णय करना भाग्य का, है उद्यम का कार्य ॥१॥
उद्यम भी मानव करे, पर, हो विधि प्रतिकूल।
लाभ न पाता है तदा, कृत-कारित सब धूल ॥२॥
भाग्य भले अनुकूल है, पर, नर उद्यम-हीन।
पा सकता है लाभ क्या, केवल भाग्य-अधीन[२] ॥३॥
इष्ट-अनिष्ट पदार्थ का, बने अचानक योग।
उसे समझना चाहिये, मिला भाग्य-सयोग ॥४॥
पर, निर्माता भाग्य का, है उद्यम अविकार।
गत-भव-कृत उद्योग को, कहते भाग्य उदार[३] ॥५॥
भावी-फल का ही रहे, उद्यम मे सदेह।
भाग्य भरोसे यदि रहे, हारे नि सदेह[४] ॥६॥
भाग्य और पुरुषार्थ से, सधे समीहित अर्थ।
आयु और औषधि उभय, जीवन-अर्थ समर्थ[५] ॥७॥
भाग्य और उद्यम उभय, मिलकर करते काम।
बनिया दाढी ले गया, और मुफ्त मे दाम ॥८॥
करता है पुरुषार्थ ही, भव्य भाग्य-निर्माण।
"**मुनि गणेश**" जिसके बिना, कहाँ मिले निर्वाण ॥९॥

---

१ न दैवमिति सचिन्त्य, त्यजेदुद्योगमात्मन।
अनुद्यमेन कस्तैल तिलेभ्य प्राप्तुमर्हति ॥४॥

२ काकतालीयवत्प्राप्त दृष्ट्वापि निधिमग्रत।
न स्वय दैवमादत्ते पुरुषार्थमपेक्षते ॥२४॥

३ पूर्वजन्म जनित पुराविद. कर्म दैवमिति सप्रचक्षते।
उद्यमेन तदुपार्जित चिराद्दैवमुद्यमवश न तत्कथम् ॥१६॥

४ पौरुषमवलम्बमानस्यार्थानर्थयो सन्देह ॥१२॥
निश्चित एवानर्थो दैवपरस्य ॥१३॥

५ आयुरौषधयोरिवदैव पुरुषाकारयो परस्पर सयोग समीहितमर्थ साधयति ॥१४॥

—नीतिवाक्यामृत

६२ : कालवाद

हो सकता कुछ भी नही, विना काल अविवाद ।
कालवाद के कार्य, की, समझो यह वुनियाद[1] ॥१॥
होता है जव काल से, कर्मो का परिपाक ।
पुण्य-पाप का फल तभी, पाता जीव वराक ॥२॥
वोते हैं जव वीज वर, खेतो मे कृपिकार ।
विना काल क्या फल मिले हो उद्योग हजार ॥३॥
सद्य-जात शिशु लोक मे, कर न सके कुछ काम ।
किन्तु समय पा देश का, वन जाता विश्राम ॥४॥
युवा-अवस्था के विना, होती क्या सतान ।
वालक-वय मे कव किसे, होता अनुभव-ज्ञान ॥५॥
शीतकाल मे ही सदा, पडता शीत अमाप ।
ग्रीष्मकाल मे सूर्य का, वढता प्रखर प्रताप ॥६॥
मानव कर सकता नही, कुछ भी कार्य-कलाप ।
होता है सव काल से, कालवाद अभिलाप ॥७॥
एक काल-कृत कार्य के, फल मे भेद महान् ।
है दो अंडो का यहाँ, शिक्षाप्रद आख्यान ॥८॥
अन्य कारणो का करे, कालवाद अपलाप ।
"मुनि गणेश" कैसे लगे, कार्य-सिद्धि की छाप ॥९॥

---

१ न कालव्यतिरेकेण गर्भवालशुभादिकम् ।
यत् किंचित् जायते लोके, तदसौ कारणम् किल ॥१॥ सूत्र १२ टीका
किंच कालादृते नैव मुद्‌गपक्तिरपीक्षते ।
स्थाल्यादि—सनिधानेपि, तत कालादसौ मता ॥२॥
कालाभावे च गर्भादि सर्वं स्यादव्यवस्थया ।
परेप्टहेतुसद्‌भाव मात्रादेव तदुद्‌भवात् ॥३॥

६३ : स्वभाववाद

होते मात्र स्वभाव से, जग के सारे कार्य।
है यह स्वभाववाद का, अभिमत अद्भुत आर्य[१] ॥१॥

आम बीज से आम फल, पाते मनुज प्रकाम।
नहीं निबोली से कभी, फल सकते है आम ॥२॥

बदल न सकता है कभी, सचमुच वस्तु-स्वभाव।
सींचे घृत से नीम तरु, फिर भी कटुक प्रभाव ॥३॥

बिना भव्यता के कभी, पा न सके शिव थान।
वन्ध्या नारी से नही, हो सकती सन्तान ॥४॥

दही बिलोने से अरे, मिलता है नवनीत।
किन्तु न मिलता नीर से, वह नवनीत पुनीत ॥५॥

पावक उष्ण स्वभाव है, जल है शीत स्वभाव।
रवि-स्वभाव है दिवस का, करना प्रादुर्भाव ॥६॥

दुष्ट न छोडे दुष्टता, सत न सत स्वभाव।
बिच्छू तजे न काटना, सत न करुणा भाव ॥७॥

काल आदि क्या कर सके, विरहित वस्तु-स्वभाव।
ऊपर मे होता नही, अकुर का उद्भाव ॥८॥

सामग्री की पूर्णता, आवश्यक अनिवार्य।
"**मुनि गणेश**" होता नही, कभी एक से कार्य ॥९॥

---

१ क कण्टकाना प्रकरोति तैक्षण्यं, विचित्र-भाव मृग-पक्षिणा च।
स्वभावत सर्वमिदं प्रवृत्त न कामचारोस्ति कुत प्रयत्न ॥ —सूत्र १२ टीका
—कौन कण्टक की नोक पतली बनाता है ? इत्यादि।

कर्मवाद का कथन है, सफल कार्य-कर कर्म।
काल आदि सब व्यर्थ है, समझो इसका मर्म[1] ॥१॥
एक उदर से जात जो, एक साथ युग-बाल।
एक रंक और दूसरा, हो जाता भूपाल ॥२॥
पंडित करता याचना, जोड-जोड कर हाथ।
बन जाता है मूढ नर, पंडितगण का नाथ ॥३॥
एक जन्म से है सुखी, दु खी एक महान्।
एक स्तुत्य है लोक मे, एक निन्द्य नादान ॥४॥
एक पुरुष व्यापार मे, पाता लाभ महान्।
और उठाता दूसरा, पग-पग पर नुकसान ॥५॥
क्षण मे अनुशासक कुशल, बन जाता अनुशास्य।
कर्मों का ही खेल यह, मत समझो उपहास्य ॥६॥
कर्मों का फल मनुज को, मिलता है साक्षात्।
राजा श्रेणिक नरक मे, है प्रसिद्ध यह बात ॥७॥
बाह्य परिस्थिति एक है, फिर क्यो भेद महान्।
मात्र एक ही है यहाँ, हेतु कर्म बलवान् ॥८॥
कर्म तभी फल दे सके, यदि कारण नि शेष।
केवल कर्म न हो सके, फलप्रद सत "**गणेश**" ॥९॥

---

१ (क) यथा यथा पूर्वकृतस्य कर्मण, फल निधानस्थमिहोपतिष्ठते।
तथा तथा पूर्वकृतानुसारिणी, प्रदीप हस्तेव मति प्रवर्त्तते ॥२॥सूत्र १२ टीका
—पहले किये कर्म का फल भण्डार मे रखे हुए निधान के समान जैसे-जैसे जीवो के आगे उपस्थित होता है पूर्वकृत कर्म के अनुसार चलने वाली बुद्धि मानो हाथ मे दीपक लेकर आगे-आगे चलती है।

(ख) स्वकर्मणा युक्त एव सर्वोह्युत्पद्यते जन ।
स तथाऽऽकृष्यते तेन, न यथा स्वयमिच्छति ॥२॥ सूत्र १२ टीका
—प्राणी अपने-अपने कर्म को लेकर उत्पन्न होते है। इसलिए वे जिधर जाना नहीं चाहते हैं उधर भी उस कर्म के द्वारा खीचकर भेज दिए जाते हैं।

६५ : पुरुषार्थवाद

भाग्य-विधाता पुरुष का, है अपना पुरुषार्थ ।
हो सकता इसके विना, कभी न कार्य यथार्थ[1] ॥१॥

होता है सब समय पर, कहता है यो काल ।
किन्तु विना उद्यम नही, फलता कभी रसाल ॥२॥

होता कार्य स्वभाव से, कहता स्वभाव-वाद ।
पर क्या अपने आप ही, आम फले अविवाद ॥३॥

फल कर्मों का भी कभी, मिले न अपने आप ।
विक सकते है आम क्या, जो बैठे चुपचाप ॥४॥

भर सकता उद्यम विना, कभी न उदर महान् ।
भक्ष्य न पा सकता कभी, सुप्त सिंह वलवान् ॥५॥

पकवानो से है भरा, सम्मुख कचन थाल ।
विना हिलाये हाथ क्या, मिटे भूख विकराल ॥६॥

विना क्रिया क्या कर सके, जग मे कोरा ज्ञान ।
क्या पथज्ञ गति के विना, पाता वाछित स्थान ? ॥७॥

पर-सहाय पाते त्वरित, जो उद्योगी लोग ।
देवी ने भी कव दिया, तस्कर को सहयोग ॥८॥

उद्यम भी क्या कर सके, सव हो हेतु न साथ ।
"**मुनि गणेश**" आई नही, मणि अन्धो के हाथ ॥९॥

---

१ (क) न दैवमिति सचिन्त्य, त्यजेदुद्यममात्मन. ।
अनुद्यमेन कस्तैल, तिलेभ्य प्राप्तु मर्हति ॥१॥ —सूत्र टीका १२
—दैव को सोच कर अपना उद्योग न छोडना चाहिए क्योकि उद्योग किये विना तिल मे से कौन तेल निकाल सकता है ?

(ख) उद्यमाच्चारु चित्राङ्गि ? नरो भद्राणि पश्यति ।
उद्यमात्कृमिकीटोऽपि भिनत्ति महतो द्रुमान् ॥२॥ सूत्र १२ टीका
—हे सुन्दर अग वाली ! मनुष्य उद्योग से ही कल्याण देखता है तथा कृमि और कीडे भी उद्योग से वडे-वडे वृक्षो को काट देते हैं ।

६६ : नियतिवाद

वदल न सकते प्रकृति के, शाश्वत नियम विशाल।
कार्य नियति से ही सभी, होते हैं तत्काल[1] ॥१॥

पूर्व दिशा मे ही सदा, दिनकर का उत्थान।
क्यो न उदय होता कभी, पश्चिम मे भास्वान ॥२॥

जल मे ही होता कमल, क्यो न जहाँ पाषाण ?।
ध्रुव तारा ही है अचल, क्यो न अपर स्थितिमान ? ॥३॥

नर के होते पैर दो, क्यो पशुओ के चार ?।
काला होता काग है, क्यो न श्वेत आकार ? ॥४॥

ज्वाला जाती अग्नि की, क्यो ऊपर की ओर ?।
क्यो सतत गति कर रहा, पवन सदा सव ठौर ? ॥५॥

काल आदि सव की यहाँ, होती वोली वद।
नियतिवाद के पास है, समाधान सानन्द ॥६॥

आपस में यो कर रहे, पाँचो खीचा-तान।
बिना अपेक्षावाद के, सफल कहाँ अभियान ॥७॥

नियति भरोसे ही रहे, तो कैसे हो काम।
समझाया सद्दाल को, देकर ज्ञान ललाम ॥८॥

अपने अपने स्थान पर, होते सभी महान्।
'मुनि गणेश' है इसलिए, जिन सिद्धान्त प्रमाण ॥९॥

---

१ (क) नियतेनैव रूपेण सर्वे भावा भवन्ति यत्।
ततो नियतिजा ह्येते, तत् स्वरूपानुवोधत ॥१॥ —सूत्र टीका १२

(ख) प्राप्तव्यो नियति वलाश्रयेण योऽर्थ
सोऽवश्य भवति नृणा शुभो शुभो वा।
भूताना महति कृतेपि हि प्रयत्ने
नाभाव्य भवति न भाविनोऽस्ति नाश ॥

६७ : समन्वयवाद

काल आदि मिलकर सभी, कर सकते हैं कार्य।
एकाकी क्या कर सके, कहते जैनाचार्य[1] ॥१॥

एक दूसरे वाद से, रह करके निरपेक्ष।
कार्य न कर पाते कभी, बिना दृष्टि सापेक्ष ॥२॥

तत्त्व न पा सकते कभी, यदि आग्रह एकान्त।
अपनाओ स्याद्वादमय, जैनी नीति नितान्त ॥३॥

बीज उर्वरा भूमि मे, बोता है कृषिकार।
कालादिक के मेल से, फलता है सहकार[2] ॥४॥

है स्वभाव फल-जनन का, गुठली मे साक्षात्।
किन्तु बिना उद्योग के, क्या आते फल हाथ ॥५॥

बोने का पुरुषार्थ भी, यद्यपि किया नितान्त।
किन्तु समय पहले नही, मिलते है फल कान्त ॥६॥

हुआ काल परिपाक भी, यदि न कर्म अनुकूल।
तो फिर फल मिलते नही, कृत-कारित सब धूल ॥७॥

सद् असदादिक धर्म भी, एक वस्तु-गत सिद्ध।
उदाहरण है वस्त्र का, जग मे यहाँ प्रसिद्ध ॥८॥

नियम नियति का है अटल, फले आम से आम।
"**मुनि गणेश**" कब सध सके, एकाकी से काम ॥९॥

---

१ (क) कालो सहाव णियई, पुव्वकाय पुरिपकारणेगता।
मिच्छत्तते चेवउ समासओ होति सम्मत्त ॥२॥ —सूत्र वृ०
—काल, स्वभाव नियति आदि को पृथक्-पृथक् कारण मानना मिथ्यात्व है परन्तु इनके समूह को कारण मानना सम्यक्त्व है।
(ख) नव्वेवि य कालाई इह समुदायेण साहगा भणिया।
जुज्जति य एमेव य सम्म सव्वस्स कज्जस्स ॥२॥ —सूत्र० वृ०
ये समस्त कालादि एक साथ मिलकर ही सब कार्यों के साधक होते हैं।

२ नहि कालादिहितो केवल एहि तु जायए किंचि।
इह मुग्गरंधणादिवि ता सव्वे समुदिता हेऊ ॥३॥ —सूत्र० वृ०
—अकेले कालादि से कोई कार्य नही होता है जैसे मूँग उबालने मे आग, पानी, लकडी और पतीली आदि मिले हुए ही कारण है।

६८ : अनेकान्तवाद

विविध दृष्टि से परखना, वस्तु-जात अविवाद।
जिनदर्शन का प्राण है, अनेकान्तमय वाद[1] ॥१॥
एक दृष्टि से वस्तु का, पूर्ण न होता ज्ञान।
अनेकान्तमय दृष्टि से बनता ज्ञान प्रमाण ॥२॥
है प्रत्येक पदार्थ मे, गुण अनन्त अविकार।
विविध पहलुओ से करो, उनका विशद विचार ॥३॥
फल मे रस भी रूप भी, आकृति भी है स्पर्श।
और रोग-हर आदि गुण, बुध-जन करे विमर्श ॥४॥
कर सकते सर्वज्ञ ही, उनका पूरण ज्ञान।
सीमित मति निरसीम की, कर न सके पहचान ॥५॥
फल मे रस भी है कहे, तब है कथन यथार्थ।
रस ही है यदि यो कहे, तब मिथ्या फलितार्थ ॥६॥
"भी" मे रहता है छिपा, अपर-धर्म-स्वीकार।
अन्य गुणो का ही करे, नित निषेध साकार ॥७॥
बिना अपेक्षावाद के, सही न मिलता ज्ञान।
बोध-प्रदायक है यहाँ, स्कन्दक का आख्यान ॥८॥
"मुनि गणेश" स्याद्वाद मे, 'भी' है सच सापेक्ष।
'ही' है मिथ्यावाद का, सूचक नित निरपेक्ष[2] ॥९॥

---

१ जेण विणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा ण णिघडइ।
तस्स भुवणेक्कगुरुणो, णमो अणेगतवायस्स ॥ —सन्मति० ३, ७०
—जिसके बिना विश्व का कोई भी व्यवहार सम्यग् रूप से घटित नही होता है, अतएव जो त्रिभुवन का एक मात्र गुरु (सत्यार्थ का उपदेशक) है, उस अनेकान्तवाद को मेरा नमस्कार है।

२ (क) स्यान्नाशि नित्य सदृश विरूप, वाच्य न वाच्य सदसत्तदेव।
—अन्ययोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिका श्लोक २५

(ख) अनेकान्तात्मार्थकथनम् स्याद्वाद। —लघीयस्त्रय ६२ अकलक

(ग) सोऽप्रयुक्तोऽपि सर्वत्र स्यात्कारोऽर्थात्प्रतीयते।
— लघीयस्त्रय, श्लोक २२

(घ) स्यात्कार सत्यलाछन।

(ङ) स्यादिति शब्दो अनेकान्तद्योती प्रतिपत्तव्यो, न पुनर्विधिविचार प्रश्नादि द्योति तथा विवक्षापायात्। —अष्टसहस्री पृ० २८६

६८ : नयवाद

ग्राहक तात्त्विक अर्थ का, निश्चयनय पहचान।
पाँच वर्णवाला भ्रमर, निश्चय करे प्रमाण ॥१॥

लोक-मान्य जो अर्थ है, ग्रहण करे व्यवहार।
भौंरे को काला कहे, यह व्यवहार-विचार[१] ॥२॥

लेकर के व्यवहार का, आलम्बन अविकार।
निश्चय पर निश्चल रहे, साध्य-सिद्धि साकार ॥३॥

चलता है व्यवहार से, अविचल सब आचार।
और तत्त्व रहता अटल, निश्चय के आधार[२] ॥४॥

होते हैं, होंगे, हुए, जोकि सिद्ध भगवान्।
निश्चय और व्यवहार का, ले आश्रय अम्लान[३] ॥५॥

उभय नयों में एक का, जो करता अपलाप।
उसके कैसे लग सके, सत्य धर्म की छाप? ॥६॥

नष्ट हुए साधक कई, केवल निश्चय धार।
और कई व्यवहार से, तजकर निश्चय-द्वार[४] ॥७॥

एक दृष्टि से वस्तु का, पूर्ण न होता ज्ञान।
हाथी के दृष्टान्त से, समझाते विद्वान ॥८॥

आश्रय ले व्यवहार का, निश्चय पर स्थिर[५] दृष्टि।
"मुनि गणेश" निज रूप को, प्राप्त करे सम-दृष्टि ॥९॥

---

१ भमरे ण भन्ते ! कइवण्णे पुच्छा ? गोयमा ! एत्यण दो नया भवन्ति त जहा-णिच्छइयणए य, वावहारियणए य। वावहारियणयस्स कालए भमरे णिच्छईयणयस्स पचवण्णो जाव अट्ठफासे। —भगवती शतक १८।६

२ जई जिणमय पवज्जह, ता मा ववहार णिच्छए मुयह।
एकेण विणा छिज्जए तित्थ, अण्णेण उ ण तच्च ॥ —समयसार वृत्ति

३ याता यान्ति च यास्यन्ति, ये भव्या मुक्तिसंपदम्।
आलम्ब्य व्यवहार ते पूर्वं पश्चाच्च निश्चयम् ॥

४ व्यवहार विना केचित्, नष्टा केवल-निश्चयात्।
निश्चयेन विना केचित् केवल-व्यवहारत ॥

५ व्यवहार समालम्ब्य येऽक्षिकुर्वन्ति निश्चये।
शुद्ध चिद्रूप सप्राप्ति स्तेपामेवेतरस्य न ॥

७० : विवेक-सूत्र

क्षमाशील हो नर भले, किन्तु न हो डरपोक।
खरे रहो, खारे नही, सुधरे दोनो लोक ॥१॥
भले स्पष्ट-भाषी रहो, किन्तु न हो उद्दण्ड।
भले चतुर हो आदमी, पर न कभी हो चण्ड ॥२॥
भले समालोचक रहो, किन्तु न निन्दकराज।
भले नम्र हो पर नही,—चापलूस-सिरताज ॥३॥
भले बनो सत्याग्रही, पर न दुराग्रहवान।
मितव्ययी हो नर भले, किन्तु न सूम समान ॥४॥
न्यायवान् हो नर भले, किन्तु न हो नर क्रूर।
धैर्यवान् हो नर भले, पर, न सुस्त हो शूर ॥५॥
उत्साही हो पर न हो,—जल्दबाज नर-राज।
भले सरल हो, पर न हो,—महामूढ अधिराज ॥६॥
हो स्वतन्त्र मानव भले, किन्तु न हो स्वच्छन्द।
दृढप्रतिज्ञ हो, पर नही,—हठधर्मी जन-वृन्द ॥७॥
भले सत्यवादी बनो, पर न सत्य हो नग्न।
पढो चित्र की सत्कथा, होकर ध्यान निमग्न ॥८॥
सावधान हो पर न हो, साधक शङ्का-धीन।
ज्ञानी सन्त "गणेश" हो, पर न विवेक-विहीन[1] ॥९॥

---

१ (क) अवत्तणेण जीहाई कूइया होई खीर मुदगम्मि।
हसो मोत्तूण जल, आपियइ पय तह सुसीहो ॥ —बृह० भा० ३४७
—हस जिस प्रकार अपनी जिह्वा की अम्लना-शक्ति के द्वारा जल मिश्रित दूध मे से जल को छोड़कर दूध को ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार सुशिष्य दुर्गुणो को छोडकर सद्गुणो को ग्रहण करता है।

(ख) अट्ठ जुत्ताणि सिक्खेज्जा, निरट्ठाणि उ वज्जए। —उत्तरा० १-८
—सार्थक बातें सीखें, निरर्थक बातो को वर्जन करे।

(ग) यत् सारभूत तदुपासनीय, हसैर्यथा क्षीर मिवाम्बुमध्यम्।
—सू० र० भा० पृष्ठ २७०,८७५
—जिस प्रकार हस जल-मिश्रित दूध को ले लेता है उसी प्रकार सारभूत पदार्थ को ग्रहण कर लेना चाहिए।

७१ : आत्म-निरीक्षण

आत्म-निरीक्षण कर जरा, आँखें अपनी खोल ।
देख किया क्या काम है, जीवन स्वय टटोल[१] ? ॥१॥
अपने सुख के लाभ-हित, पर का अहित महान् ।
क्या न किया नर जन्म मे, सोच जरा अनजान ? ॥२॥
अपनी उन्नति के लिए, कितना किया प्रयास !
अथवा तन-धन के लिए, किया समय का नाश ॥३॥
समता-रस का स्वाद क्या, लिया कभी क्षण एक ?
ममता का पोपण किया, निशि-दिन विना विवेक ॥४॥
मन के जाने ही किये, दुष्कृत आठो-याम ।
अथवा, मनको रोक कर, किये श्रेय के काम ॥५॥
चेतन से तन भिन्न है, किया कभी क्या ज्ञान ?
अथवा मैं तन हूँ यही, जान रहा अनजान ॥६॥
वाह्य शत्रुओ पर किया, अनुशासन वेजोड ।
क्या निज पर शासन किया, मन के वन्धन तोड[२] ॥७॥
औरो के अवगुण सदा, देखे है सह-रोष ।
वाहुवली की भाँति क्या, देखे अपने दोष ? ॥८॥
औरो को उपदेश जो, दिये वहुत रसदार ।
'मुनि गणेश' क्या है किया, उन पर अमल उदार ॥९॥

---

१ (क) सपिक्खए अप्पगमप्पएण (अपने द्वारा अपना सप्रेक्षण-निरीक्षण करें)
—द० सू० चू० २, १२
(ख) अत्तनो व अवेक्खेय्य कत्तानि अकत्तानि च । —ध० प० ४, ७
—अपने ही कृत्य एव अकृत्य देखने चाहिए ।
(ग) प्रत्यह प्रत्यवेक्षेत, नरश्चरितमात्मन ।
किन्नु मे पशुभिस्तुल्य, किन्नु सत्पुरुषैरिति ॥ —सु० र० भा० २३६, २
(घ) आत्मावलोकेन यत्नः कर्त्तव्यो भूतिमिच्छता । —यो०वा. ५,११५,४६
—कल्याण की इच्छा रखने वाले को आत्मनिरीक्षण का यत्न करना चाहिये ।

२ (क) अप्पाणमेव जुज्झाहि किं ते जुज्झेण वज्झओ । —उ०सू०९,३५
(ख) वाहर से भी वडे विपक्षी अपने ही भीतर है ।
उन पर वही विजय पाते. जो आत्म-निरीक्षक नर है ।
—मैथिलीशरण गुप्त ज भ

७२ : आत्म-चिन्तन

कर्ता है सुख दुख का, निज-आत्मा नि:शक।
वनते अन्य निमित्त हैं, क्यो दें उन्हे कलक? ॥१॥
वृथा शास्त्र-अध्ययन है, वृथा सकल आचार।
(यदि) सहजानन्द स्वरूप का, किया न साक्षात्कार ॥२॥
देख जरा ससार को, आँख हृदय की खोल।
आत्म-ज्ञान है एक ही, यहाँ वस्तु अनमोल ॥३॥
भूल वताता जो तुझे, उस पर मत कर क्रोध।
करना स्वीकृति भूल की, आत्म-शुद्धि अविरोध ॥४॥
अपने मुख से जो स्वयं, वतलाए निज-दोप।
इससे उत्तम काम क्या, हो आत्मा निर्दोष ॥५॥
निज हाथो मे ही रहा, निज-जीवन-निर्माण।
क्यो न करे मानव अरे, अपना फिर उत्थान[२] ॥६॥
पाकर दुर्लभ मनुज-भव, उत्तम पोत समान।
जो न स्वय को तारता, वह है मूर्ख महान् ॥७॥
जग मे जीवित कौन है, नृप का प्रश्न उदार।
'धर्म-परायण पुरुप' यह, गुरु का उत्तर सार ॥८॥
मेरा जग मे कुछ नही, मैं आत्मा अविकार।
यो "गणेश" चितन करे, निर्ममत्व सुखकार ॥९॥

---

१ (क) अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाणय सुहाणय। —उत्त०सू०२०,३७
—दुख और सुख का करने वाला स्वय आत्मा ही है।
(ख) नत्यञ्ञो कोचि मोचेता (दूसरा कोई किसी को मुक्त नही करा सकता) —चू०नि०२,५,३३
(ग) आत्मना विहित दु:खमात्मना विहित सुखम्। —म०भा०शान्तिवर्व,१८१,१४
—दु:ख और सुख आत्मा का ही किया हुआ है।
(घ) उद्धरेदात्मनाऽऽत्मान नात्मानमवसादयेत्। —गी०६,५
—आत्मा से ही आत्मा का उद्धार करे, उसे गिराये नही।
२ (क) वधप्पमोक्खो तुज्झ अज्झत्थेव। —आ०चा०सू०१,५,२
—वधन मुक्त होना तुम्हारे ही हाथ है।
(ख) मनुष्य स्वय अपना उद्धारक है अपना नाशक और शत्रु भी वही है। —गाधीजी अ०भा०२ पृष्ठ २३

७३ : उन्नति

शुद्ध-नीति, समता-धनी, अनलस दृढविश्वास।
शान्त-चित्त मानव करे, अपना परम विकास ॥१॥

निज उन्नति होती नही, पर-पदार्थ के योग।
आत्मगुणो की वृद्धि से, उन्नति सदा अरोग[1] ॥२॥

कर सकते वे ही मनुज, निज उन्नति अविकार।
जो उन्नति के गर्व को, झटपट देते मार ॥३॥

जो मानव देते स्वय, अपने को उपदेश।
वे उन्नति के महल मे, करते शीघ्र प्रवेश ॥४॥

उन्नति हो सकती नही, जब तक घर अज्ञान।
उन्नति-इच्छुक विनय से, प्राप्त करो गुरु-ज्ञान[2] ॥५॥

है उन्नति की चाह तो, रखो भावना शुद्ध।
होता उसका पतन है, जिसके भाव अशुद्ध ॥६॥

पर की उन्नति का प्रथम, मत लो सिर पर भार।
करलो निज उन्नति स्वयं, अपने मनको मार[3] ॥७॥

हितकारी होता नही, उन्नति का अभिमान।
चित्रकार के पुत्र का, शिक्षाप्रद आख्यान ॥८॥

उन्नति होती आँतरिक, शांति-दायिनी सद्य।
"मुनि गणेश" समभाव ही, है कारण अनवद्य ॥९॥

---

१ नाणेण दसणेण च चरित्तेण तवेण य।
खतीए मुत्तीए य, वड्ढमाणो भवाहि य ॥—उत्त० सू० २२।२६
—ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, क्षमा और निर्लोभता की दिशा मे निरन्तर वर्द्धमान बढते रहिये।

२ विणयाहीया विज्जा देंति फल इह परे, य लोगम्मि।
न फलति विणयहीणा, सस्साणि व तोयहीणाइ ॥—बृह० भा० ५२०३
—विनय पूर्वक पढी गई विद्या, लोक-परलोक मे सर्वत्र फलवती होती है। विनय हीन विद्या उसी प्रकार निष्फल होती है, जिसप्रकार जल के बिना धान्य की खेती।

३ (क) छद निरोहेण उवेइ मोक्ख।—उत्त० सू० ४,८
—अपने विचारो को रोकने वाला ही मोक्ष को प्राप्त करता है।
(ख) उन्नति का मूल मत्र है—आत्म समर्पण।—आ० वि० भाग २ पृष्ठ

७४ : गुण

श्रेष्ठ गुणो से पुरुप को, मिलता है सम्मान।
दुग्ध-दायिका धेनु का, होता मूल्य महान् ॥१॥

अवगुण को तजकर वनो, श्रेष्ठ गुणों के मित्र।
हंस छोड़कर नीर को, पीता क्षीर पवित्र ॥२॥

वैरी के भी श्रेष्ठ-गुण, होते आदरणीय।
कचन चाहे हो कही, होता है ग्रहणीय ॥३॥

गुण की पूजा हो जहाँ, होता वहाँ विकास।
किन्तु विना गुण व्यक्ति की,—पूजा है उपहास[२] ॥४॥

गुणज्ञ मानव ही करे, गुणि-गुण का सम्मान।
कवि-कुल-कोविद ही करे, सरस काव्य-रस-पान ॥५॥

ईर्ष्या करता अज्ञ[१] क्यो, सुनकर पर-गुण-गान।
प्रमुदित होता क्यो नही, हो अपना उत्थान? ॥६॥

गुण-ग्राही नर के लिए, रूपादिक वेकार।
वाह्य चर्म को देखकर, होता मुग्ध चमार ॥७॥

गुण की पूजा जगत् में, होती है हर-स्थान।
मुरली का श्रीकृष्ण ने, किया अधिक सम्मान ॥८॥

वाह्य-सम्पदा मनुज की, टिक न सके चिरकाल।
"मुनि गणेश" है आत्म-गुण, जग मे अमर त्रिकाल[३] ॥९॥

---

१ (क) गुणेहिसाहूऽगुणेहिंसाहू गिण्हाहिसाहू गुण मुंचऽसाहू।—दशवै० ९, ३, ११
—गुणो से साधु होता है और अगुणो से असाधु। इसलिए साधुओ के गुणो को ग्रहण कर और असाधु के गुणो को छोड।

(ख) गुणेषु क्रियता यत्न. किमाटोपै प्रयोजनम्।
विक्रीयन्ते न घण्टाभिर्गाव. क्षीरविवर्जिता ॥ —सुभाषित।

२ गुणा पूजा-स्थान गुणिषु न च लिंगम् न च वय.। —सुभा० र० भा० १५
—गुणियो के गुण ही पूजा सम्मान के हेतु हैं, वेप और आयु नही।

३ कत्थ न जलइ अग्गी कत्थ व चदो न पायडो होइ?
कत्थ वरलक्खणधरा, न पायडा होंति सप्पुरिसा ॥ —वृह० भा० १२४५
—अग्नि कहाँ नही जलती है? चन्द्रमा कहाँ नही प्रकाश करता है? और श्रेष्ठ लक्षणो (गुणो) से युक्त सत्पुरुप कहाँ नही प्रतिष्ठा पाते हैं अर्थात् सर्वत्र पाते हैं।

७५ : कषाय

परम शाति की चाह तो, त्यागो चार कषाय।
समता मे रमते रहो, उत्तम यही उपाय ॥१॥
किसने किया कषाय से, अपना नही अनिष्ट ?।
घोरतपस्वी भी हुए, इससे सयम-भ्रष्ट[1] ॥२॥
अँधा हो जाता मनुज, जब आता है क्रोध।
देख न पाता हित-अहित, खोता शाति-सुबोध[2] ॥३॥
अभिमानी नर समझता, मैं गुरु ज्ञानी गूढ।
गुरु को भी लघु देखता, गर्व शैल आरूढ ॥४॥
माया दुर्गति-दायिका, माया शल्य महान्।
आराधक होता नही, साधक मायावान् ॥५॥
लाभ बढाता लोभ को, कैसे हो सतोष ?
मिले सकल जग-सम्पदा, मिटे न तृष्णा-दोष ॥६॥
प्रीति-प्रणाशक क्रोध है, विनय-विघातक मान।
मैत्री-घातक कपट है, दु खद लोभ महान्[3] ॥७॥
नही देखते मूल को, होता तभी विवाद।
एक बूँद मधु की बनी, झगड़े की बुनियाद ॥८॥
अगर तपस्वी के हुआ, तप से शात न क्रोध।
"**मुनि गणेश**" सब व्यर्थ है, ज्यो अभव्य को बोध[4] ॥९॥

१ ज अज्जिय चरित देसूणाए वि पुव्वकोडिए।
तं पि कसाइयमेत्तो नासेइ नरो मुहुत्तेण ॥
—नि० भा० २७९३ बृह० भा० २८१५

—देशोनकोटिपूर्व की साधना के द्वारा जो चारित्र अर्जित किया है वह अन्त-मुंहूर्त्त भर के प्रज्वलित कषाय से नष्ट हो जाता है।

२ "क्रोधाद् भवति समोह.।" (क्रोध से मोह की उत्पत्ति होती है) —भगवद गीता

३ कोहो पीइ पणासेइ माणो विणयनासणो।
माया मित्ताणि नासेइ लोहो सव्वविणासणो ॥ —द० सू० ८,३७

—क्रोध प्रीति का नाश करता है। मान विनय का नाश करने वाला है, माया मैत्री का विनाश करती है और लोभ सब (नीति, विनय और मैत्री) का नाश करने वाला है।

४ जह कोहाइ विवड्ढि, तह हाणी होइ चरणेवि ॥
—नि० भा० २७९०, बृह० भा० २७११

—ज्यो-ज्यो क्रोधादि कषाय की वृद्धि होती है त्यो-त्यो चरित्र की हानि होती है।

७६ : राग

पर-पदार्थ-आसक्ति है, राग-भाव अनुदार।
निज स्वरूप को भूल कर, पर मे रत ससार ॥१॥
वन्धन विविध प्रकार के, पर दृढ वन्धन राग।
तोड न सकते है उसे, विना ज्ञान, तप, त्याग ॥२॥
राग-भाव पहचानना, वडा कठिन है काम।
जोकि मधुर मधु-लिप्त है, असि-धारा अभिराम ॥३॥
मिथ्या शास्त्रो के प्रति, होती जो अनुरक्ति[1]।
ज्ञानी वतलाते उसे, "दृष्टिराग" अभिव्यक्ति ॥४॥
रम्य इन्द्रियो के विषय, उनमे जो आसक्ति।
"विषय राग" यह है दुखद, खोता अलि निज शक्ति ॥५॥
पुत्रादिक परिवार पर, जो होता है स्नेह।
'स्नेह-राग' कहते उसे, है यह कारागेह ॥६॥
होता पहले राग है, तदनन्तर विद्वेष[2]।
फिर मानव नित भोगता, इस जग मे सक्लेश ॥७॥
राग-भाव छूटे विना, कव होता उद्धार[3]।
संयम तज कर घर रहे, मुनिवर आर्द्रकुमार ॥८॥
नश्वर यह ससार है, क्यो करता है मोह।
"मुनि गणेश" वह है सुखी, जो रहता निर्मोह ॥९॥

---

१ (क) ज रायवेयणिज्ज समुइण्ण त भावओ राओ।
सो दिट्ठिविसय नेहाणुरागरुवो अभिसगो ॥
कुपवयणेसु पढमो, विईओ सद्दाइएसु, विसएसु।
विसयादिनिमित्तो विहु, सिणेहराओ सुयाईसु ॥
—विशेषावश्यक भा० २९६४-६५

—माया-लोभ रूप रागवेदनीय कर्म के उदय से होने वाला राग भाव-राग है। वह दृष्टि राग, विषयराग एव स्नेह राग रूप अभिव्यक्त है। पहला कुप्रवचनो मे मिथ्या दृष्टियो की वाणी मे होता है। दूसरा शब्दादि विषयो मे और तीसरा पुत्र, स्त्री आदि स्वजनो मे होता है।

(ख) दृष्टि रागस्तु पापीयान्, दुरुच्छेद्य सतामपि। —वीतराग स्तोत्र

२ आदौ रागस्ततो द्वेष. तस्मात् क्लेशपरम्परा। (हिंगुल प्रकरण)

३ (क) पशु-मानव-देवाश्च-ऽनुरज्यन्तेसुरागके,
तथैवामी विशेषेण, मृग-स्त्री-सर्प भूभुज ॥—चन्दचरित्र पृ० ७२

(ख) रागान्धो हि जन सर्वो, न पश्यति हिताहितम्। —यतिधर्मसमुच्चय

७७ : द्वेष

जीव-अजीव पदार्थ पर, घृणा रूप परिणाम।
द्वेष-भाव यह है दुखद, दुर्गति हेतु प्रकाम ॥१॥
जिससे होता द्वेष है, हो चाहे गुणवान्।
अच्छा वह लगता नही, ज्वर मे ज्यो पकवान[1] ॥२॥
करता द्वेषी निज-अहित, रहता तप्त नितान्त।
शान्ति न वह पाता कभी, अघ संचय एकान्त ॥३॥
द्वेष-दाव पहले करे, निज आश्रय का नाश[2]।
क्यो न बुझाता है इसे, पाकर ज्ञान-प्रकाश ? ॥४॥
अपना करता है अहित, जो नर रखता द्वेष।
गुण अपना सकता नही, जिससे द्वेष विशेष ॥५॥
पीत-रोग-सम द्वेष है, मानस रहता म्लान।
बुरे दीखते हैं उसे, जो है सत महान् ॥६॥
द्वेष-भावना मे हुआ, किसका नही अनिष्ट।
कर समता की साधना, आतमा है यदि इष्ट ॥७॥
द्वेष-भाव से नर करे अपना अहित अपार।
हुआ विराधक क्या नही, श्राद्ध अभीच कुमार ॥८॥
द्वेष हलाहल जहर है, द्वेष धधकती आग[3]।
द्वेष दु.खप्रद शत्रु है, "मुनि गणेश" झट त्याग ॥९॥

---

१ द्वेष्यो न साधुर्भवति, मेधावी न पण्डित ।
प्रिये शुभानि कार्याणि, द्वेष्ये पापानि चैव हि ॥

२ उत्पद्यमान प्रथम दहत्येव स्वमाश्रयम्।
क्रोध कृशानुवत् पश्चादन्य दहति वा न वा।

३ (क) द्वेषाद् दु खपरम्परा (तत्त्वामृत)
भावार्थ—द्वेष नामक कषाय से दु खो की शृंखला बराबर चालू ही रहती है।

(ख) श्वन् ! त्व तथापि सर्वत्र ज्ञातिद्वेषात् प्रभर्त्स्यसे।
भावार्थ—अरे कुत्ते ! तू गुणी होने पर भी अपनी जाति से द्वेष करने के कारण सभी स्थानों पर तू तिरस्कृत ही किया जाता है। अपमान और और अनादर ही प्राप्त करता है।

७८ : क्रोध

क्रोध हृदय का शत्रु है, देता दुःख महान्।
क्षमा-खड्ग से जीतता, आत्मार्थी विद्वान्[1] ॥१॥

क्रोधी नर का क्रोध मे, खुल जाता मुख-द्वार।
खून उवलता आँख मे, तन मे जहर-प्रसार ॥२॥

हरता वल षट्मास का, ताप एक दिवसीय[2]।
किन्तु क्रोध क्षण एक मे, तप करोड वर्षीय ॥३॥

विगडे कुछ न महान् का, तुच्छ करे जो रोष।
पर्वत के क्या हानि है, अगर कुपित खरगोश ॥४॥

क्रोध-शत्रु को जीत लो, कर अतर-सग्राम।
नही रहेगा फिर कभी, वाह्य-शत्रु का नाम ॥५॥

मूढ़-भाव से क्रोध का, होता है उत्थान।
पश्चात्ताप विना नही, होता है अवसान ॥६॥

रह पाता है क्रोध क्या, देखे जो निज-दोष?
वृथा देख पर-दोष को, मत कर पैदा रोष ॥७॥

क्रोध-दशा मे वन गये, मुनिवर तुम चण्डाल।
कैसे मैं सेवाकरूँ, सुर वोला तत्काल ॥८॥

जीता जा सकता नही, कभी रोष से रोष।
"मुनि गणेश" उसका क्षमा, है उपचार अदोष ॥९॥

---

१ उवसमेण हणे कोह, माण मद्दवया जिणे।
माय चज्जवभावेण, लोभ सतोषओ जिणे ॥
—उपमश से क्रोध का हनन करे, मृदुता से मान को जीतें, ऋजुभाव से माया को जीते, और सतोप से लोभ को जीते।

२ (क) जो अपने गुस्से को पी जाते हैं और लोगो को माफ कर देते हैं वे खुदा के प्यारे हैं। —कु० आल अमराव २३६

(ख) जो तुम्हारा गुनाह करता है उसे माफ कर दो, जो तुम्हारी बुराई करता है, उसकी भलाई करो। —त० सू० ई० पृस्ठ २३६

(ग) गुस्से को पी जाना इन्सानियत है। —गाधी जी आ० वि० भा० २ पृष्ठ ६

(घ) क्रोधो मूलमनर्थानां, क्रोधः ससार वन्धनम्।
धर्मक्षयकर क्रोधस्तस्मात् क्रोधं विवर्जयेत् ॥ —सुभाषित

७६ : मान

क्यो करता अभिमान नर, नही ज्ञान का थाह।
बिंदु-तुल्य तव ज्ञान है, शेष समुद्र अथाह[1] ॥१॥

मान-मेरु के शिखर पर, नर होकर आरूढ।
गुरु को भी लघु देखता, हा! अभिमानी मूढ[2] ॥२॥

वाह्य रूप को देखकर, मत करना अभिमान।
भीतर मे है क्या भरा, देख जरा दे ध्यान? ॥३॥

एक-एक से हैं वडे, दुनियाँ मे धनवान्।
देखें उनकी ओर तो फिर न रहे अभिमान ॥४॥

विनयवान् पशु भी वने, परम प्रीति का पात्र।
विना विनय भाता नही, माँ को पुत्र कुपात्र ॥५॥

वाहुवली मुनि ने नही, जव तक मारा मान।
तव तक तप करते रहे, मिला न केवलज्ञान ॥६॥

नम सकता मानी नही, स्तम्भ-तुल्य जो स्तब्ध।
गुणवानो के गुण कभी, हो न उसे उपलब्ध ॥७॥

तुच्छ समझकर मत करो, औरो का अपमान।
दन्तिल ने करवादिया, मत्री को यह ज्ञान[3] ॥८॥

अतरंग-अरि मान है, इसका कर अवसान।
"**मुनि गणेश**" पाये तभी, उत्तम आत्मिक ज्ञान ॥९॥

---

१ माणेण अहमागई —उत्त० सू० ६—५४
न य माण मएण मज्जइ। —द० सू० ६-४
—अभिमान से अध पतन होता है। अभिमान से उन्मत्त मत वनो।
—सूत्र सरा २। २३। २४
२ (क) अन्न जण खिसइ वालपन्ने।
—अभिमानी अपने अहकार मे दूसरो को सदा विम्वभूत (परछाई के समान तुच्छ) मानता है।
३ न वाहिर परिभवे, अप्पाणं न समुक्कसे।
सुअलाभे न मज्जेज्जा, जच्चा तवसि वुद्धिए॥ —दशवै ८-३०
—दूसरो का तिरस्कार मत करो और "मैं ज्ञानी हूँ लब्धिमान हूँ जाति सम्पन्न हूँ, तपस्वी हूँ, बुद्धिमान हूँ", ऐसे अपने आपको वडा मत समझो।

८० : माया

चितन चलता और का, वाणी मे कुछ और।
करता है कुछ और ही, यह माया घन घोर[1] ॥१॥
माया-सेवी मद-धी पाता दु:ख प्रकाम।
खो देता विश्वास सब, जाता दुर्गति-धाम ॥२॥
मायाचारी मनुज का, मानस रहता म्लान।
बुरा बताते है सभी, बुध-जन बक का ध्यान ॥३॥
चाहे ठगना और को, करके माया गूढ।
वचित होता है स्वय, समझ न पाता मूढ ॥४॥
माया जननी झूठ की, माया मलिन स्वभाव।
माया से स्त्री गोत्र का, होता है उद्भाव ॥५॥
स्वाभाविक है सरलता, कृत्रिम मायाचार।
अपनाता धार्मिक पुरुष सहज सरलता सार ॥६॥
कपटी मानव कपट कर, अपना करे अनिष्ट।
क्यों न सरलता से करे, अरे! सिद्ध निज इष्ट[2] ॥७॥
माया छाया पाप की, माया शल्य महान्।
सत महाबल का यहाँ, है आख्यान प्रमाण ॥८॥
भाजन बनता प्रीति का, सरल स्वभावी जीव।
"मुनि गणेश" खल मनुज से, डरते लोग अतीव ॥९॥

---

१ मनस्यन्यद्वचस्यन्यत् कार्ये चान्यद्दुरात्मनाम्।
मनस्येक वचस्येक कर्मण्येक महात्मनाम् ॥

२ (क) सोही उज्जुयभूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई। —उत्त० सू० ३, १२
—ऋजु-सरल-आत्मा शुद्धि की ओर बढता है। धर्म शुद्ध आत्मा मे ही ठहरता है।

(ख) सच्चाण सहस्साण वि माया एक्कावि णासेदि। —भग० आ० १३८४

(ग) आर्जव धर्ममित्याहुरधर्मो जिह्म उच्यते। —म० भा०
—आर्जव-सरलता धर्म है, कुटिलता अधर्म।

(घ) सन्धयेत् सरला सूचि वक्रा छेदाय कर्तरी।—सुभाषित
—सरल सूई जोडती है कैंची काटती है।

(ङ) वह मनुष्य ईश्वर के दर्शन कर सकता है जिसका अन्त करण निर्मल और पवित्र है। —स्वेट मार्टन, सू० सा० पृष्ठ २

८१ : लोभ

लोभ लोक मे कर रहा, एकछत्र साम्राज्य।
तरु भी पैर पसारते, जहाँ मिले निधि-प्राज्य[१] ॥१॥
न्याय, नीति औ प्रीति को, लोभ न देता स्थान।
करवाता अन्याय हा!, सतो से शैतान[२] ॥२॥
लोभ वनाता मनुज को, निर्दय, दैत्याकार।
हाय! वधु भी वधु का, करता है सहार ॥३॥
लोभी नर के लोक मे, पैसे से सम्वन्ध।
वाप न समझे वाप को, हो जाता सुत अंध[३] ॥४॥
महा-शत्रु यह लोभ है, इसका जहाँ प्रसार।
पति-पत्नी मे भी नही, रहने देता प्यार[४] ॥५॥
खो देता नर लोभ-वश, जग मे निज विश्वास।
धोखा देता मित्र को, जव पाता अवकाश ॥६॥
लोभी मानव वेचता, वुद्धि, विवेक, विचार।
वेटा, वेटी, वोट भी, यह कैसा व्यवहार ॥७॥
क्या क्या करता है नही, लोभी अत्याचार।
माँ के प्राणो का किया, वेटी ने सहार ॥८॥
लोहा लो अव लोभ से, श्रेष्ठ शस्त्र संतोष[५]।
"मुनि गणेश" जीते उसे, पाता वह सुख-पोप ॥९॥

---

१ (क) अहो लोभस्य साम्राज्य-मेकच्छत्र महीतले ॥ —योगशास्त्र
(ख) लोहो सव्वविणासणो (लोभ सव कुछ नष्ट कर देता है) —द०सू० ८,३८
(ज) गेध त्रूमि महोघोत्ति (लोभ को महागर्त्त कहा जाता है)—सु०नि० ५३,११
२ (क) अनर्थानामधिष्ठानमुक्तो लोभ पितामह! —म०भा०शान्तिपर्व १५६,१
—हे पितामह! लोभ अनर्थों का अधिष्ठान—घर है।
(ख) लोभो धर्मस्य नाशाय (लोभ से धर्म नष्ट हो जाता है)।
—म०भा०सुभाषित ७१,३४
३ लोभाविले आययई अदत्त। —उत्त०सूत्र ३२-२९
(मनुष्य लोभ के वश होकर ही चोरी करता है)
४ अर्थातुराणा न गुरुर्न वन्धु., कामातुराणा न भय न लज्जा।
विद्यातुराणा न सुख न निद्रा, क्षुधातुराणा न रुचिर्न वेला ॥ —सुभाषित।
५ सर्वा सम्पत्तयस्तस्य, सन्तुष्ट यस्य मानसम्।
उपानद्गूढपादस्य, ननु चर्मावृतैव भू ॥ —हितोपेदेश २,१४४

८२ : आशा

आशा-सरिता-धार मे, बहते है सब लोग।
गिरते वे भवसिंधु मे, पाते दुःख सरोग[1] ॥१॥

आशा की यह शृंखला, बडी विचित्र नितान्त।
बद्ध मनुज नित भटकते, मुक्त बैठते शान्त ॥२॥

होता निःस्पृह व्यक्ति के, सफल परिग्रह-त्याग।
आशा त्यागी संत जन, सदा सुखी बे-लाग ॥३॥

जो आशा की वृद्धि को, रोक न सकता सद्य।
क्या वह कर सकता कभी, अनुष्ठान अनवद्य? ॥४॥

ज्यो ज्यो आशा फैलती, मानस मे अविराम।
त्यो त्यो घुलती मोह की, दृढतम ग्रन्थि प्रकाम ॥५॥

जो नर कर सकता नही, आशा का अवरोध।
क्या न वृथा उसके लिये, सब शास्त्रो का बोध ॥६॥

होता दीन अनाथ है, जो आशा का दास।
बन जाता जग-नाथ यदि, काटे आशा-पाश[2] ॥७॥

जिसके तृष्णा है अधिक, वह है रंक महान्।
योगी ने करवा दिया, राजा को यह ज्ञान ॥८॥

जिसने आशा का किया, शीघ्र मूलत. नाश।
"मुनि गणेश" वह नर करे, शांति सदन मे वास[3] ॥९॥

१ (क) हते भीष्मे हते द्रोणे, कर्णे वा त्रिदिवं गते।
आशा बलवती राजन्! शल्यो जेष्यति पाण्डवान् ॥ —म०भा०
—महाभारत के युद्ध मे भीष्म मारे गये, द्रोण मारे गये, और कर्ण भी स्वर्गवासी हुए, फिर भी दुर्योधन को यह आशा बनी रही कि शल्य पाडवो को जीत लेगा। आशा निःसन्देह बडी बलवती है।

(ख) से केयण अरिहए पूरित्तए। —आचा०सू०१,३,२
—जो अपनी सारी इच्छाएँ पूरी करना चाहता है, वह चलनी को पानी से भरना चाहता है।

२ आशाया ये दासास्ते दासा सर्वलोकस्य।
आशा येषा दासी, तेषा दासायते लोक ॥ —सुभाषित ॥

३ आशा हि परम दुःख, नैराश्य परम सुखम्। —महाभारत शान्ति पर्व १७४।६५
—आशा परम दुःख है और निराशाभाव परम सुख है।

८३ : काम

काम करो तो वह करो, काम न आये पास।
वही काम, वस काम है, करे काम का नाश ॥१॥

मिले सफलता काम मे, मत करना अभिमान।
निष्फलता मे नित रखो, हिम्मत धैर्य महान् ॥२॥

जिसके मन मे काम है, वहाँ नही आराम।
काम-कामना त्याग से, मिलता है शिवधाम ॥३॥

अपने से जिस काम को, समझ रहा प्रतिकूल।
उसको औरो के लिये, करना, जाओ भूल[1] ॥४॥

भला करे मेरा सभी, यदि तेरी यह चाह।
तू भी कर सव का भला, यही सही है राह ॥५॥

दिखला ऐसा काम कर, लोग करे सव याद।
ज्यो मीठे पकवान का, रहता स्मृति मे स्वाद ॥६॥

होता नही अछूत है, नर करने से काम।
क्या न उठाती पुत्र की, माता अशुचि तमाम ॥७॥

होता है संसर्ग से, पैदा काम-विकार।
घटना रूपी-राय की, शिक्षाप्रद साकार ॥८॥

"**मुनि गणेश**" नर काम जो, करता वन निष्काम।
होता उत्तम काम तव, और जगत् मे नाम ॥९॥

---

१ (क) ज इच्छसि अप्पणतो ज च ण इच्छसि अप्पणतो।
त इच्छ परस्स वि एत्तियग जिणसासणय ॥ —वृ क-भा-४५८४

—जो तू अपने लिए चाहता है, वह दूसरो के लिए भी चाह, जो तू अपने लिए नही चाहता, उसे दूसरो के लिए भी मत चाह। वस जिन-शासन को-अर्हन्तो की देशना का सार इतना ही है।

(ख) श्रूयता धर्म सर्वस्व, श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मन प्रतिकूलानि, परेषा नो समाचरेत् ॥
—पद्मपुराण सृष्टि खड १९-३५७

—धर्म को भलीभाँति सुने और सुनकर यह निश्चय करें कि अपने को जो नही भाता, वह दूसरो के लिए भी नही करना चाहिए।

(ग) अगर मुस्लिम होना चाहता है तो जो कुछ अपने लिए अच्छा समझता है, वही सवके लिए अच्छा समझ। —तिरमिली

८४ : विजय

जीते अरि दस लाख जो, यह क्या तेरी जीत ? ।
जीते अपने आप को, वही जीत है मीत[1] ॥१॥
विश्व-विजेता पुरुष हैं, जग मे आज अनेक ।
किन्तु आत्म-जेता मिले, विरला कोई एक ॥२॥
प्रमुदित होता जीतकर, औरों को अनजान ।
किन्तु आत्म-जय के विना, पर-जय स्वप्न समान ॥३॥
अपने पर शासन करे, दुःख मे हो न अधीर ।
कहलाता इस विश्व मे, वह नर सुधी-सुवीर ॥४॥
जीत लिया जो एक को, उसने जीते पाँच ।
फिर यह दस को जीतकर, जीते जग यह साँच ॥५॥
वाह्य शत्रु को मारना, विजय नही, यह हार ।
जो चाहे अपनी विजय, अंतरंग-अरि मार ॥६॥
अति दुष्कर है आत्म-जय, वाह्य विजय आसान ।
सिंह-गुफा-वासी चरित, रख न सका अम्लान ॥७॥
सत्यनिष्ठ नर की विजय, होती है साक्षात् ।
मणिशेखर को मिल गया, मत्री-पद अवदात ॥८॥
आत्म-विजय है परम जय, अपर विजय है हार ।
"मुनि गणेश' मुनिजन करे, आत्म-विजय अविकार ॥९॥

---

१ (क) जे एग नामे से बहुं नामे । —आचा०सू०१,३,४
—जो एक (मन) को नत करता है—जीतता है, वह विश्वविजयी है ।
—उत्तरा०सू०९,३६
(ख) सव्वमप्पेजिए जिय (जो आत्म-विजयी है; वह विश्व-विजयी है)
—उत्तरा०सू०९,३६
(ग) जितं जगत् केन मनो हि येन । —श०प्र०११
—सारे जगत् को किसने जीता ? जिसने अपने मन को जीत लिया ।
(घ) अप्पाणमेव जुज्झाहि । —उत्त०सू०९।३५
(ङ) बाहर के शत्रुओ से न उलझकर अपने भीतर के शत्रुओ से जूझो । बाहरी भयो से मुक्ति पा लेने पर भी भीतर के दुश्मनो—काम, क्रोध, मोह और लोभ से छुटकारा पाना और भी कठिन हो जाता है ।
—गा०सू० पृष्ठ १२
(च) जितक्रोधेन सर्व जगदेतद्विजीयते (कथा सरित्सागर)

८५ : लोभ-विजय

सन्तोषी मानव सुखी, लोभी दुखी नितान्त ।
आत्मार्थी सन्तोष से, करे लोभ को शान्त[1] ॥१॥

लेकर जा सकता नही, पर-भव मे धन साथ ।
क्यो सग्रह फिर कर रहा, जाना खाली हाथ ? ॥२॥

हो न सके परिजन सुखी, सचित धन से मूढ ।
सुख-प्रद निज आचार है, समझ तत्त्व यह गूढ ॥३॥

लोभी धन-अर्जन करे, आजीवन अविराम[2] ।
तृष्णा को त्यागे विना, कव मिलता आराम ? ॥४॥

जिस मानव ने कर लिया, सतोषामृत-पान ।
परम शाति वह पा सका, सुखी नही धनवान[3] ॥५॥

सव द्रव्यो को भोग कर, पुन. किया है त्याग ।
भुक्त-वान्त भोजन सदृश, करें न उनसे राग[4] ॥६॥

जिसका मन निर्ग्रन्थ है, सचमुच वह निर्ग्रन्थ ।
वाह्य-परिग्रह त्याग ही, है न सत का पथ ॥७॥

ज्यो-ज्यो वढता लाभ है, त्यो-त्यो वढता लोभ ।
कव मिटता सतोष विन, कपिल-चित्त का क्षोभ ॥८॥

सन्तोषाञ्जन से सदा, अञ्जित-नयन "**गणेश**" ।
सच्चा सुख वह देखता, लोभी दुखी विशेष ॥९॥

---

१ सतोपामृततृप्ताना यत्सुख शान्तचेतसाम् ।
कुतस्तद्धन-लुब्धानामितश्चेतश्च धावताम् ॥ —सुभाषित

२ लुद्धा धन सन्निचय करोति (लोभी धन का सचय करता है) —थे०गा०७७९

३ (क) सतोषमूल हि सुख, दुःख-मूल विपर्यय । —म०स्मृ०४,१२
—सुख का मूल सतोप है और दुःख का मूल तृष्णा ।
(ख) सतोसिणो नो पकरेंति पाव (सतोषी व्यक्ति पाप कर्म नही करते) —सू०कृ०१,१२,१५
(ग) असन्तुष्ट मनुष्य ससार मे अधिक दिनो तक जीवित नही रहते । —शेक्सपीयर सू०सा० पृष्ठ ३०

४ ससार चक्कवालम्मि, मए सव्वेवि पुग्गला ।
बहुसो आहारिदाय परिणामिदाय, ण य मे गदा तित्ती ॥

८६ : मान-विजय

मान मूल है पाप का, विनय धर्म का मूल।
साधक को जिसके विना, मिले न फल अनुकूल[1] ॥१॥
सफल सभी सुविनीत के,—ज्ञान, ध्यान, व्याख्यान।
विना विनय अविनीत के, ऊपर-वृष्टि समान[2] ॥२॥
नम्र कर लेना सहज है, गुरु से विद्या-दान।
विना झुके क्या ले सके, सर से, जल अम्लान ? ॥३॥
होता है सुविनीत के, सम्यग् परिणत ज्ञान।
कर पाता है वह अत., आत्मा का उत्थान ॥४॥
उत्तम भाजन ज्ञान का, विनयवान् मतिमान्।
देना ज्ञान अपात्र को, है भुजग पय-पान[3] ॥५॥
भाता है सुविनीत नित, करते सब सत्कार।
प्रमुदित हो जाते सभी, देख नम्र व्यवहार ॥६॥
सद्गुण आते हैं स्वत विनयवान् के पास।
सलिल जलाशय मे स्वय, आता विना प्रयास[4] ॥७॥
ग्रहण किया जो विनय से, ज्ञान वही फलवान्।
सच्चा निकला सब जगह, शिष्य विनीत महान् ॥८॥
विनयवान् के सकल जग, हो जाता है स्वीय।
"मुनि गणेश" अविनीत के, स्वीय बने परकीय ॥९॥

---

१ (क) विणओ सासणे मूल; विणीओ सजओ भवे।
विणयाओ विप्पमुक्कस्स, कओ धम्मो कओ तवो। —विशेपा०भा०३४६८
—विनय जिनशासन का मूल है। विनीत ही सयमी हो सकता है। जो विनय से हीन है उसका धर्म और क्या तप ?
(ख) विणयमूले धम्मे पन्नते।—ज्ञाता १।५ धर्म का मूल विनय=आचार है।

२ सकलगुणभूषा च विनय (विनय ही समस्त गुणो का शृगार है। विनय से ही सभी गुण शोभा पाते हैं।

३ विद्यया सहमर्त्तव्य, कुशिष्याय न दापयेत्,
तथापि दीयते विद्या, पश्चात् सजायते रिपु ॥

४ (क) वृद्धेष्वनुद्धता चारो, ना महिम्नानुबध्यते।
कुलशैलानऽनुत्क्रामन् सरिद्भि पूर्यतेऽर्णव.। —अनगार धर्मामृत १९
(ख) विनयायत्ताश्च गुणा सर्वे (प्रशमरति)
—समस्त गुण विनय के ही अधीन होते हैं।

८७ : क्रोध-विजय

क्रोध करता क्रोध का, क्रोधी पर ही वार।
क्षमाशील के साथ वह, क्षण मे जाता हार[१] ॥१॥
क्रोधी को क्रोधी मिले, तब बढता है क्रोध।
क्षमाशील नर के निकट, होता सान्त विरोध ॥२॥
क्रोधी नर के साथ जो, करता मानव क्रोध।
उसे बनाता है बली, दे निज शक्ति अबोध ॥३॥
यदि क्रोधी को जीतना, (तो) करो न उस पर क्रोध।
सहनशीलता से मिटे, जग मे सहज विरोध[२] ॥४॥
क्यो न मौन-धारण करे, जब हो घर मे क्रोध।
सबसे श्रेष्ठ उपाय यह, बढे न वैर-विरोध ॥५॥
खाना पीना बोलना, करना कोई काम।
क्रोध-दशा मे देखलो, इनका कटु परिणाम ॥६॥
क्रोधी क्रोधावेश मे, कहे सत्य भी बात।
है असत्य के तुल्य वह, भान बिना साक्षात्[३] ॥७॥
क्षमाशील नर पा सके, जग मे सिद्धि महान्।
कूरगडुक मुनि को मिला, अविचल केवलज्ञान ॥८॥
जीते जो नर क्रोध को, वह वीरो का वीर।
"**मुनि गणेश**" बनता सुखी, पाता भव-जल-तीर[४] ॥९॥

---

१ क्षमा खड्ग करे यस्य दुर्जन किं करिष्यति ?
—क्षमा रूप तलवार जिसके हाथ मे है, तो फिर दुष्ट पुरुष उसको क्या हानि पहुँचा सकेंगे।

२ क्षमी यत् कुरुते कार्यं न तत्क्रोध-वशवद । —सुक्ति मुक्तावली।
—क्षमावान् पुरुष जितना कार्य करने मे शक्तिशाली होता है, उतना क्रोध के अधीन रहा हुआ पुरुष नही कर सकता ॥

३ कोवाकुलचित्तो ज सतमवि भासति, त मोसमेव भवति । —दशवै० चू०७
—क्रोध से क्षुब्ध हुए व्यक्ति का सत्य भाषण भी असत्य ही है।

४ स शूर. सात्त्विको विद्वान् स तपस्वी जितेन्द्रिय ।
येन क्षान्त्यादिखड्गेन क्रोध शत्रुर्निपातित । —पद्मपुराण
खतिसूरा अरिहता ।—स्थानाग ४।३।३१७ अरिहन्त् भगवान क्षमा करने मे शूर होते हैं।

८८ : दम्भ-विजय

कठिन न रस का त्याग है, कठिन न भोग-विराग।
कठिन न धन का त्याग है, कठिन दम्भ का त्याग[1] ॥१॥

ज्ञान-ध्यान सब व्यर्थ है, जहाँ दम्भ-आचार।
होता अंध-समाज मे, दिव्य दीप बेकार ॥२॥

दम्भ-भाव से पा सके, कैसे भव का पार।
बिना शल्य-उद्धार के, कैसे हो उपचार? ॥३॥

दूषित होता दम्भ से, उत्तम साध्वाचार।
काक पदादिक दोष से, अर्घ्य-रत्न नि सार ॥४॥

दोष छिपाकर दम्भ मे, दम्भी बने अदोष।
करता आत्म-विडम्बना, आत्म-गुणो को शोष[2] ॥५॥

करे नही सम्यक् क्रिया, सहे नही व्रत-भार।
फिर भी दम्भी मानता, अपने को अविकार ॥६॥

दम्भ-भाव स्त्री-गोत्र का, है कारण साक्षात्।
घटना मल्लीनाथ की, ज्ञाता मे विख्यात[3] ॥७॥

घडा दम्भ का फूटता, इक दिन अपने आप।
हार सेठ को मिल गया, प्रकट हुआ सब पाप ॥८॥

होता साधक के लिये, हितकर दम्भ न लेश।
स्वल्प छिद्र भी पोत मे, श्रेष्ठ न "संत गणेश" ॥९॥

---

१ जई वि य णिगणे किसे चरे, जइ वि य भु जे मासमतसो।
जे इह मायाइ मिज्जइ-आगता गब्भायऽणतसो ॥ —सू०कृ०८-१।२।१।९

२ दुस्त्यज दम्भ-सेवनम् (दम्भ-अहकार का त्याग करना अति कठिन होता है)

३ (क) नृणाम् स्त्रीत्वप्रदा माया (स्त्री वेद की प्राप्ति माया से ही होती है)
—विवेक विलास

(ख) जह वा विसगडूम, कोई घेत्तूण नाम तुण्हिक्को।
अण्णेण अदीसतो, किं नाम तत्तो न व मरेज्जा। —सू०नि०गाथा ५२
—जिस प्रकार कोई चुपचाप लुक-छिपकर विष पी लेता है, तो क्या वह उस विष से नही मरेगा? अवश्य मरेगा। उसी प्रकार जो छिपकर पाप करता है, तो क्या वह दूषित नही होगा? अवश्य होगा।

८९ : इन्द्रिय-संयम

श्रोत्रेन्द्रिय-सयम विना, पाता कष्ट महान् ।
रागातुर-मृग पाश में, पडकर खोता प्राण[1] ।।१।।

नेत्रेन्द्रिय-सयम बिना, पाता कष्ट महान् ।
रूपातुर हो दीप मे, शलभ छोडता प्राण ।।२।।

घ्राणेन्द्रिय-संयम विना, पाता कष्ट महान् ।
गधातुर होकर मधुप, खोता अपने प्राण ।।३।।

रसनेन्द्रिय-सयम विना, पाता कष्ट महान् ।
रसासक्त मछली तजे, असमय अपने प्राण ।।४।।

स्पर्शेन्द्रिय-सयम विना, पाता कष्ट महान् ।
मगर सलिल-रत महिष के, हर लेता है प्राण ।।५।।

करे नियन्त्रण मन नही, पाता कष्ट महान् ।
कामातुर गज भोगता, परवशता दु ख-खान ।।६।।

एक इन्द्रियाधीन भी, पाता दु ख-सघात ।
पाँचो के वश मे रहे, उस नर की क्या वात[2] ? ।।७।।

क्या कर सकती इन्द्रियाँ, यदि मन हो मजबूत ।
कालिदास की है कथा, सचमुच साक्षीभूत ।।८।।

विषयो से वैराग्य है, अवगुण-इंधन-आग ।
"मुनि गणेश" इन्द्रिय-जयी, पाता शाति पराग ।।९।।

---

१ रागाउरे से जह वा पयगे, आलोयलोले समुवेई मच्चु । —उत्त०सू०३२,२४
—राग से आतुर बना हुआ मनुष्य लौ पर जलने वाले पतगो की तरह मृत्यु को प्राप्त होता है ।

२ शब्दादिभि पञ्चभिरेव पञ्चु पञ्चत्वमापु स्वगुणेन बद्धा ।
कुरङ्गमातङ्गपतङ्गमीन-भृगानर पञ्चभिरचित किम् ।। —वि०चू०७८
—अपने-अपने स्वभाव के अनुसार शब्दादि पाँच विषयो मे से केवल एक-एक से बधे हुए हरिण, हाथी, पतग, मछली और भौंरे जब मृत्यु को प्राप्त होते हैं तो इन पाँचो से जकडा हुआ मनुष्य कैसे बच सकता है ।

६० : इन्द्रिय-जय

ग्रहण न विषयो का रुके, स्वाभाविक यह बात।
उनसे जो निर्लिप्तता, इन्द्रिय-जय अवदात[1] ॥१॥

यदि इच्छुक आनन्द का, भव के भय से भीत।
निजस्वरूप मे रमण कर, विषय-वासना जीत ॥२॥

जो विरक्त ससार से, करते तप अविराम।
क्या न उन्हे भी बाँधते, दुर्जय इन्द्रिय-ग्राम ॥३॥

तृष्णा-जल से पूर्ण जो, इन्द्रिय-गण-आवाल।
विकृतिरूप तरु का तत होता गात्र विशाल ॥४॥

विषय इन्द्रियो के नही, रह पाते चिर रम्य।
रम्य और अरम्य ये, पुद्गल-परिणति-गम्य[2] ॥५॥

रम्य रूप-रस आदि से, जो न करे अनुराग।
द्वेष न कभी अरम्य से, है यह भोग-विराग ॥६॥

मृग-तृष्णा के सदृश है, इन्द्रिय-विषय ललाम।
हाय! मूढ उनके लिये, दौड रहा अविराम ॥७॥

गुप्तेन्द्रिय मुनिवर सदा, रहते सुखी नितान्त।
दो कछुओ का है यहाँ, शिक्षाप्रद दृष्टान्त ॥८॥

सुगुरु-वचन-रत विरत नित, सतत योग-अभ्यास।
"**मुनि गणेश**" इन्द्रिय जयी, पाता परम प्रकाश ॥९॥

---

१ न सक्का न सोउ सद्दा सोतविसयमागया।
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए॥ —आ०चा०सू०२-३-१५-१३१
—यह शक्य नही है कि कानो मे पडने वाले अच्छे या बुरे शब्द सुने न जाये। अत: शब्दो का नही, शब्दो के प्रति जगने वाले राग-द्वेष का त्याग करना चाहिए।

२ सुरूवा वि पोग्गला दुरूवत्ताए परिणमंति,
दुरुवा वि पोग्गला सुरूवत्ताए परिणमंति। —ज्ञाता १-१२
—सुरूप पुद्गल (सुन्दर वस्तुए) कुरूपता मे परिणत होते रहते हैं। और कुरूप पुद्गल सुरूपता मे।

९१ : मौन

वाणी-सयम मौन है, शस्त्र वडा वलवान् ।
धारण करते हैं इसे, धीर, वीर, विद्वान्[1] ॥१॥

मौन रहे पर-भीति से, उसे भीरु पहचान ।
वाणी का सयम रखे, है वह मौन महान् ॥२॥

काम पडे जव मूर्ख से, मौन रहे मतिमान् ।
हो न अनादर वचन का, मिलता लाभ महान्[3] ॥३॥

उन्नतिकारक मौन है, किन्तु न वचन विधान ।
हार शोभता कण्ठ मे, नूपुर चरण स्थान ॥४॥

अवसर की जो मौन है, वहुत वडी वह चीज ।
मिले लाभ यदि समय पर, वोया जाये वीज ॥५॥

सवसे उत्तम मौन है, इससे लाभ महान् ।
कलह कदाग्रह का स्वत, हो जाता अवसान[3] ॥६॥

हो जाते है मौन से, सार्थक कार्य समस्त ।
कहा वीरवल ने प्रभो, रखना मौन प्रशस्त[4] ॥७॥

हो जाता है मौन से, झगडे का अवसान ।
सवसे मीठी चुप अत, है वूढे का गान ॥८॥

रखना मौन प्रशस्त है, जव हो मानव क्रुद्ध ।
वेग न वढता क्रोध का, "**मुनि गणेश**" मन शुद्ध ॥९॥

---

१ (क) मुणी मोण समादाय, धुणे कम्म सरीरग। —आचा०सू०१,२,५
—मुनि मौन का अवलम्वन कर अपने कर्म क्षीण करता है ।
(ख) वाणी का वर्चस्व रजत है, किन्तु मौन कचन है । —दिनकर, उर्वशी

२ दर्दु रा यत्र वक्तारस्तत्र मौन हि शोभनम् । ४६
—मेढको के समान मूर्ख पुरुष ही जहाँ पर वोलने वाले हो, वहाँ पर विवेकशील पुरुषो के लिए मौन धारण करना ही शोभा-रूप है ।

३ पठतो नास्ति मूर्खत्व, जपतो नास्ति पातकम् ।
मौनिन कलहो नास्ति, न भय चास्ति जाग्रत.॥ —सुभाषित

४ मौन सर्वार्थसाधकम् ।
—मौन रहना मन-वचन-काया का गुप्ति 'धर्म रूप' है अत. यह सभी कामनाओ को सफल करने वाला है ।

९२ : मैत्री का आयाम

राग-द्वेष के क्लेश का, रहे न नाम-निशान ।
मङ्गलमय यह भावना, है मैत्री सुख-खान[1] ॥१॥

मैत्री-रस रस मे सरस, गतरस वैर-विरोध ।
परम मित्र प्राणी सभी, हो यह सबको बोध ॥२॥

सब हो पूर्ण समाधिमय, सब हो प्रज्ञावान् ।
शीलवान सब सत्व हो, ज्ञानवान् भगवान् ॥३॥

सब जीवो का हो भला, सबका हो कल्याण ।
सब प्राणी निर्भय बने, सब पाएँ निर्वाण ॥४॥

सबका हो मगल सदा, सब हो निर्मल नीर ।
जागरूक सब जीव हो, धर्म-धीर तप-वीर ॥५॥

परम सुखी हो स्वस्थ हो, समदर्शी हो शुद्ध ।
सकल कर्म मल रहित हो, वीतराग हो बुद्ध[2] ॥६॥

आत्मार्थी हो अमर हो, पाप-भीरु हो जीव ।
सुख-दुःख मे हो सम सदा, करुणावान् सजीव ॥७॥

नही किसी से राग है, नही किसी से द्वेष ।
सुनलो कब्रिस्तान का, शिक्षाप्रद सन्देश ॥८॥

अनासक्त अविकार हो, उदासीन स्वाधीन[3] ।
"**मुनि गणेश**" सब जीव हो, निज आत्मा मे लीन ॥९॥

---

१ (क) खामेमि सव्वजीवे, सव्वे जीवा खमंतु मे ।
मित्ती मे सव्व भूएसु, वेर मज्झ न केणई ॥ —आव०आ०४
(ख) मेत्त च सव्व लोकस्मि । —सु०नि०८।८
(ग) मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे । —य०वे०३६।१८
(घ) सर्वा आशा मम मित्र भवन्तु । —अ०वे०१९।१५।६

२ सर्वे भवन्तु सुखिन , सर्वे सन्तु निरामया ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःख भाक् भवेत् ॥

३ निम्ममो निरहकारो, निस्सगो चत्तगारवो ।
समो य सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु य ॥
—"ममत्व रहित, अहकार रहित, निर्लेप, गौरव को त्यागने वाला त्रस और स्थावर सभी जीवो मे समभाव रखने वाला ॥

६३ : सह-अस्तित्व

अंगुलियो मे था छिडा, पद के लिये विवाद।
अगूठे को अव सभी, सुना रही सवाद ॥१॥

वतला रही विशेषता, अपनी साहूकार।
सवसे पहले तर्जनी प्रकट करे उद्गार ॥२॥

पथ दिखलाती पथिक को, जो भूला है राह।
देती हूँ मैं तर्जना, जो है लापरवाह ॥३॥

चित्र वनाती मैं सदा, मैं लिखती हूँ लेख।
मैं वड़ी सवसे अत, इसमे मीन न मेख ॥४॥

कहा मध्यमा ने तदा, मेरा गुरु आकार।
वीणा की ध्वनि से करूँ, प्रमुदित सव ससार ॥५॥

देवो की पूजा करूँ, स्वस्तिक मगल कार्य।
अनामिका यो कह रही, मैं महान् अनिवार्य ॥६॥

गूँज रहा इतिहास मे, मेरे वल का गान।
कथन कनिष्ठा का सुनो, मैं सवसे वलवान् ॥७॥

अंगूठे ने तव कहा, है यह झगडा व्यर्थ।
अपने अपने स्थान पर, सभी महान् समर्थ[1] ॥८॥

वहिनो! सह अस्तित्व का, अपनाओ सिद्धान्त।
सैनिक टुकडी का यहाँ, "**मुनि गणेश**" दृष्टान्त ॥९॥

---

१ (क) तम्हा सव्वे वि णया, मिच्छादिट्ठी सपक्खपडिवद्धा।
अण्णोण्णणिस्सिया उ ण, हवति सम्मत्तसब्भावा -। —सन्मति० १।२१
— अपने अपने पक्ष मे ही प्रतिवद्ध परस्पर निरपेक्ष सभी नय (मत) मिथ्या हैं, असम्यक् हैं। परन्तु ये ही नय जव सापेक्ष होते हैं तव सत्य एव सम्यक वन जाते हैं।

(ख) सव्वे वि होति सुद्धा, नत्थि असुद्धो नयो उ सट्ठाणे। —व्य०भा०पी४७
—सभी नय (विचार दृष्टियाँ) अपने अपने स्थान (विचार केन्द्र) पर शुद्ध हैं। कोई भी नय अपने स्थान पर अशुद्ध (अनुपयुक्त) नही है।

(ग) सर्वेऽपि यत्र नेतार सर्वे पडितमानिन।
सर्वे महत्वमिच्छति तद् राष्ट्र विद्धि दु खितम्। —महाभारत
—जहाँ सभी नेता हैं, स्वय को पडित मानते हैं, महत्व चाहते हैं, उस राष्ट्र को दु खी जानना चाहिए।

९४ : अणु-व्रत

व्रत अणु भी है लाभकर, आत्मा वने विशुद्ध।
एक बूंद भी अमृत की, जीवन करे प्रबुद्ध[1] ॥१॥
मोडे अणुव्रत मनुज को, नैतिकता की ओर।
ज्यो घोडे को मार्ग पर, ले आती है डोर ॥२॥
अणु-व्रत करे अनीति पर, सीधा एक प्रहार।
जिससे रह पाता नही, जग मे दुर्व्यवहार ॥३॥
जाति आदि के भेद को, देता कभी न स्थान।
अणु-व्रत आदोलन करे, मानव का उत्थान[2] ॥४॥
अणु-व्रत जग मे चमकता, जैसे मणि वैडूर्य।
मानवता की भूमि पर, उदय हुआ यह सूर्य ॥५॥
इच्छाएँ सीमित करो, यही शाति का द्वार।
होती है वे नियम से, उत्तम यह उपचार[3] ॥६॥
संयम ही जीवन सरस, अणु-व्रत का यह घोप।
मिले नही इसके विना, मानव को सतोष ॥७॥
पाप न कर सकता कभी, जिसके व्रत साकार।
नही चलाई सुलस ने, भैसे पर तलवार ॥८॥
नियमित जीवन के विना, हो सकता न विकास।
"मुनि गणेश" सदुपाय है, अणु-व्रत का अभ्यास ॥९॥

---

१ स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।
—धर्म का थोडा भी आचरण महान् भय से वचा लेता है।

२ (क) सक्ख खु दीसई तवो-विसेसो।
न दीसई जाइ विसेस कोई ॥ —उत्त०सू० १२,३७
—जाति की कोई विशेपता नही है, तपस्या का ही प्रभाव साक्षात् देखा जाता है।

(ख) शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्। —म०स्मृ० १०,६५
—अच्छे आचरण से शूद्र ब्राह्मण हो सकता है, और बुरे आचरण से ब्राह्मण शूद्र वन जाता है।

३ इच्छा वहुविहा लोए, जाए वद्धो किलिस्सति, तम्हा इच्छामणिच्छाए जिणित्ता सुहमेघति ॥ —ऋपिभापित ४०।१
—ससार मे इच्छाए अनेक प्रकार की हैं, जिनसे वँधकर जीव दुखी होता है। अत इच्छा को अनिच्छा से जीतकर साधक सुख पाता है।

९५ : नीति [१]

धन के भाव-अभाव मे, ऊँच नीच का भाव।
हुआ इसी से नीति के, उर मे गहरा घाव[१] ॥१॥

देकर पर को दुःख जो, भोग रहा सुख आज।
देखेगा कल दुःख वह, इसका नही इलाज[२] ॥२॥

भूख बुरी है नाम की, कैसे हो यह शात।
काम विना है नाम की, इच्छा व्यर्थ नितान्त ॥३॥

उत्तम जग मे एकता, कहते है सब लोग।
पर, उसका आधार हो, उच्चाचार अरोग ॥४॥

शोषण जनता का करे, भरे सदा निज-गेह।
तिरस्कार के पात्र वे, बनते निःसन्देह ॥५॥

सुख-दुःख वे ही भोगते, जो हैं मनुज महान्।
बढता घटता चन्द्रमा, तारे रहे समान[३] ॥६॥

बोले हित-मित सत्यप्रिय, शास्त्र ज्ञान-गम्भीर।
नित विकसित आनन रहे, वह बढता नर-वीर[४] ॥७॥

सचमुच ही नर जन्म है, एक दिवस का राज्य।
सुयश कमाया एक ने, पर ने अपयश प्राज्य ॥८॥

पर-निन्दा, निज-स्तुति करे, द्वेष सुजन के साथ।
ये कारण है पतन के, "**मुनि गणेश**" सच वात[५] ॥९॥

---

१ गुरुत्व च लघुत्व च, श्रीभावाभावतो जडा ।
वदन्ति तत् पुनर्दक्षा सद्विवेकाविवेकत ॥

२ (क) कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि । —उत्त०सू०४,३
—विना भोगे, किये हुए कर्मों से मोक्ष-छुटकारा-नही होता।
(ख) अवश्यमेव भोक्तव्य कृत कर्म शुभाशुभम् । —वि०चू०

३ सपदो महतामेव, महतामेव चापद ।
वर्धंते क्षीयते चन्द्रो, न तु तारागण क्वचित् ॥ —सुभाषित

४ अ-परद्रोहक वाक्य, प्रसन्ना वदनद्युति ।
मानस श्रुतगभीर, नरमूर्ध्वं नयन्त्यमी ॥

५ स्वश्लाघा पर-निन्दा च मत्सरो महता गुणे ।
असंबद्धप्रलापित्वमात्मान पातयत्यध ॥

८६ : नीति [२]

दु ख पूर्ण ससार मे, कहाँ शान्ति का काम।
मरु-थल मे कैसे मिले, रे नर! मीठे आम[१] ॥१॥

काम नही जिससे कभी, क्यो ले उसका नाम।
हाथी सस्ता भी मिले, (पर) निर्धन-हित वेकाम ॥२॥

रहता कोई भी नही, जग मे एक समान।
क्या घटता वढ़ता नही, सदा चन्द्र द्युतिमान ॥३॥

गर्हित कर्मो के लिए, अवसर मिले अनेक।
पर, सत्कर्मों के लिए, दुर्लभ अवसर एक[२] ॥४॥

जिसको अपनी भूल का, हो जाता है भान।
यह उसके उत्थान का, शुभ लक्षण पहचान ॥५॥

मन पावन, वाणी मधुर, सवसे सद्-व्यवहार।
रमण सदा निज-रूप मे, मानव का आचार ॥६॥

कार्य न कल पर छोडना, कल का क्या विश्वास।
पता किसे है आज ही, रुक जाये यह श्वास[३] ॥७॥

करो भला होगा भला, है यह नीति उदार।
वुढिया के ही मर गए, सैनिक वेटे चार ॥८॥

अपनी स्तवना की तरह, सुन पर-निन्दा वाद।
लज्जित होते सत्पुरुष, "**मुनि गणेश**" अविवाद[४] ॥९॥

---

१ जम्म दुक्ख जरा दुक्ख रोगा य मरणाणि य।
अहो दुक्खो हु ससारो जत्थ कीसन्ति जतवो ॥ —उत्त०सू०१९-१५

२ जुद्धारिह खलु दुल्लह। — आचा०सू०१।५।४६
—विकारो से युद्ध करने के लिए फिर यह अवसर मिलना दुर्लभ है।

३ जस्सत्थि मच्चुणा सक्ख, जस्स वऽत्थि पलायण।
जो जाणे न मरिस्सामि, सो हु कखे सुए सिया॥ —उत्त०सू०१४-२७
—जिसकी मृत्यु के साथ मित्रता हो, जो उससे कही भागकर वच सकता हो, अथवा जो यह जानता हो कि मैं कभी मरूँगा ही नही, वही कल पर भरोसा कर सकता है।

४ स्व प्रशसेवान्यनिन्दा, सता लज्जाकरी खलु। —त्रिषष्ठि० ४।१
—स्व प्रशसा की तरह पर-निन्दा भी सत्पुरुषो के लिए लज्जा की वस्तु है।

९७ : उच्चाचार

ऊँच-नीच का हो चरित, एक मात्र आधार।
तभी फलेगा जगत मे, उच्चाचार उदार ॥१॥

त्यागी के क्या हो कभी, शोक और दुख-द्वन्द्व।
सयम-रत के हैं सदा, भाव विमल निर्द्वन्द्व[1] ॥२॥

सुख का साधन धन नही, जब हो यह विश्वास।
होगा जनता मे तभी, उच्च चरित्र-विकास[2] ॥३॥

जब तक चरणो मे झुके, त्यागी के धनवान्।
तब तक रहा चरित्र का, सबसे ऊँचा स्थान ॥४॥

सदाचार धन श्रेष्ठ है कल्पवृक्ष उपमान।
रक्षा कर इसकी सदा, धन है धूल समान[3] ॥५॥

अमर वही मानव सदा, जिसका उच्च चरित्र।
जीवित भी मृत-तुल्य है, यदि जीवन अपवित्र[4] ॥६॥

जीवन मे अनिवार्य है, सत्य धर्म का वास।
दुनियाँ मे इसके बिना, उठ जाता विश्वास ॥७॥

होता कभी न जन्म से, नीचा और महान्।
हरिकेशी मुनि ने कहा, है चारित्र प्रधान[5] ॥८॥

सदा सुरक्षित रख सके, अपना जो चारित्र।
"मुनि गणेश" वह विश्व का, रक्षक परम पवित्र ।९॥

---

१ का अरई के आणदे ? —आचा० १।३।३
—ज्ञानी के लिए क्या सुख क्या दु ख ? कुछ भी नही ।

२ अर्थानामर्जने दु खमर्जिताना च रक्षणे ।
आये दु ख व्यये दु ख धिगर्थं दु ख-भाजनम् ॥

३ वृत्त यत्नेन सरक्षेद्, वित्तमायाति याति च ।
अक्षीणो वित्तत क्षीणो, वृत्ततस्तु हतोहतः ॥

४ यस्य धर्म-विहीनस्य, दिनान्यायान्ति यान्ति च ।
स लोहकार भस्त्रेव, श्वसन्नपि न जीवति ॥

५ शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् । —मनुस्मृति १०।६५
—अच्छे आचरण से शूद्र ब्राह्मण हो सकता है और बुरे आचरण से ब्राह्मण शूद्र ।

९८ : कर्तव्य

निज आतमा का हित सधे, हो न किसी को कष्ट।
कार्य वही कर्तव्य है, जिससे दुर्गुण नष्ट[1] ॥१॥
अन्त भले का है भला, करो भला दिन-रात।
अन्त बुरे का है बुरा, देखो हाथो-हाथ ॥२॥
जीवन मे यदि हो गया, एक वार दुष्कर्म।
मन को वश करके करो, फिर न कभी वह कर्म[2] ॥३॥
मानव का कर्तव्य है, करना क्षमा-प्रदान।
पनपाता जो शत्रुता, वह दानव पहचान ॥४॥
सवके प्रति सम-भावना, गुणि-जन से अनुराग।
पीडित जीवो पर दया, हितकर भोग विराग ॥५॥
मानव का कर्तव्य है, करना निज-उत्थान।
चले पतन के पंथ पर, पशु-सम वह पहचान ॥६॥
जन-रंजन के हेतु जो, तजता धर्माचार।
स्तुत्य न होता वह कभी, ज्यो वेश्या-शृंगार ॥७॥
सदाचार से पुरुष को, मिलता है सम्मान।
राजपुरोहित की कथा, सुनलो देकर ध्यान ॥८॥
अहित न अरि का भी करे, देखे अपने दोष।
"मुनि गणेश" ईर्ष्या तजे, करे न निन्दा रोष ॥९॥

---

१ दोषा जेण निरुभति, जेण खिज्जति पुव्वकम्माइ।
सो सो मोक्खोवाओ रोगावत्थासु समण व ॥ —नि०भा०५२५०,वृह०भा०३३३१
—जिस किसी भी अनुष्ठान से रागादि दोषो का निरोध होता हो तथा पूर्व सचित कर्म क्षीण होते हो, वह सब अनुष्ठान मोक्ष का साधक है जैसे कि रोग को शमन करने वाला प्रत्येक अनुष्ठान चिकित्सा के रूप मे आरोग्यप्रद है।

२ (क) अज्ञानाद् यदि वा ज्ञानात्, कृत्वा कर्म विगर्हितम्।
तस्माद्विमुक्तिमन्विच्छन् द्वितीय तन्न समाचरेत् ॥ —म०भा०
—जान मे या अनजान मे पाप-कर्म करके यदि कोई मनुष्य उससे मुक्ति पाना चाहे तो दूसरी वार वैसा न करे।
(ख) वीय त न समायरे (गलती को दुहराये नही) —द०सू०८,३१

९९ : भूल

भूल शूल-सम समझना, करना कभी न भूल।
छोटी-सी भी भूल जो, वन जाती दु ख-मूल[१] ॥१॥
जान-बूझकर कर रहा, बात-बात मे भूल।
सुधर न पाता वह कभी, जिसकी मति प्रतिकूल ॥२॥
औरो की झट देखता, राई जितनी भूल।
अपनी भूल न देखता, पर्वत जितनी स्थूल ॥३॥
मानव! अपनी भूल को, करना झट स्वीकार।
लज्जा की क्या बात है, यह उन्नति का द्वार ॥४॥
प्रमुदित होना चाहिए, जवकि बताए भूल।
परिमार्जन उसका करे, समता-रस मे झूल ॥५॥
आगम, वेद, पुराण के, ज्ञाता मिले अनेक[२]।
जाने अपनी भूल को, विरला कोई एक ॥६॥
समझो अपनी भूल को, तुरत करो फिर दूर।
मानवता के नियम का, पालन करते शूर ॥७॥
स्वत भूल स्वीकारना, महापुरुष का काम।
क्या न गए आनन्द-घर, गौतम गुरु गुण-धाम ॥८॥
भूल पराई भूलना, परम शाति का द्वार।
रहे परस्पर प्रेम का, "**मुनि गणेश**" व्यवहार ॥९॥

---

१ (क) बीय त न समायरे (गल्ती को दुहराये नही) —द०सू०८,३१
(ख) यदत्तगरही तद कुब्बमानो। न लिम्पति दिट्ठसु तेसु धीरो।
—म०नि०११,२३१
—जो अपनी भूलो पर पश्चात्ताप करके उन्हें दुबारा नही करता है वह धीरपुरुष दृष्ट तथा श्रुत किसी भी विषय भोग मे लिप्त नही होता।
(ग) आहच्च चडालिय कट्टु, न निण्हविज्ज कयाइवि। —उत्तराध्ययन१।११०
—यदि साधक कभी कोई चाण्डालिक-दुष्कर्म करले, तो फिर उसे छिपाने की चेष्टा न करे।

२ (क) नीतिज्ञा नियतिज्ञा, वेदज्ञा अपि भवन्ति शास्त्रज्ञा।
ब्रह्मज्ञा, अपिलभ्या, स्वज्ञान-ज्ञानिनो विरला.॥
(ख) भूल करना मनुष्य का स्वभाव है। की हुई भूल को स्वीकार करना एव पुन पुन न करने का प्रयत्न करना वीरता है। —गाधीजी

१०० : मानव महान (१)

भजन करे भगवान् का, गुरु-वचनामृत-पान।
दृढ़ श्रद्धा निज धर्म मे, मानव वही महान् ॥१॥

शासन करता है सदा, औरो पर आसान।
निज पर जो शासन करे, मानव वही महान् ॥२॥

निंदा तो निज की करे, गुणि-जन के गुण-गान।
देखे अपने दोष को, मानव वही महान् ॥३॥

झूठ वचन बोले नही, बदले नही जवान।
कष्ट किसी को दे नही, मानव वही महान् ॥४॥

पर-हित मे नित रत रहे, करे न मन मे मान।
भूले वैर-विरोध को, मानव वही महान् ॥५॥

नियम कभी तोड़े नही, दयावान् गुणवान्।
समता से सकट सहे, मानव वही महान्[1] ॥६॥

लाभ-हानि, जीवन-मरण, सुख-दु.ख एक समान।
निंदा-स्तुति मे सम रहे, मानव वही महान् ॥७॥

विजय त्याग की भोग पर, दिखलाता मतिमान्।
है दशार्णपुर नृपतिवत्, मानव वही महान् ॥८॥

अपने मन को वश करे, धरे न खोटा ध्यान।
पग-पग पर भय पाप का, मानव वही महान्[2] ॥९॥

---

१ (क) वेरं मज्झ न केणई (मेरा किसी से वैर नही है) —श्र०सू०३०,३
(ख) सव्वे सत्ता अवेरिनो होन्तु, मा वेरिनो। —प०स०म०१,१,१,६६
—सभी प्राणी अवैर—विरोध रहित बनें। वैर न रखें।
(ग) न वैर कुर्वीत केनचित् (किसी के साथ वैर मत करो) —म०भा०
(घ) न चैम देहमाश्रित्य वैर कुर्वीत केनचित्। —म०स्मृ०६,४७
—इस नश्वर शरीर के लिए किसी के साथ वैर मत करो।

२ मणसलिले थिरभूए, दीसइ अप्पा तहाविमले। —तत्त्वसार ४२
—मनरूपी जल जब निर्मल एवं स्थिर हो जाता है, तब उसमे आत्मा का दिव्य रूप झलकने लगता है।

१०१ : मानव महान (२)

कभी किसी भी मनुज का, नही करे अपमान।
प्रकट न अपने गुण करे, मानव वही महान्[१] ॥१॥
सबको समझे आत्म-सम, विपदा मे धृतिमान।
समता मे रमता रहे, मानव वही महान् ॥२॥
स्वार्थ विना उपकार-रत, सदय-हृदय अम्लान।
पापी को पावन करे, मानव वही महान् ॥३॥
जीवन-धन है ब्रह्म-व्रत, भोग भयकर स्थान।
करे न कलुपित मन कभी, मानव वही महान् ॥४॥
सन्तोषी श्रद्धा-धनी, पाप-भीरु-कुलवान्।
जीते विषय-विकार को, मानव वही महान् ॥५॥
भूल समझना है अरे, औरो की आसान।
समझे जो निज भूल को, मानव वही महान् ॥६॥
छोड़े कभी न धर्म को, चाहे जाए प्राण।
सरल हृदय शिशु सम रहे, मानव वही महान्[२] ॥७॥
सती सुन्दरी ने किया, सयम मे स्थिर-स्थान।
तजे प्राप्त प्रिय भोग को, मानव वही महान् ॥८॥
गुरु के इगित पर चले, करे आत्म-उत्थान।
"मुनि गणेश" ममता तजे, मानव वही महान् ॥९॥

---

१ (क) न बाहिरं परिभवे। —द०सू० १-१७
—किसी का भी अपमान नही करना चाहिये।
(ख) नाति मञ्जथ कस्य चिन काञ्चि। —सू०नि०
—किसी पर भी किसी का अपमान नही करना चाहिये।
(ग) नावमन्येत कञ्चन। —म०स्मृ०
—किसी की भी अवमानना-तिरस्कार नही करना चाहिए।

२ (क) चइज्ज देहं न हु धम्म-सासण। —द०चू०
—भिक्षुओ ! चाहे शरीर भले ही चला जाये, पर धर्म-शासन न छूटने पाये।
(ख) आत्मार्थे पृथिवी त्यजेत्। —म०भा०
—आत्म-हित के लिए सब कुछ छोड देना चाहिए।

१०२ : आदर्श

पर-नारी के रूप पर, जब होता दृक्-पात।
तब जो नर अंधा बने, उसके दृग्-अवदात[1] ॥१॥
कर्णातिथि जब कब बने, पर-निंदा के बोल।
तब बनता बहरा मनुज, उसका यश अनमोल ॥२॥
हो जाते हैं मूक जो, करके पर-उपकार।
क्या वे कहलाते नही, भूतल के शृंगार ॥३॥
अपने अवगुण देखकर, जो हो जाते क्रुद्ध।
उनके दर्शन मात्र से, होती आतमा शुद्ध ॥४॥
रख लेता निज शील को, सहकर कष्ट अपार।
स्वाभिमान से ही पुरुष, बनता जग-शृंगार ॥५॥
मायावी मानव बने, रखने निज-गुण गुप्त।
उसके उर्वर हृदय मे, बीज श्रेय का उप्त ॥६॥
पर-गुण लेने के लिए, हो न कभी सन्तुष्ट।
वह बनता त्रिभुवन तिलक, है प्रमाण यह पुष्ट ॥७॥
रंग भवन मे जो रहे, अविचल मेरु समान।
स्थूलिभद्र आदर्श है, यह कोशा का गान ॥८॥
"मुनि गणेश" त्यागी वही, और वही विद्वान्।
जिसने प्राणी मात्र को, दिया अभय का दान ॥९॥

---

१ मूक परापवादे परदार-निरीक्षणेऽप्यन्ध ।
पगु परधनहरणे, स जयति लोकत्रये पुरुष. ॥ —सुभाषित

१०३ : चार पुरुष

प्रथम पुरुष का है हृदय, स्फटिक समान पवित्र।
और मधुर-भाषी सदा, सकल विश्व है मित्र'॥१॥
आगम मे आख्यात है, वह मधु-कुम्भ समान।
मधु से जो परिपूर्ण है मधु का भव्य विधान॥२॥
पुरुष दूसरा नित रखे, अपना दिल अवदात।
किन्तु बोलता जीभ से, कटुक वचन साक्षात्॥३॥
उसको भी मधु का घडा, बतलाता सिद्धान्त।
पर, है गरल-पिधान वह, सब समझें अभ्रान्त॥४॥
पुरुष तीसरे का रहे, नित कलुषित परिणाम।
किन्तु बोलता है मधुर, कोकिल सम अविराम॥५॥
वह मानव विष-कुम्भ है, करे न उसका सग।
मधु-पिधान है इसलिए, करे रंग मे भग॥६॥
कलुषित नित मानस रखे, चौथा पुरुष नितान्त।
कटु-भाषी है कलह-प्रिय, रहता कभी न शान्त॥७॥
स्वार्थी मानव क्या नही, करता है अन्याय।
कौआ बोला पुरुष की, नीच प्रकृति है हाय!॥८॥
है विष-कुम्भ समान वह, जो है गरल-पिधान।
चार तरह के पुरुष हैं, "**मुनि गणेश**" पहचान॥९॥

---

१ मधुकुंभे नाम एगे मधुपिहाणे।
मधुकुंभे नामं एगे विसपिहाणे।
विसकुंभे नाम एगे मधुपिहाणे।
विसकुंभे नाम एगे विसपिहाणे। —स्थानाग ४/४
—चार तरह के घडे होते हैं—
मधु का घडा, मधु का ढक्कन।
मधु का घडा, विष का ढक्कन।
विष का घडा, मधु का ढक्कन।
विष का घडा, विष का ढक्कन।
(मानवपक्ष मे हृदय घट है और वचन ढक्कन है।)

जुआ खेल कर ले लिया, एक वार जो स्वाद ।
उसका जीवन हो गया, पूर्णतया वरवाद ॥१॥
मानव[1] खाकर मास तू, तन को करता पुष्ट ।
देगा धोखा एक दिन, तन तेरा यह दुष्ट[2] ॥२॥
मद से होती मनुज की, महिमा जग मे नष्ट ।
तन से, धन से, बुद्धि से, हो जाता है भ्रष्ट[3] ॥३॥
पुण्य-वधू की प्रीति है, घोर दुख की खान ।
मानव खोता मनुजता, तन, धन, जन-सम्मान ॥४॥
हँस हँसकर हिंसा करे, खुद को समझे वीर ।
फल भुगतेगा उस समय, नयन झरेगा नीर ॥५॥
चिंता रहती चोर को, भय रहता भरपूर ।
जाता कारागार मे, दुख न होता दूर ॥६॥
पर-नारी प्यारी जिसे, पाता दुःख अविराम ।
खोता अपना धर्म वह, जाता दुर्गति-धाम ॥७॥
व्यसनो मे आसक्ति है, घोर दुख की खान ।
खो दी ललितकुमार ने, अपनी सारी शान ॥८॥
व्यसन एक भी है बुरा, जीवन करता नष्ट ।
"मुनि गणेश" पाता नही, व्यसन-मुक्त नर कष्ट ॥९॥

---

१ अक्खेहि णरो रहिओ, ण मुणइ सेसिंदएहि वेएइ ।
जूयंधो ण य केण वि, जाणई सपुण्णकरणो वि ॥ —व०श्रा०६६
—आँखो से अधा मनुष्य आँखो के सिवाय वाकी सब इन्द्रियो से जानता है किन्तु जुए मे अधा हुआ मनुष्य सब इन्द्रियाँ होने पर भी किसी इन्द्रिय से कुछ नही जान पाता ।

२ मास भक्षयिताऽमुत्र यस्य मासमिहाद्म्यहम् ।
एतन्मासस्य मासत्व प्रवदन्ति मनीषिण ॥ —मनुस्मृति५।५
—मैं यहाँ पर जिसका मास खाता हूँ मुझको भी वह (मा-स)परलोक मे खायेगा । मनीषि विद्वान् मास की यह मौलिक परिभाषा (मासत्व) बतलाते हैं ।

३ मधुपाने मति-भ्रंशो, नराणाम् जायते खलु । —मनुस्मृति
—मदिरापान से निश्चय ही मनुष्यो की बुद्धि भ्रष्ट हो जाया करती है ।

१०५ : मदिरा-त्याग

यदि है सुख की चाह तो, छोड़ो मदिरा-पान।
इसमे दोष अनेक है, देखो देकर घ्यान[१] ॥१॥

घन का, बल का, रूप का, कुल का, मति का नाश।
होता मदिरा पान से, मानवता का ह्रास ॥२॥

रोग भयंकर देह मे, आकर करते वास।
मदिरा-सेवी पुरुष का, होता जीवन नाश ॥३॥

अपने हित का, अहित का, उसे न रहता भान।
बन जाता है क्रूर वह, ले लेता पर-प्राण ॥४॥

सुध-बुध सारी भूलता, खोता निज सम्मान।
व्यसनो मे आसक्त नर, पाता दु:ख महान्[२] ॥५॥

उसके घर मे रात-दिन, रहती बड़ी अशाति।
गली-गली मे भटकता, रहता पशु की भाँति ॥६॥

बच्चे भूखे बिलखते, घर मे नही अनाज।
फिर भी बोतल पी रहा, महामूर्ख-सिरताज ॥७॥

किसी दृष्टि से भी नहीं, हितकर मदिरा-पान।
हेय इसे बतला रहे, शास्त्र और विद्वान्[३] ॥८॥

दहन द्वारिका का हुआ, मद्य-पान के योग।
"मुनि गणेश" चेतावनी, क्यो न चेतते लोग ॥९॥

---

१ ब्रह्महत्या सुरापान स्तेय गुर्वंगनागम।
महान्ति पातकान्याहुस्तत्संसर्गी च पञ्चम ॥ —सुभाषित

२ वैकल्य धरणीपातमयथोचितजल्पनम्।
सनिपातस्य चिह्नानि, मद्य सर्वाणि दर्शयेत् ॥ —सुभाषित

३ (क) सुर वा मेरग वा वि, अन्न वा मज्जगं रस।
स-सक्ख न पिवे, भिक्खू जस सारक्खमप्पणो ॥ —द०सू०५,२,३६

(ख) यदि मैं एक घण्टे के लिए सारे भारत का तानाशाह बन जाऊँ तो मेरा प्रथम कार्य होगा-बिना मुआवजा दिये सारे भारत मे शराब की सब दुकानो को बन्द करवा देना। —महात्मा गाधी

१०६ : दोष-दर्शन

औरो के अवगुण सदा, जग मे नर अनजान।
उठा अंगुली देखता, अहो! लगाकर ध्यान[1] ॥१॥
अंगुलि एक उठा रहा, जब नर पर की ओर।
उठती अपने आप तब, तीनो अपनी ओर ॥२॥
पूछ रही है मध्यमा, अंगुली यो तत्काल।
क्या तूने अपने कभी, देखे दोष विशाल[2] ॥३॥
जिस कारण से कर रहा, अंगुली पर की ओर।
वह क्या निज मे है नही, व्यर्थ मचाता शोर ॥४॥
अब कह रही अनामिका, देख देख पर-दोष।
मन मे मोद मना रहा, है क्या तू निर्दोष? ॥५॥
कथन कनिष्ठा का पुनः, क्या है कुछ भी भान?।
उठा अंगुली देखता, पर के दोष-वितान ॥६॥
क्या न दूसरे देखते, यहाँ तुम्हारे दोष?।
पाते हो क्या सर्वदा, अपने को निर्दोष? ॥७॥
पर-दूषणदर्शी करे, अपना अहित महान्।
दो पुरुषो का बुद्ध ने, बतलाया आख्यान ॥८॥
पूछ-पूछ कर थक गई, उत्तर दे अब कौन?
"मुनि गणेश" पानी गये, रखनी पडती मौन ॥९॥

---

१ राइसरिसवमित्ताणि परिछिद्दाणि पाससि।
अप्पणो बिल्लमित्ताणि, पासतो वि न पाससि॥ —उत्त०नि०१४०
—दुर्जन दूसरो के राई और सरसो जितने दोष भी देखता रहता है किन्तु अपने बिल्व (बेल) जितने बडे दोषो को भी देखता हुआ अनदेखा कर देता है।

२ द्रष्टु स्वदोषान् लोकानाम् नैकमप्यस्ति लोचनम्। —म०भा०
—अपने अवगुण देखने के लिए जनता के पास एक भी आँख नही है। अर्थात् अपने दोष कोई भी नही देखना चाहता।

१०७ : अर्थ

क्यो अनर्थ कर कर रहा, अरे ! उपार्जन अर्थ।
अर्थ न आता अर्थ है, जीवन जाता व्यर्थ ॥१॥
परम शांति के अर्थ जो, किया उपार्जन अर्थ।
शांति नही उससे मिली, किया अतिक्रम व्यर्थ ॥२॥
अर्थ न जाने अर्थ का, होता तभी अनर्थ।
जाने अर्थ अनर्थ-कर, सिद्ध तदा सब अर्थ[1] ॥३॥
किया उपार्जन अर्थ का, जिसने जीवन-अर्थ।
किन्तु हुआ हा ! अर्थ वह, प्राण-नाश के अर्थ[2] ॥४॥
करे उपार्जन अर्थ का, हाय ! स्वजन के अर्थ।
आपस मे फिर झगड़ते, अर्जित-धन-हित व्यर्थ[3] ॥५॥
अर्थ-अर्थ श्रम व्यर्थ है, कर श्रम सयम अर्थ।
पायेगा उससे अरे !, अक्षय अव्यय अर्थ ॥६॥
अर्थवान् जब अर्थ को, त्यागे सुख के अर्थ।
क्यो सुख की फिर कल्पना, करे अर्थ से व्यर्थ ॥७॥
हाय ! अर्थ ही हो रहा, सब कुछ नि सन्देह।
भाई के प्रति बहिन का, रहा न कुछ भी स्नेह ॥८॥
"मुनि गणेश" वह अर्थ क्या, जो हो भय के अर्थ ?।
चाह रखो उस अर्थ की, जो हो अभय समर्थ ॥९॥

---

१ अर्थमनर्थं भावय नित्य, नास्ति तत सुख-लेश मत्यम्। —च०म०२

२ (क) एवमेगेसिं महब्भय भवइ—यह परिग्रह महाभय का हेतु है। —आचा०सू०१,५,२

(ख) धिगर्थं दु खभाजनम् (दु.ख के भाजन धन को धिक्कार है।) —म०भा०अनु०१४५

(ग) अर्थ सम्पद् विमोहाय, विमोहो नरकाय च।
तस्मादर्थमनर्थाय, श्रेयोर्थी दूरतस्त्यजेत् ॥ —गीता

(घ) अत्थो मूल अणत्थाण।—अर्थ अनर्थों का मूल है।

३ धर्मातिक्रमाद्धन परेऽनुभवन्ति, स्वय तु पर पापस्य भाजनम् सिंह सिंधुरवधात् —नी०वा०४४

—धर्म न्याय का उल्लघन करके सचित किये हुए धन को कुटुम्बीजन ही खाते हैं और कमाने वाला केवल पाप का ही भागी होता है जैसे—शेर हाथी का शिकार करता है उससे शृगाल वगैरह को ही भोजन मिलता है। उसे कोई लाभ नही होता। वह केवल पाप का ही सचय करता है।

१०८ : व्यापारी

मृदु-भाषी, नत, सत्य-रत, चरितवान, धृतिमान्।
विश्वासी व्यापार मे, करता प्रगति महान्॥१॥
प्रामाणिकता नित रखे, न्याय-नीति से प्रीति।
दगा किसी को दे नही, व्यापारी की रीति॥२॥
घाटा लगने पर रखे, अपनी नीति उदार।
व्यापारी वह कर सके, पुनरपि निज उद्धार॥३॥
माख सुरक्षित जो रखे, पर-धन जिसके धूल।
झूठ कभी बोले नही, ये वाणिज्य सुख-मूल॥४॥
वचन-बद्धता, सरलता, लेन-देन अविरुद्ध।
कर्ज न कौडी का करे, लेखा-जोखा शुद्ध[1]॥५॥
अपनी सीमा से अधिक, करता जो व्यापार।
लाभ उठा पाता नही, होती उसकी हार॥६॥
एक न कीमत, भाव, मत, एक न बोली स्थान।
ले न मुनाफा एक-सा कैसे जमे दुकान॥७॥
व्यापारी व्यापार मे, रक्खें नीति उदार।
रायचन्द के चरित से, ले शिक्षा हर वार[2]॥८॥
कूट तोलना-मापना, रखना खोटे बाट।
"मुनि गणेश" ये हो जहाँ, उसकी चले न हाट॥९॥

---

१ (क) कूडतूल्ल-कूडमाणेणं। —स्था०सू०४,४

—झूठा नाप व झूठा तोल महापाप का कार्य है।

(ख) लेन-देन मे अन्याय न किया करो। किसी को कोई वस्तु नाप-तोलकर देनी हो तो जब नाप करो, पैमाना पूरा कर दिया करो। और जब कोई वस्तु तोलनी हो तो ठीक तराजू से तोला करो, यह ही तुम्हारे पक्ष मे उत्तम है और फल की दृष्टि से तुम्हारी व्यक्ति के लिए भी बहुत अच्छा है। कम नापने-तोलने मे जो प्रकट रूप से तुमको लाभ प्रतीत हो रहा है वह फल की दृष्टि से लाभ नहीं वरन् हानि है।

—सूरा १७ बनी इसरायल पृष्ठ ३९७

२ जो बहुमुल्ल वत्थु अप्पमुल्लेण णेव गिण्हेदि।
वीसरियं पि न गिण्हदि, लाभे थूये हि तूसेदि॥

—वही सद् गृहस्थ श्रावक कहलाने का अधिकारी है जो किसी की बहुमूल्य वस्तु को अल्प मूल्य देकर नहीं ले, किसी की भूली हुई वस्तु को ग्रहण नही करे और थोड़ा लाभ प्राप्त करके ही संतुष्ट रहे।

१०६ : अधिकारी

नीति-निपुण निर्मल-हृदय, न्याय-निष्ठ गुण-खान।
नि:स्वार्थी निष्पक्ष नत, अधिकारी पहचान ॥१॥
अधिकारी अधिकार पा, करे न पर उपकार[1]।
ऐसे उस अधिकार मे, लाख-लाख धिक्कार ॥२॥
अधिकारी को शोभता, तब तक ही अधिकार।
यदि कर्तव्य-निरत रहे, रखे शुद्ध आचार ॥३॥
अधिकारी कर्तव्य का, रखे नही जो ध्यान।
सडा हुआ समझो उसे, पनवाडी का पान ॥४॥
अधिकारी अपना नही, रखे शुद्ध व्यवहार।
तो उसके नेतृत्व मे, फैले भ्रष्टाचार[2] ॥५॥
अधिकारी जन के अगर, हो मन मे दुर्भाव।
क्या न डुबा देगा कभी, जैसे टूटी नाव[3] ॥६॥
अधिकारी मानव रखे, सबसे सम-बर्ताव।
तो उसके नेतृत्व का, पडता अमिट प्रभाव ॥७॥
सहन-शीलता का करे, अधिकारी अभ्यास।
नारद बोले कृष्ण को, क्यो हो रहे उदास ॥८॥
पाकर के अधिकार जो, करता है अभिमान।
"मुनि गणेश" पाता नही, जग मे वह सम्मान ॥९॥

---

१ अधिकारपद प्राप्य, नोपकार करोति य.।
अकार-लोप-मात्रेण, ककारो द्वित्वता व्रजेत् ॥

२ इहेवऽधम्मो अयसो अकित्ती
सभिन्न वित्तस्य य हेट्ठओ गई। —द०सू०चू०१-१३
वृत्त—चरित्र से भ्रष्ट पुरुष का संसार मे अपयश और अपकीर्ति होती है तथा परलोक मे अधोगति होती है।

३ वर कर्दमभेकत्व, मलकीटकता वरम्।
वरमन्धगुहाऽहित्व, न नरस्याविचारिता ॥ —गो०वा०मु०प्र०
—कीचड मे मेढक बनना अच्छा है, विष्ठा का कीडा बनना अच्छा है और अंधेरी गुफा मे सांप बनना भी अच्छा है पर मनुष्य का अविचारी होना अच्छा नही है।

११० : अध्यापक

नि.स्वार्थी निर्मल-हृदय, नीति-निपुण निष्पक्ष।
सच्चरित्र शिक्षक बने, अध्यापन मे दक्ष ॥१॥
अध्यापक को चाहिए, रहना सदा सचेत।
हो न मलिन जिससे कभी, शिशु-गण-जीवन श्वेत ॥२॥
ऐसा होना चाहिए, शिक्षक का व्यवहार।
सुप्रभाव जिससे पडे, छात्रो पर हर वार ॥३॥
अध्यापक के हाथ मे, कितना काम महान्।
करना है शिशु वर्ग के, जीवन का उत्थान ॥४॥
केवल अक्षर-ज्ञान ही, देना मुख्य न काम।
शिक्षक वह जो छात्र का, करता चरित ललाम ॥५॥
सव दानो मे श्रेष्ठ है, उत्तम शिक्षा-दान।
अध्यापक देता उसे, है इसलिए महान् ॥६॥
शिक्षक पर निर्भर सदा, देश जाति-निर्माण।
उत्तम उन्नति-मूल है, अधम पतन की खान ॥७॥
शिक्षक विचलित हो नही, लोक प्रवाह समक्ष।
हस और उल्लू यहाँ, उदाहरण प्रत्यक्ष ॥८॥
हास्य, कुतूहल, दुर्व्यसन, झूठ-वचन अभिमान।
"मुनि गणेश" शिक्षक करे, इनका प्रत्याख्यान[1] ॥९॥

---

१ (क) खुड्डेहिं सह ससग्गि हासं कीडं च वज्जए। —उत्त०सू० १, ९
—अधम जनो का मग, उनके साथ हास-परिहास और मनोविनोद नही करना चाहिए।

(ख) वाल-सखित्वमकारणहास्य, स्त्रीपु विवादमसज्जनसेवा।
गर्दभयानमसस्कृतवाणी, षट्सु नरो लघुतामुपयाति ॥
—सु०र०भा० पृष्ठ २७१, १९५

बुद्धिहीनो की सगति, विना कारण हँसी, स्त्रियो के साथ विवाद, दुर्जनो की सेवा, गधे की सवारी, अशिष्ट वाणी इन छ वातो से मनुष्य हीनता को प्राप्त होता है।

(ग) हँसिये नही गिवार, हँसिया हलकाई हुवै।
हँसिया दोष अपार, गुण जावै गहलो कहै ॥

(घ) शाह तो झगडै सू विगडै ठाकर व्याजडियो।
घर-घर फिरती नार विगडै, विगडै जोगी हाँसड़ियो ॥

१११ : विद्यार्थी

जीवन होता छात्र का, उज्ज्वल-वस्त्र समान।
चाहे जैसा ही उसे, रँगना है आसान ॥१॥
अनुशासन मे जो अटल, विनयवान गुणवान।
विद्या का सत् पात्र वह, दो विद्या का दान ॥२॥
क्रोध, कपट, आलस्य, मद, व्यसनो से अनुराग।
विद्यार्थी को चाहिए, करना इनका त्याग ॥३॥
झुक कर लेना सहज है, गुरु से विद्या-दान।
विना झुके क्या कर सके, घट जल का आदान ॥४॥
करे न विद्यार्थी कभी, विद्या का अभिमान।
ज्ञान-सिन्धु का कर सका, भला कौन अनुमान ॥५॥
विद्यार्थी विकथा तजे, प्रमिला और प्रमाद।
एक चित्त अध्ययन कर, शास्त्रो का ले स्वाद[1] ॥६॥
विद्यार्थी-जन जो करे, अपना चरित-विकास।
सफल तभी अध्ययन है, वरना विफल प्रयास ॥७॥
पाकर थोडा ज्ञान जो, छात्र करे अभिमान।
स्थूलिभद्र की भांति फिर, उसे न मिलता ज्ञान ॥८॥
कोरा ज्ञान न कर सके, **"मुनि गणेश"** उत्थान।
रोग-शमन क्या कर सके, केवल भेषज-ज्ञान[2] ॥९॥

---

१ (क) अल कुसलस्स पमाए ण (कुशलजन ! प्रमाद मत करो।)
—आचा०सू० १, २, ४

(ख) पमाय कम्म माहसु, अप्पमाय तहावरं। —सू०कृ० १, ८, ३
—प्रमाद कर्म है। अप्रमाद अकर्म-सवर है।

(ग) अप्पमादो अमत पद, पमादो मच्चुनो पद। —ध०प० २, १
—अप्रमाद अमरता का पद है, प्रमाद मृत्यु का।

(घ) प्रमाद वै मृत्युमह ब्रवीमि।
तथाऽप्रमादममृतत्व ब्रवीमि ॥ —म०भा० उद्योग पर्व ४, २, ४
मैं प्रमाद को मृत्यु और अप्रमाद को अमरता कहता हूँ।

(ङ) आलस्य एक प्रकार की हिंसा है —गांधी जी आ० भाग २ पृष्ठ २

२ (क) कायेनैव पठिष्यामि, वाक् पाठेन तु किं भवेत्।
चिकित्सा-ज्ञान-मात्रेण, न हि रोग शम व्रजेत् ॥

(ख) दुर्भगाभरणमिव देहखेदावहमेव ज्ञान स्वयमनाचरत।
—नीतिवाक्यामृत २७

११२ : प्रदर्शन

किया न जीवन मे कभी, ठोस काम निष्काम।
ब्राह्य-प्रदर्शन मात्र से, चाह रहा है नाम[1] ॥१॥
काम, दाम अभिमान से, लेता नही विराम।
राम-राम कर क्यो करे, राम नाम वदनाम ॥२॥
भीतर से मैला हृदय, वाहर रूप अनेक।
उससे तो जग मे भला, कौआ तन-मन एक[2] ॥३॥
राम-नाम नित जीभ पर, रखता आठो-याम।
कलह कदाग्रह के लिए, खोता समय ललाम ॥४॥
सामायिक प्रतिदिन करे, प्रतिक्रमण विवि-युक्त।
वाह्य प्रदर्शन मात्र है, समताभाव विमुक्त ॥५॥
क्षमा-याचना नित करे, जोड-जोड कर हाथ।
किन्तु न भूले वैर को, तो ऊपर की वात ॥६॥
अतरग-वैराग्य विन, भार-भूत है योग।
विना उदर की शुद्धि के, निष्फल सकल प्रयोग ॥७॥
वाह्य प्रदर्शन के लिए, है न धर्म मे स्थान।
नृप ने रानी को दिया, अनुपम धार्मिक ज्ञान ॥८॥
तन के, मन के, वचन के, हो न परस्पर मेल।
वाह्य प्रदर्शन का यही, "मुनि गणेश" है खेल[4] ॥९॥

---

१ भणता अकरेन्ता य, वधमोक्खपइण्णिणो।
वायावीरियमेत्तेण, समासासेन्ति अप्पय ॥ —उत्त०सू० ६।९

२ जहा वाहिं तहा अतो, जहा अतो तहा वाहिं। —आचा०सू० ६, २, ५
—जैसा वाहर हो वैसा भीतर हो, जैसा भीतर हो, वैसा बाहर रहे।
—वाहर भीतर एक से होते सत पवित्र। —सुभाषित

३ (क) अच्छदा जे न भुजति, न से चाइत्ति वुच्चई। —द०सू० २, २
(ख) नारि मुई घर सपत नासी, मूँड मुँडाय भये सन्यासी। —रा०च०

४ (क) आहसु विज्जा चरण पमोक्खो। —सू०कृ० १, १२, ११
—ज्ञान और आचार का समन्वय मोक्ष का साधन कहा गया है।
(ख) ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है, इच्छा क्यों पूरी हो-मन की,
एक दूसरे से न मिल सके, यह विडम्वना है जीवन की।
—प्रसाद-कामा०

११३ : टेढ़ी-खीर

संयम पालेगा वही, जो है ज्ञानी वीर।
कायर मानव के लिए, सयम टेढी खीर[1] ॥१॥

पाता है वह सम्पदा, जो मानव है धीर।
पर, विपदा मे धैर्य को, रखना टेढी खीर ॥२॥

मनो-विजेता के लिए, निकट भवाम्बुधि-तीर।
अपने मन को जीतना, है यह टेढी खीर[2] ॥३॥

देख रहे सव जगत मे, अपनी अपनी पीर।
पर, पर-पीडा देखना, है यह टेढी खीर[3] ॥४॥

पर-सुधार के समय सब, वनते वीर गभीर।
पर, है आत्म-सुधार तो, सचमुच टेढी खीर ॥५॥

स्वार्थ-सिद्धि के हेतु नर, बोले, जैसे कीर[4]।
विना स्वार्थ प्रिय वोलना, है यह टेढी खीर ॥६॥

त्यागे भोग-विलास सब, रखे न तन पर चीर।
पर, ईर्ष्या, अभिमान भय, तजना टेढी खीर ॥७॥

तजे प्राप्त प्रिय भोग, धन, वह मानव है वीर।
जम्बूस्वामी की तरह, चलना टेढी खीर ॥८॥

आत्म-दोष-दर्शी वने, निर्मल गगानीर।
पर, "गणेश" निज दोष का, दर्शन टेढी खीर ॥९॥

---

१ (क) जत्थ एगे विसीयति। —सू०कृ० १,३,२,१
—कायर व्यक्ति साधुत्व ग्रहण कर पछताता है।
(ख) दुर्बल मन का मनुष्य सयम पालन नही कर पाता है। —गा०सू०पृष्ठ ११

२ (क) कह कह वा वितिगिच्छतिण्णो। —सू०कृ० १, ४,६
—मुमुक्षु को कैसे न कैसे मन की विचिकित्सा से पार हो जाना चाहिए।
(ख) जडास्तपोभि शमयन्ति देह बुधामनश्चापि विकारहेतुम्।
श्वा मुक्तमस्त्र दशतीति कोपात् क्षेप्तारमुद्दिश्य हिनस्ति सिंह ॥—सुभाषित

३ विरला जानन्ति गुणान्विरला कुर्वन्ति निर्धने स्नेहम्।
विरला परकार्यरता परदु.खेनापि दु खिता विरला ॥ —सुभाषित

४ वितरति यावद्दाता तावत्सकलोऽपि भवति कलभापी।
विरते पयसि घनेभ्य शाम्यन्ति शिखण्डिना ध्वनय ॥ —सुभाषित

११४ : नदी-नाव-संयोग

अल्प आयु मे वहुत है तन के, मन के राग।
साधक! कर झट साधना, नदी-नाव-सयोग ॥१॥

जल-निधि-जल-गत रत्नवत्, दुर्लभ नर-भव-योग।
तज प्रमाद प्रभु-नाद यह, नदी-नाव-संयोग ॥२॥

तेरा साथी कौन है?, है स्वार्थी सव लोग।
क्यो इनसे ममता करे, नदी-नाव-संयोग[1] ॥३॥

सुखप्रद अभय विराग है, दुखप्रद भोग सरोग।
क्यो न ब्रह्मचारी वने, नदी-नाव-सयोग ॥४॥

भला-बुरा क्या द्रव्य का, भला-बुरा उपयोग।
पग मत धो पीयूष से, नदी-नाव-सयोग ॥५॥

शोक न करना चाहिए, जव हो इष्ट-वियोग।
कौन यहाँ पर स्थिर रहा, नदी-नाव-संयोग ॥६॥

भाग्य-भरोसे क्यो रहे, छोड सकल उद्योग।
क्यो न करे निर्मल क्रिया, नदी-नाव-सयोग ॥७॥

नट की वाणी का मिला, हितकारी सहयोग।
क्षुल्लक मुनि स्थिर हो गए, नदी-नाव-संयोग ॥८॥

"**मुनि गणेश**" सन्मति मिले, सद्गुरु के सहयोग।
क्यो न भक्ति गुरु की करे, नदी-नाव-सयोग[2] ॥९॥

---

१ पत्तेय जायति पत्तेय मरइ। —सूत्रकृ०२।१।१३
—हर प्राणी अकेला जन्म लेता है, अकेला मरता है।

२ (क) सूरोदए पासति चक्खुणेव। —सूत्रकृ०१।१४।१३
सूर्योदय होने पर (प्रकाश होने पर) आँख के विना नही देखा जाता है वैसे ही स्वय मे चाहे कोई कितना ही चतुर क्यो न हो, निर्देशक गुरु के अभाव मे तत्त्वदर्शन नही कर पाता।

(ख) जे आयरिय-उवज्झायाण सुस्सूसा वयण करा।
तेसिं सिक्खा पवड्ढति,-जलसित्ता इव पायवा। —दशवैकालिक ९।२।१२
—जो अपने आचार्य एव उपाध्यायो की शुश्रूषा-सेवा तथा उनकी आज्ञाओ का पालन करता है, उसकी शिक्षाएँ (विद्याएँ) वैसी ही वढती हैं जैसे कि जल से सींचे जाने पर वृक्ष।

११५ : क्या जीवन है आज!

आडम्वर होते अविक, ठोस न कुछ भी काज।
रक्षक भी भक्षक वने, क्या जीवन है आज[1] ? ॥१॥
विश्वासी मानव कहाँ, कहाँ किसी की लाज ?।
आज्ञाकारी सुत कहाँ, क्या जीवन है आज ? ॥२॥
वात वात मे झूठ है, विगड़े रीति रिवाज।
घृणा नही अन्याय से, क्या जीवन है आज ? ॥३॥
मायाचारी मनुज हैं, जग मे वे-अदाज।
सरल-स्वभावी हैं कहाँ, क्या जीवन है आज[2] ? ॥४॥
पैसे की वस पूछ है, गुणि-जन का न लिहाज।
वात नही रिश्वत विना, क्या जीवन है आज[3] ? ॥५॥
शुद्ध न औषधि भी मिले, खाने को न अनाज।
फिर भी फैशन मे फसे, क्या जीवन है आज ? ॥६॥
दु.खप्रद घटनाएँ घटें, उनका नही इलाज।
चीटी ज्यो नर मर रहे, क्या जीवन है आज ? ॥७॥
लोहवणिग् की भाँति है, आग्रह वे-अदाज।
नही हिताहित सोचते, क्या जीवन है आज ॥८॥
"**मुनि गणेश**" गुण-हीन नर, वनता है अधिराज।
आदर वुध-जन का कहाँ, क्या जीवन है आज ॥९॥

---

१ वर्म प्रव्रजितस्तप· प्रचलित सत्य च दूरे गत।
पृथ्वी मन्दफला नराः कपटिनश्चित्त च शाठ्योर्जितम्।
राजनोऽर्थपरा न रक्षणपराः पुत्रा पितुर्द्वेपिणः।
साधु· सीदति दुर्जन प्रभवति प्राप्ते कलौदुर्युगे ॥

२ भद्दएणेव होअव्व पावई भद्दाणि भद्दओ।
सविमो हम्मए नप्पो भेरूडो तत्थ मुच्चइ। —उत्त०नि०३२६
—मनुष्य को भद्र (सरल) होना चाहिए। भद्र को ही कल्याण की प्राप्ति होती है। विपधर साप ही मारा जाता है। निर्विप को कोई नहीं मारता।

३ धिगस्त्वेता विद्या धिगपि कविता धिक् सुजनता।
वयो रूप धिग् धिग् धिगपि च यशो निर्धनवत ॥
असौजीयादेक सकल गुणहीनोऽपि धनवान्।
बहिर्यस्य द्वारे तृणलवनिभा सन्ति गुणिन ॥ —सुभापित

११६ : एक पंथ दो काज

आर्य-जनोचित कार्य से, वनता नर अधिराज।
स्तुति होती ससार मे, एक पथ दो काज ॥१॥
गुरु की अतर-भक्ति से, मिलता ज्ञान-जहाज।
पार करे दु ख-सिधु को, एक पथ दो काज[1] ॥२॥
मिष्ट वचन से मनुज को, मिलता सुख का राज।
वश मे हो जाता जगत्, एक पथ दो काज ॥३॥
आत्म-ज्ञान मिलता उसे, जिसका मन गत-व्याज।
पाता अपने साध्य को, एक पंथ दो काज ॥४॥
मौन विना है कलह का, और न इतर इलाज।
शान्ति मिले झगड़ा मिटे, एक पंथ दो काज ॥५॥
हो जाते हैं विनय से, प्रमुदित नित गुरुराज।
शिष्य वने शासन-मुकुट, एक पथ दो काज ॥६॥
आत्मार्थी आलोचना करता है निर्व्याज।
पाप-शुद्धि, जग मे सुयश, एक पथ दो काज[2] ॥७॥
सेवा करना रुग्ण की, आत्म-शुद्धि का काज।
मुनिवर नदीसेन का, अमर नाम है आज ॥८॥
"मुनि गणेश" सद्वृत्त नर, रख पाता कुल-लाज।
पाता परमानन्द वह, एक पथ दो काज ॥९॥

---

१ निद्देसवत्ती पुण जे गुरुण सुयत्यधम्मा विणयम्मिकोविया।
तरित्तु ते ओहमिण दुरुत्तर खवित्तु कम्म गइ मुत्तम गय ॥ —द०९।२।२३
—जो गुरु के आज्ञाकारी हैं, जो गीतार्थ है, जो विनय मे कोविद है, वे इस दुस्तर ससार-समुद्र को तर कर कर्मों का क्षय कर उत्तम गति को प्राप्त होते हैं। ऐसा मैं कहता हूँ।

२ उद्धरिय सव्वसल्लो, आलोइय निदिओ गुरु सगासे।
होई अतिरेगलहुओ, ओहरिय भरो व्व भारवहो ॥ —ओघ०नि० ८०६
—जो साधक गुरुजनों के समक्ष मन के समस्त शल्यो (कांटो) को निकालकर आलोचना, निन्दा (आत्म-निन्दा) करता है। उसकी आत्मा उसी प्रकार हलकी हो जाती है जैसे शिर का भार उतार देने पर भारवाहक।

११७ : मन जाता है टूट

जो साधक देता नही, अपने मन को छूट ?।
क्या उपासना से कभी, मन जाता है टूट[1] ? ॥१॥
साधक के हो चित्त मे, यदि गुरु-भक्ति अटूट।
तो क्या श्रद्धा से कभी, मन जाता है टूट ? ॥२॥
कृतज्ञ नेता के विना, रहे न वैर्य अटूट।
कार्य-कुशल का कार्य से, मन जाता है टूट ॥३॥
न्याय नीति की वात मे, दे न किसी को छूट।
क्या उस न्यायाधीश से, मन जाता है टूट ? ॥४॥
विद्या-वन को क्या कभी, तस्कर लेता लूट।
क्यो इससे फिर छात्र का, मन जाता है टूट ? ॥५॥
आज्ञाकारी विनयनत, करता कभी न कूट।
गुरु का क्या उस शिष्य से, मन जाता है टूट ? ॥६॥
कार्य-परायण उद्यमी, वोले कभी न झूठ।
उस मानव से क्या कभी, मन जाता है टूट ? ॥७॥
कायर नर का कष्ट मे, मन जाता है टूट।
कुण्डरीक ने खो दिया, अपना वैर्य अटूट ॥८॥
"**मुनि गणेश**" होती जहाँ, वात-वात मे फूट।
कार्य-कुशल का भी वहाँ, मन जाता है टूट ॥९॥

---

१ (क) सड्ढी आणाए मेहावी (मेधावी अर्हत् आज्ञा-सत्पथ पर श्रद्धावान होता है)
—आ०सू० १,३,४

(ख) सद्धाय तरति ओघ (श्रद्धा से (प्राणी) भवसागर तैर जाता है)
—सु०नि० १,१०,४

(ग) श्रद्धया सत्यमाप्यते (श्रद्धा से सत्य की प्राप्ति होती है) —य०वे० १९,३०

(घ) अश्रद्धया हुत दत्त तपस्तप्त कृत च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ ! न च तत्प्रेत्य नो इह ॥ —गीता० १७,२८
—हे पार्थ ! जो होम, दान, तपस्या अथवा कर्म विना श्रद्धा से किया जाता है, वह न तो इस लोक मे काम आता है न परलोक मे।

(ङ) अश्रद्दधाना पुरुपा, धर्मस्यास्य परन्तपः।
अप्राप्य मा निवर्तन्ते, मृत्यु-ससार-वर्त्मनि ॥ —गी० ९,३
—हे परन्तप (अर्जुन) जो पुरुप इस धर्म पर श्रद्धा नही करते वे मुझे न पाकर फिर इस मृत्यु लोक के मार्ग पर आते हैं।

११८ : अन्योक्तियाँ

परुष-वंश से व्याप्त वन, यहाँ न हितकर वास।
चंदन ! निज का ही नही, (ये) करते सबका नाश[१] ॥१॥

सर-सरिता को पूर्ण कर, भूमि-तृषा कर शात।
जलधर ! होना रिक्त तव, लगता है अति कान्त ॥२॥

चण्ड समीरण ! हाय रे, यह क्या तेरा काम ?
चातक के जल-पान मे, बाधक बना प्रकाम ॥३॥

बक मे और मराल मे, यहाँ न कुछ भी भेद।
हस ! यहाँ क्यो आ गया, जा निज गेह सखेद ॥४॥

अति विलम्ब से जो करे, रे सुरतरु ! फल-दान।
वन्य वृक्ष से अधिक क्या, हो तेरा सम्मान ॥५॥

रे शुक ! तेरा पठन है, केवल व्यसन नितांत।
पञ्जर-कारागार मे, रहता आमरणान्त ॥६॥

विधु ! जग को धवलित करो, तव कर ऋद्धिविशाल।
टिक पायेगी सम्पदा, कभी न यह चिरकाल ॥७॥

छुरी और है कलम मे, यहाँ न कुछ भी भेद।
कहा जाट ने सेठ को, यही मुझे है खेद ॥८॥

उदय स्तुत्य आदित्य ! तव, अपर उदय बेकार।
"**मुनि गणेश**" होता नही, जिससे तम-प्रतिकार ॥९॥

---

१ लोकानन्दन चन्दनद्रुम सखे ! नास्मिन्वने स्थीयता,
दुर्वंशैः परुषैरसारहृदयैराक्रान्तमेतद्वनम् ।
ते ह्यन्योन्यनिघर्ष जातदहन ज्वालावलीमकुला,
न स्वान्येव कुलानि केवलमिदं सर्वं दहेयुर्वनम ॥ —सुभाषित

११६ : स्फुट

जैसे होता लाभ है, वैसे बढता लोभ।
तृष्णा को जीते विना, मिटे न मन का क्षोभ ॥१॥
कामी मानव का कभी, चित्त न रहता शात।
हाय ! अन्त मे जान से, धोता हाथ नितान्त ॥२॥
भूल न अपनी देखता, है अभिमान अपार।
शांति उसे कैसे मिले, जहाँ न गुण से प्यार ॥३॥
नीति-भ्रष्ट मानव करे, जग मे अत्याचार।
पर-धन को खाकर कभी, लेता नही डकार ॥४॥
नही झगडना चाहिए, तुच्छ स्वार्थ के अर्थ।
धन का अपने समय का, व्यय होता है व्यर्थ ॥५॥
चिंता करने से कभी, सधे न कोई काम।
फिर क्यो उसमे डूबता, रे मानव ! वे-काम ॥६॥
क्या दूषण सिद्धान्त का, समझे जो न अबुद्ध।
अधा कब मुख देखता, भले आरसी शुद्ध[1] ॥७॥
संयममय जीवन-मरण, दोनो ही है सार।
भले मरो जीओ भले, मानव चार प्रकार ॥८॥
रहे न जडता बुद्धि की, आते गुण अनवद्य।
"**मुनि गणेश**" सत्संग से, होती उन्नति सद्य[2] ॥९॥

१ (क) याव जीवम्पि चे बालो पण्डित पयिरूपासति।
न सो धम्म विजानाति, दब्ब सूपरस यथा ॥ —ध०प०५,५
—चाहे अज्ञ जन जीवन भर ज्ञानी की पर्युपासना करे—उसकी सेवा मे रहे, तो भी वह धर्म को वैसे ही नही जान सकता जैसे—कडछी दाल के स्वाद को नही जान पाती।

(ख) न जानन्ति पर तत्त्व दर्वी-पाक-रस यथा। —ग०पु०
(वे (अज्ञानी) यथार्थ तत्त्व को नही जान सकते जैसे—कडछी रसोई के स्वाद को नही जान सकती।

२ जाड्य धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्य, मानोन्नति दिशति पापमपाकरोति।
चेत प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्ति, सत्सगति कथय किन्न करोति पुंसाम् ॥
—सत्सगति बुद्धि की जडता नष्ट करती है, वाणी को सत्य से सीचती है, मान बढाती है, पाप मिटाती है, चित्त को प्रसन्नता देती है, ससार मे यश फैलाती है, सत्सगति क्या नही करती।

१२० : मृत्यु

मरना तो ऐसे मरो, मरना पड़े न और।
मर-मर कर मरता रहे, यही दु.ख है घोर ॥१॥
हाथ न आये मौत के, झटपट जाये दौड़।
कल पर छोड़े श्रेय वह, प्रीति मौत से जोड़ ॥२॥
उपकारी सयम-धनी, दयावान् गुणवान।
उनकी मानो मौत तो, उत्सव-भूत महान्[1] ॥३॥
जीर्ण-शीर्ण मल-मूत्रमय, क्षणभगुर है देह।
हर्ष सहित छोड़े इसे, सत न करते स्नेह ॥४॥
जीवन से जिनके नही, अतरग अनुराग।
और मौत का भय नही, वे मानव वे-लाग[2] ॥५॥
मारे उसको मौत तो, जो उससे भय-भीत।
उससे जो डरता नही, लेता उसको जीत ॥६॥
वाल-मरण कर जीवने, देखे दु ख महान्।
अरे ! अभी तक तो कहाँ, उनका फिर अवसान[3] ॥७॥
मरणोत्सुक भी मौत से, डरता है हरवार।
वुढ़िया देख भुजग को, दौडी तज घर-द्वार ॥८॥
हो जाये पडितमरण, एक वार अविकार।
"मुनि गणेश" फिर निकट है, भव-सागर का पार ॥९॥

---

१ सञ्चित-तपोधनाना, नित्य-व्रत-नियम-सयम-रताना।
उत्सव-भूतं मन्ये, मरणमनपराधवृत्तीनाम ॥

२ (क) जीवियास-मरण-भय-विप्पमुक्के। —भ०सू०८,७
—वही सच्चा साधक है जो जीने की आशा और मरने के भय से परे है।
(ख) जो जीवन का लोभ छोडकर जीता है, वही जीवित है।
—आ०वि० भाग-२, पृष्ठ१८

३ जम्म दुक्खं जरा दुक्खं, रोगाय मरणाणि य।
अहो दुक्खो हु ससारो, जत्थ कीसति जतवो ॥ उत्त०सू०१९,१५
—अहो ! इस ससार मे दु ख ही दु ख है। जन्म का दु ख, वुढापे का दुःख, वीमारी का दु ख, और मौत का दु ख—इनमे प्राणी क्लेश पा रहे हैं।

१२१ : शोक

रे प्राणी समभाव से, सहना दुख-आघात।
है संयोग-वियोग का, क्रम जैसे दिन-रात[1] ॥१॥
सुरपति, नरपति, सब गये, करते आंसू-पात।
इस अस्थिर ससार मे, स्थिरता की क्या बात ? ॥२॥
होता प्रिय-जन का विरह, कर्मोदय के योग।
पुन: कर्म क्यो बाँधता, करके शोक प्रयोग ॥३॥
मृत का और विनष्ट का, करे न ज्ञानी शोक।
विज्ञ और अनभिज्ञ मे, अतर यह अवलोक ॥४॥
ज्ञान-दृष्टि से देख तू, वृथा करे क्यो शोक ?।
पुनरपि आता क्या कभी, जो पहुँचा पर-लोक[2] ॥५॥
ज्ञानी कहते, दु.ख का, कारण है संयोग।
क्योकि विना संयोग के, होता नही वियोग[3] ॥६॥
दुखदायक को मानता, यदि वैरी साक्षात्।
तो मृत प्रिय-जन क्या हुआ, वृथा शोक की बात ॥७॥
हास्य और है रुदन का, सगम यह ससार।
थावच्चासुत को हुआ, यह अनुभव अविकार ॥८॥
इतने दिन तन स्थिर रहा, यह अचरज की बात।
"मुनि गणेश" विस्मय नही, विघटे अणु-सघात ॥९॥

१ (क) नाणागमो मच्चुमुहस्स अत्थि। —आचा०सू० १।४।२
—मृत्यु के मुख मे पडे हुए प्राणी को मृत्यु न आए, यह कभी नही हो सकता।
(ख) सयोगा विप्रयोगान्ता मरणात हि जीवितम्। —कात्यायन स्मृति
—सयोग के अन्त मे वियोग है और जन्म भी मृत्यु से सम्बन्धित है।
(ग) सयोगा. स्वप्नसन्निभा। (सयोग स्वप्न के समान है) —तत्त्वामृत

२ अनिष्ट-मूलानि शोकानि।
—शोक करना, आर्त्त ध्यान, रौद्र ध्यान करना, इनसे अनिष्ट परिस्थितियाँ ही उत्पन्न हुआ करती हैं।

३ एकसार्थप्रयाताना, सर्वेषा तत्र गामिनाम्।
यद्येकस्त्वरित यातस्तत्र का परिदेवना ॥ —सुभाषित

१२२ : चिन्ता

रहती मन की वृत्ति है, चिन्ता से विक्षिप्त।
शाति-इच्छु मानव रहे, इससे नित निर्लिप्त[१] ॥१॥
चिताओ के जाल मे, जो फसता अज्ञान।
मानो अपनी मौत का, करता है आह्वान ॥२॥
चितातुर नर कर रहा, सर्व शक्ति का नाश।
कर पाता वह कुछ नही, अपना आत्म-विकास ॥३॥
जव तक रहता है मनुज, चिताओ से दूर।
तव तक मिलता है उसे, जीवन-सुख भरपूर ॥४॥
अरे! चिता से भी दुखद, चिता दुखद महान्।
चिता जलाती मृतक को, चिता जीवित-प्राण[२] ॥५॥
समझे जो इस विश्व को, परिवर्तन का खेल।
होता उस नर के नही, चिताओ से मेल ॥६॥
चिताएँ आती नही, उन्हे बुलाते लोग।
पर मे रति से उपजता, चिता रूपी रोग ॥७॥
चिता करना व्यर्थ है, करो धर्म अविराम।
हो जाये जिनदत्त सम, शीघ्र सफल सव काम ॥८॥
अपने को जो समझता, पराभूत अनजान।
"मुनि गणेश" मिलता तभी, चिताओ को स्थान ॥९॥

---

१ (क) अट्ट-दुहट्ट वसट्टे। —वि०सू०
आर्त्त, दु खार्त्त, वशार्त्त (इन्द्रियो के वश हुआ।)
(आर्त्तता से सताप बढता है। आर्त्त, दु खार्त्त, वशार्त्त उसी के परिचायक हैं)
(ख) मारता है वस मनुज को मानसिक सताप ही।—मैथिलीशरणगुप्त र०, भ०
२ (क) चिन्ता जरा मनुष्याणाम्। —सुभाषित
(ख) चितासम नास्ति शरीर-शोषणम्। —सुभाषित
(ग) को वा ज्वर प्राणभृता हि? चिन्ता।
(घ) वृथा कथ खिद्यसि बालवुद्धे।
कुरु स्वकार्यं त्यज सर्वमन्यत्।

१२३ : प्रतिबोध

जिसका अपना कुछ नही, उसका सब ससार।
जिसने कुछ अपना लिया, वही हो गया भार ॥१॥

देता है जो रात-दिन, औरो को प्रतिबोध।
वैसा निज जीवन बने, (तो) निश्चित दु.ख निरोध ॥२॥

तन भी यह तेरा नही, कैसे हो परिवार।
रोम-कूप कैसे रहे, बिना चाम-आधार ? ॥३॥

अपकारी पर रे पुरुष, करता है यदि क्रोध।
क्यो न करे फिर अहितकर, क्रोध शत्रु पर क्रोध ॥४॥

नही दूसरे का करे, तिरस्कार विद्वान्।
अपनी श्लाघा हो जहाँ, सुने न देकर कान ॥५॥

दु ख स्वय-कृत-कर्म का, है परिणाम विशेष।
समता से भोगे उसे, कहे कर्म का क्लेश ॥६॥

अल्प अर्थ से हो नही, सुख की यदि अनुभूति।
तो प्रचुर धन-राशि से, सुख की कहाँ प्रसूति ? ॥७॥

सफल न करना चाहिए, सब स्थानो मे क्रोध।
माता ने निज पुत्र को, दिया सुखद प्रतिबोध ॥८॥

बचा न सकता कुगति से, नाना भाषा-ज्ञान।
"मुनि गणेश" निर्मल क्रिया, तब होगा उत्थान[1] ॥९॥

---

१ (क) सुबंहुपि सुमहीय, किं काही चरण-विप्पहीणस्स।
अधस्स जह पलित्ता, दीव-सय-सहस्स कोडी वि ॥ —वि०भा०११५२
—आचरणहीन पुरुष को ढेरो शास्त्रो का ज्ञान भी कुछ लाभ नही पहुँचा सकता। क्या लाखो, करोडो जलते हुए दीपक अधे को दिखाने से सहायक हो सकते हैं ?

(ख) बहुं पि चे सहित भासमानो, न तक्करो होत्ति नरो पमत्तो ॥
गोपो न गावो गणय परेस, न भागवा सामञ्ञस्स होति ॥
—ध०प०१-१९
—चाहे कितनी ही सहिताओ का उच्चारण करे, किन्तु जो तदनुसार आचरण करने वाला नही होता, वह दूसरो की गायो को गिनने वाले ग्वाले की भांति श्रामण्य का भागी नही होता।

१२४ : उपदेश

सधता जब तक स्वार्थ है, तब तक सब जग साथ।
स्वार्थ विना निज ज्ञाति भी, झटका देते हाथ ॥१॥
पुण्य-पाप परलोक मे, जाएँगे दो साथ।
रह जायेंगे सब यहाँ, है यथार्थ यह बात ॥२॥
तीन खंड का नाथ भी, देखो खाली हाथ।
चला गया पर-लोक मे, गया न कोई साथ ॥३॥
पीला पत्ता पेड़ का, गिर पड़ता तत्काल[1]।
अरे! मूढ नर देह का, है ऐसा ही हाल ॥४॥
दिन-दिन होता जीर्ण है, रे मानव! यह देह।
कर अपना कल्याण झट, मत कर पर से स्नेह ॥५॥
आता जाता किस समय, रुक जाये यह श्वास।
पता नही पडता कभी, कर निज आत्म-विकास[2] ॥६॥
प्रकट करे पूछे विना, अपने दोप अशेष।
नर-निन्दा से नित वचे, वह नर पूज्य विशेष ॥७॥
मिलते पर-शिक्षा-कुशल, जग मे लोग अनेक।
थाली के उपदेश के, कब हो वैंगन एक ॥८॥
अपनी आत्मा का दमन, जिसने किया नितान्त।
"मुनि गणेश" उसने सही, समझे सब सिद्धान्त[3] ॥९॥

---

१ दुमपत्तए पडुयए जहा निवडइ राइगणाण अच्चए।
एव मणुयाण जीविय, समयं गोयम, मा पमायए ॥ —उत्त०सू० १०,१

२ (क) ज कल्ल कायव्व, णरेण अज्जेव त वर काउ।
मच्चु अकलुणहिअओ, न हुं, दीसई आवयतोवि ॥ —वा०कु०भा०४६-७४

(ख) श्व कार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाण्हे चापराण्हिकम्।
न हि प्रतीक्षते मृत्यु कृतमस्य न वा कृतम् ॥ —सुभापित

३ आशापिशाच प्रवलोऽपि मोहो दग्धश्च यैः क्रोध चतुष्टयश्च।
तै सर्वशास्त्र पठित श्रुत वा, ध्यान कृत श्रेष्ठतपो जपोऽपि ॥
—जिन पुरुपो ने आशारूपी पिशाच को नष्ट कर दिया है और क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कपायो को नष्ट कर दिया है। समझ लेना चाहिए कि उन्ही लोगो ने समस्त शास्त्रो को पढ लिया है। और श्रेष्ठ ध्यान-जप तप भी कर लिया है।

१२५ : दुर्लभ

सयम, शम, समभावना, शील, सत्य साकार।
श्रद्धा, सत-समागमन, दुर्लभ सात सकार[1] ॥१॥
विद्या, विनय, विवेक वर, व्रत, वैराग्य-प्रसार।
विशद ज्ञान, वर वीरता, दुर्लभ सात वकार[2] ॥२॥
न्याय, तितिक्षा, तप, त्रपा, तत्व-ज्ञान अविकार।
तृष्णा-क्षय, तेजस्विता, दुर्लभ सात तकार[3] ॥३॥
दान, दया, दम, दक्षता, दीक्षा दर्शन-सार।
दिव्य-देशना देव की, दुर्लभ सात दकार ॥४॥
चिदानंद, चारित्र वर, चिंतामणि, चिद्सार।
चित्त-शुद्धि चतुरग चिद्, दुर्लभ सात चकार ॥५॥
मति, मानवता, मित्रता, वर मर्यादा-कार।
मंगल, मोक्ष, महाव्रती, दुर्लभ सात मकार ॥६॥
उत्तम चरित उदारता, उचित न्याय उपकार।
उज्ज्वल मन, उद्योग, उर, दुर्लभ सात उकार ॥७॥
करो धर्म-उपासना, कट जाएँ सब रोग।
चक्री-भोजन की तरह, दुर्लभ नर-भव-योग ॥८॥
अभय, अहिसा, अरुज, अज, अनुकम्पा, अविकार।
"**मुनि गणेश**" अवरुद्ध मन, दुर्लभ सात अकार ॥९॥

---

१ बभचेर उत्तमतव-नियम-णाण-दसण-चरित्त-सम्मत्त-विणयमूल।
—ब्रह्मचर्य, उत्तम तप, नियम, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सम्यक्त्व और विनय का मूल है।

२ (क) पाडित्ये सति नम्रत्त्व हीरोऽय कनकोऽपरि। —सूक्ति-रत्नावली
—विद्वत्ता के साथ विनय होना, सोने के ऊपर हीरा होने के समान है।
(ख) "सकलगुणभूषा च विनय"। —सुभाषित
—विनय ही समस्त गुणो का शृगार है, विनय से ही सभी गुण शोभा पाते हैं।
(ग) विनयायत्ताश्च गुणा सर्वे। (समस्त गुण विनय के ही अधीन होते हैं।) —प्रशस्ति

३ "क्षमावशीकृतिर्लोके क्षमया किं न साध्यते।" —सुभाषित-सचय
—क्षमा ससार मे वशीकरण मत्र है। क्षमा से क्या नही सिद्ध होता ?

१२६ : योग

समिति-गुप्ति की साधना, और पाप-परिहार[1]।
कहलाता है योग सब, आत्म-धर्म-व्यापार ॥१॥
जलधि तैरने के लिए, नौका श्रेष्ठ उपाय।
आत्म-शुद्धि के हेतु है, योग एक सदुपाय ॥२॥
भोग, रोग का मूल है, योग सहज आनन्द।
जो करते हैं साधना, वे पाते सुख-कन्द ॥३॥
करता है कितना अहित, नर का मन अनिरुद्ध।
और वही हित साधता, अगर रहे अवरुद्ध[2] ॥४॥
वाहर के वैराग्य से, क्या सधता है योग ?
ऊपर के उपचार से, मिटे न मन का रोग ॥५॥
रहता जग निरपेक्ष नित, करता सम-रस-पान।
योग-साधना के लिये, वह साधक वलवान् ॥६॥
करे नही योगी कभी, विषयो का दुर्ध्यान।
चित्त न चचल हो कभी, सधे योग आसान[3] ॥७॥
विना ज्ञान-वैराग्य के, क्या होता है योग।
भूखे नाई ने कहा, मोक्ष इष्ट-सयोग ॥८॥
हो जाता है भोग से, सर्व शक्ति का नाश।
"मुनि गणेश" सब के लिए, श्रेष्ठ योग-अभ्यास ॥९॥

---

१ समिति गुप्ति धारणं धर्म व्यापारत्वमेव योगत्वम्।
—यशोविजय कृत पातजल दर्शन वृत्ति।

२ (क) निग्गहिये मणपसरे, अप्पा परमप्पा हवई। —आराधनासार २०
—मन के विकल्पो को रोक देने पर आत्मा परमात्मा बन जाता है।
(ख) मणणरवडए मरणे, मरति सेणाइ इन्दियमयाइं। —आराधना ६०
—मन रूप राजा के मर जाने पर इन्द्रियाँ रूप सेना तो स्वय ही मर जाती है। (अत मन को मारने-वश मे करने का प्रयत्न करना चाहिए।)

३ सुण्णीकयम्मि चित्ते, णूण अप्पा पयासेइ। —आराधना ७४
चित्त को (विषयो से) शून्य कर देने पर उसमे आत्मा का प्रकाश झलक पड़ता है।

१२७ : मन

वडा दुष्ट मन अश्व है, दौड रहा दिन-रात।
गिरा रहा दुःख गर्त मे, सव जग को साक्षात्[१] ॥१॥
इच्छुक जो अपवर्ग के, करते नित तप घोर।
चचल चित्त ढकेलता, उन्हे नरक की ओर ॥२॥
अस्थिर मन योगी वने, सचमुच यह उपहास।
पगु कहे, मैं भी चढूँ, पर्वत पर सोल्लास ॥३॥
मन के रुकने से रुके, दुःखो के सव द्वार।
है सुख-इच्छुक के लिए, उत्तम यह उपचार[२] ॥४॥
यदि निर्मल-दिल, सफल सव, ज्ञान-ध्यान, जप-जाप।
वरना करना है सही, वन मे रुदन-विलाप ॥५॥
महा-दुष्ट मन-अश्व है, भटक रहा दिन-रात।
सयम-रूप लगाम से, वश मे कर साक्षात् ॥६॥
मन की पावनता विना, साधन सव वेकार।
तज नौका कैसे तरे, मानव पारावार? ॥७॥
क्षण में मन आकाश मे, क्षण मे फिर पाताल।
है प्रसन्न ऋषिराज की, घटना का यह हाल ॥८॥
वासित विषय-विकार से, मानस है ससार।
"मुनि गणेश" शिव है यही, अनासक्त अविकार ॥९॥

---

१ मणो साहसिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावई।
त सम्म निगिण्हामि, धम्म-सिक्खाए कन्थग ॥ —उत्त०सू०२३-५८
मन साहसिक और भयकर है। दुष्ट घोडे की तरह इधर-उधर दौड लगाता है। धर्म-शिक्षा की लगाम डालकर मैं उसे अच्छे घोडे की तरह वश मे लाता हूँ।

२ (क) अशसय महावाहो! मनो दुर्निग्रह चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय! वैराग्येण च गृह्यते ॥ —गी०६-३५
(ख) मनो यस्य वशे तस्य भवेत्सर्व जगद्वशे।
मनसस्तु वशे योऽस्ति स सर्वजगतो वशे ॥ —अज्ञात

१२८ : वचन

बोले परिमित वचन नित, हितकारी अनवद्य।
उस मानव के वचन का, होता आदर सद्य[1] ॥१॥
जीभ एक है कथन-हित, श्रवण हेतु दो कान।
सुने बहुत नित इसलिए, बोले कम विद्वान् ॥२॥
वचन-वचन मे भेद है, राई-मेरु समान।
एक वचन पीयूष-सम, एक जहर उपमान ॥३॥
मिष्ट वचन सुनकर सभी, हो जाते संतुष्ट।
फिर कटु वाणी बोल कर, वृथा करे क्यो रुष्ट[2] ॥४॥
कोई तेरी बात पर, अगर न देता ध्यान।
तो फिर व्यर्थ न बोलना, रखना मौन महान् ॥५॥
सहज वचन भी सत के, होते लोह लकीर।
शपथ असज्जन पुरुष की, समझो छीलर नीर ॥६॥
हो जाती है वचन से, मानव की पहचान।
ठाकुर और गुलाम का, अंवा करता ज्ञान[3] ॥७॥
निज मुख मे निःसृत वचन, पालन करता वीर।
शीघ्र स्नेह को तोड़कर, धन्ना निकला धीर ॥८॥
"मुनि गणेश" हित, मित, मधुर, बोलो वाणी स्पष्ट।
आत्मा का उत्थान हो, और न पर को कष्ट ॥९॥

---

१ (क) मियं अदुट्ठं अणुवीय भासए। —द०सू० ७, ५५
—विचारपूर्वक मित-थोडा, अदुष्ट, निर्दोष-सुन्दर बोलना चाहिए।
(ख) सच्च च हियं च मियं च गाहणं च। —प्र०व्या० २,२
—ऐसा सत्य वचन बोलना चाहिए, जो हित, मित और ग्राह्य हो।

२ प्रियवाक्यप्रदानेन सर्वे तुष्यन्ति जन्तवः।
—मीठे वचन बोलने से सभी प्राणी सन्तुष्ट हुआ करते हैं।

३ यदा यदा मुञ्चति वाक्यवाणं, तदा तदा जाति कुल-प्रमाणम्।
—पुरुष जिस-जिस समय मे जैसे-जैसे वचन रूप वाण फेंकता है, उस-उस समय मे उनके आधार से ही उसकी जातीयता का और कुलीनता का पता अन्य व्यक्तियो को होता रहता है।

१२८ : शरीर

अशुचि-जन्य यह अग है, जनक अशुचि का देह।
भाजन अशुचि-पदार्थ का, सत न करते स्नेह[१] ॥१॥
रोगों का घर गात्र है, समझो ज्ञान-प्रयोग।
अगुलि जितने स्थान मे, षट् नव्वे है रोग ॥२॥
चाहे जिन्हे न देखना, करता घृणा अपार।
उन चीजो से है भरा, तेरा तन-भंडार ॥३॥
माँस, अस्थि, कफ, पित्त, मल, मूत्रादिक का द्वार।
चर्मावृत यह गात्र है, अज्ञ! करे क्यो प्यार[२]? ॥४॥
लकडी है एरंड की, रे मानव! यह गात।
भीतर-वाहर देख ले सार-हीन साक्षात् ॥५॥
क्षण-भगुर यह देह है, मत कर मोह-विलास।
चाहे कोटि उपाय कर, निश्चित इसका नाश[३] ॥६॥
देहान्तर की प्राप्ति का, वीज देह पर मोह।
विदेहत्व का हेतु है, तनके प्रति निर्मोह ॥७॥
गर्व न करना रूप का, देह अशुचि भडार।
चक्री सनत्कुमार ने, देखा रूप विकार ॥८॥
"**मुनि गणेश**" जिसने किया, ज्ञान-ध्यान, उपकार।
नौका वह नर-देह है, पहुँचाती भव-पार[४] ॥९॥

---

१ इमं सरीर अणिच्च असुइ असुइसभव। असासयावासमिण दुक्खकेसाण भायण।
२ यदि नामास्य कायस्य यदन्तस्तद् वहिर्भवेत्।
दण्डमादाय लोकोय, श्रुत काकाश्च वारयेत् ॥
३ (क) नलिनी-दल-गत-जलमतितरल। तदवज्जीवितमतिशयचपलम्। —मो०मु०५
(ख) पच्छा पुरा व चइयव्वे, फेण-वुव्वुय-सण्णिभे। —उत्त०सू०१९,१४
(ग) फेणूपमं कायमिम विदित्वा। —ध०प०४,३
४ येनैव देहेन विवेकहीना, ससार वीज परिपोषयन्ति।
तेनैव देहेन विवेकभाज, ससार वीज परिशोषयन्ति ॥

नोट—समूचे शरीर मे रोगो की सख्या ५६८९९५८४ है।
(शिवकोटि आचार्य कृत भगवती आराधना।)

१३० : शौच

होता हो जल-स्नान से, यदि आत्मा अम्लान ।
तब तो जलचर जीव की, होगी शुद्धि महान्[1] ॥१॥
होती अन्तर-शुद्धि है, अन्तर-स्नान-प्रसूत ।
बाह्य स्नान से हो सके, कभी न आत्मा पूत ॥२॥
सत्य-स्नान, तप-स्नान है, इन्द्रिय-निग्रह-स्नान ।
दया, क्षमा, धृति, शौच है, अतर-स्नान महान्[2] ॥३॥
सचमुच जगम तीर्थ है, नि स्पृह निश्चल सत ।
जिनके पावन सग से, सब पापो का अन्त ॥४॥
सब तीर्थो मे स्नान कर, पाँचो पाडव-राज ।
आये माधव के निकट, प्रमुदित मन निर्व्याज ॥५॥
आत्मा सच्चा तीर्थ है, करो इसी मे स्नान ।
अतर-शुद्धि न सलिल से, है यह माधव-गान ॥६॥
बाह्य-स्नान आसान हैं, करते सब अविराम ।
धोना मन के मैल को, बडा कठिन है काम ॥७॥
शुद्ध न कर सकता कभी, आत्मा को जल-स्नान ।
कहा कृष्ण ने पाण्डवो, अन्तर स्नान महान् ॥८॥
दर्शन, ज्ञान, चरित्रमय, जल से करके स्नान ।
"**मुनि गणेश**" मानव बने, निर्मल स्फटिक समान ॥९॥

१ उदगेण जे सिद्धिमुदाहरन्ति साय च पाय उदग फुसता ।
उदगस्स फासेण सिया य सिद्धि सिज्झसु पाणा बहवे दगसि ॥

२ (क) अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति, मन सत्येन शुध्यति ।
विद्यातपोभ्या भूतात्माः बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति ॥ —मनुस्मृति ५,१०९

(ख) धम्मे हरए बभे सति तित्ये, अणाविले अत्त-पसण्णलेस्से ।
जहिं सिणाओ विमलो विसुद्धो, सुसीईभूओ पजहामिदोस ।
—उत्त०सू०१२-४६

—धर्म मेरा जलाशय है, ब्रह्मचर्य मेरा शान्ति-तीर्थ है, आत्मा की प्रसन्न लेश्याउज्ज्वल परिणाम मेरा निर्मल घाट है, जहां स्नान कर मैं मलरहित और विशुद्ध हो दोषो का त्याग करता हूँ ।

(ग) आत्मा-नदी शील-शुचिनीर, सत्य-तीर्थ शम-दम दो तीर ।
दयावीचियो बीच नहाव, मन का भी तो मैल बहाव ।
—मैथिलीशरणगुप्त ज०भा०

१३१ : वैचित्र्य

जग के काम अनत है, जीवन का है अत।
चाहे अत अनत का, अचरज यह अत्यन्त ॥१॥
तेरे द्वारा त्याज्य जो, निश्चित वस्तु-व्रात।
हो न रहा परित्यक्त क्या, उनसे तूही भ्रात ? ॥२॥
प्रतिपल प्राणी जा रहे, यमराजा के पास।
अहो ! शेष जन कर रहे, स्थिरता मे विश्वास[1] ॥३॥
मान वोध के हित हुआ, सुगुरु-भक्ति हित-राग।
चित्र ! खेद भी ज्ञान-हित, गौतम गुरु सद्-भाग ॥४॥
आयु घटे प्रतिपल, अत., होते कभी न खिन्न।
प्रतिदिन धन की वृद्धि से, अचरज ! धनिक प्रसन्न ॥५॥
होता लघु तृण-तुल्य वह, जिसके स्पृहा अपार।
चित्र वही फिर डूवता, भवसागर की धार ॥६॥
पूज्य-बुद्धि पापाण मे, धन मे स्वधी-प्रसार।
आत्म-बुद्धि जड दे हमे, है आश्चर्य अपार ॥७॥
व्रह्मचर्य की साधना, है खाडे की धार।
अचरजकारी है कथा, विजया-विजयकुमार ॥८॥
पूर्ण जवानी मे रहे, व्रह्मव्रती अविकार।
"मुनि गणेश" मन वश करे, यह अद्भुत आचार[2] ॥९॥

---

१ अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालये।
शेषा स्थिरत्वमिच्छन्ति, किमाश्चर्यमतः परम् ॥
(ख) ज कल्ल कायव्व, णरेण अज्जेव त वर काउ।
मच्चु अकुलणहिअओ, न हु दीसह आवयतो वि ॥ —वृ०क०भा०४३७४
—जो कल करना है उसे आज ही कर लेना अच्छा है।
मृत्यु अत्यन्त निर्दय है, वह कव आ जाए, मालूम नही।
२ दानं दरिद्दस्स, पहुयस्स खति, इच्छानिरोहो य सुहोइयस्स।
तारुण्णए इन्दियनिग्गहाणि, चत्तारि एयाणि सुदुक्कराणि ॥

१३२ : विविध

मगल है अरिहत प्रभु, मगल सिद्ध महान् ।
मगल-त्यागी सत है, मगल धर्म-विधान[1] ॥१॥

व्याधि न काम समान है, शत्रु न मोह समान ।
आग न क्रोध समान है, पाश न स्नेह समान[2] ॥२॥

नमक छिडकना घाव पर, है न मनुज का कर्म ।
समझे सबको आत्मवत्, है यह उत्तम धर्म ॥३॥

यह मम है वह मम नही, यो समझे अनुदार ।
है उदार नर के लिए, सकल विश्व परिवार[3] ॥४॥

देखे तात्त्विक दृष्टि से, देहादिक को यत्र ।
हो जाते भव-विरति के, हेतु-भूत वे तत्र ॥५॥

मिला रहा सुख के लिए, पर-द्रव्यो का योग ।
किन्तु सौख्य कैसे मिले, है दुखमय संयोग ॥६॥

तरह तरह के लोग हैं, ऊँच-नीच आचार ।
रहे सुखी मध्यस्थ नित, राग-द्वेष परिहार[4] ॥७॥

कभी किसी के मर्म की, मत करना अभिव्यक्ति ।
फाँसी खाकर मर गए, घर के चारो व्यक्ति ॥८॥

सकल विश्व की सम्पदा, विद्युत् विभा-विलास ।
"मुनि गणेश" रहते अत. उससे संत उदास ॥९॥

---

१ अरिहन्ता मगल, सिद्धा मगल, साहू मगल, केवली पन्नत्तो धम्मो मगल ।

२ नास्ति कामसमो व्याधिर्नास्ति मोहसमो रिपु ।
नास्ति क्रोधसमो वह्निर्नास्ति ज्ञानात्पर सुखम् ॥ —सुभाषित

३ अय निज परोवेत्ति, गणना लघुचेतसाम् ।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥ —सुभाषित

४ (क) पुढो छदा इह माणवा । —आचा०सू०१,५,२
—मनुष्य पृथक्-पृथक् अभिप्राय वाले होते हैं ।

(ख) अणेगचित्ते खलु अय पुरिसे । —आचा०सू०१,३,२
—भिन्न-भिन्न मनुष्य के चित्त के भाव भिन्न-भिन्न होते हैं ।

(ग) भिन्न रुचिर्हि लोक । —र०म०६,३०
—लोगो की रुचि भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है ।

१३३ : जय

तुच्छ मनुष्य न छोडता, जब दु.खद तुच्छत्व ।
क्यो छोडे तब उच्च नर, उपकारक उच्चत्व ॥१॥
लज्जा जब तक आँख मे, तब तक बहुत उपाय ।
उत्तम औषधि क्या करे, प्राण-रहित यदि काय ॥२॥
सीमा मे रहते सुधी, सागर-सम गम्भीर ।
अति क्रम सीमा का करे, तुच्छ नदी का नीर ॥३॥
गुरुवर के सत्सग से, मिलता निर्मल ज्ञान ।
बन जाता है पतित नर, पावन स्फटिक-समान ॥४॥
रुचि रखना सिद्धान्त मे, शुचि मन स्फटिक समान ।
नि संशय निर्मल क्रिया, करना कठिन महान्[1] ॥५॥
कीर्त्तन गुणिजन का करे, सबसे मैत्री-भाव ।
समझे सबको आत्मसम, है यह सत स्वभाव ॥६॥
जल मे ज्यो रहता कमल, नित निर्लिप्त नितात ।
त्यो अलिप्त नित काम मे, सत शिवकर शान्त ॥७॥
यश-अपयश मे सम रहे, नीतिमान् गुणवान् ।
"मुनि गणेश" गुरुदेव की, भक्ति करे अम्लान ॥८॥
होती जैसी योग्यता, वैसा मिलता काम ।
चारो बहुओ का यहाँ, उदाहरण अभिराम ॥९॥

---

१ (क) वितिगिच्छ-समावन्नेण अप्पाणेण नो लहइ समाहि । —आचा०सू० १,५,५
—विचिकित्सा-सशय उत्पन्न होने पर शाति नही मिल सकती ।
(ख) नाह गमिस्सामि पमोचनाय, कथकथी धोतक कञ्चि लोके ।
—सु०नि० ६०-४
हे धोतक ! जो सशयशील है उन्हें मैं भी मुक्त करने नही आऊँगा ।
(ग) अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च सशयात्मा विनश्यति ।
नाय लोकोऽस्ति न परो, न सुख सशयात्मन । —गी० ४,४०
—ज्ञानहीन, श्रद्धाहीन तथा संशयशील व्यक्ति नष्ट हो जाता है। जो सशयात्मा है, उसके लोक और परलोक दोनो बिगडते हैं तथा उसे सुख नही मिलता।

वर्धमान भगवान का, शासन साम्य प्रधान।
है भव्यात्मा के लिए, सुरमणि रत्न समान ॥१॥

मिला सुकृत सयोग से, तेरापथ उदार।
निर्मल शारद चन्द्र-सम, विशदाचार विचार ॥२॥

ज्ञापक आत्म-स्वरूप के, भिक्षु भिक्षु-गण ईश।
भारमल्ल, ऋषिराय, जय, मघवा गुण छत्तीस ॥३॥

माणक, डालिम, कालुगणी, निर्मल-मति-आचार।
मम दीक्षा-गुरुदेव का, है अनन्त उपकार ॥४॥

सम्प्रति श्री तुलसी गणी, युग-प्रधान आचार्य।
करते पुण्य प्रभावना, जिन-शासन की आर्य ॥५॥

दो हजार वर वीस मे, आत्म-वोध अम्लान।
"मुनि गणेश" निर्मित प्रथम, अस्सी अष्टक मान ॥६॥

अष्टक शत षोडश अधिक, आत्म-वोध कमनीय।
परिवर्धित शोधित प्रवर, शुभ सस्करण द्वितीय ॥७॥

दो हजार नव वीस मे, यह सस्करण तृतीय।
परिवर्तित शोधित प्रवर, मानव मन-मननीय ॥८॥

पूर्व नाम इस ग्रन्थ का, 'आत्म वोध' अम्लान।
'अन्तर्यात्रा' अव किया, परिवर्तित अभिधान ॥९॥

दोहाष्टक से है किया, दोहानवक सुरम्य।
उदाहरण-सूचक सुखद, रोचक विषय सुगम्य ॥१०॥

प्रकरण हैं सव, एक सौ, तीन तीस रमणीय।
तुलनात्मक टिप्पण सहित, पण्डित जन पठनीय ॥११॥

उदाहरण परिशिष्ट मे देखे पाठक-वृन्द।
जिससे होगा विषय का, स्पष्टीकरण अमन्द ॥१२॥

हो यह सव जग के लिए, उपयोगी अत्यन्त।
एक-मना होकर पढे, वृद्ध, युवक, शिशु, सन्त ॥१३॥

रत्न-त्रय की वृद्धि हित, संत 'गणेश' प्रयास।
गुरु की करुणा दृष्टि से, सफल हुआ अभ्यास ॥१४॥

सन् तिहत्तर मे सुखद, वर अक्टूवर रम्य।
पुर हिसार गुरु-चरण मे, पावस सफल सुरम्य ॥१५॥

अन्तर यात्रा

परिशिष्ट कथाएँ

१. 'भील पुत्र' (सिद्ध-स्तुति)

वचन-अगोचर सिद्ध-सुख, जो है अनुभव-गम्य।
भील बता सकता नही, पुर की बात सुरम्य॥

एक भीलपुत्र सुख से अरण्य मे रहता था। एक दिन राजा वक्रगति के घोडो मे प्रेरित होकर जगल मे भटकता हुआ इसी भीलपुत्र के पास पहुँच गया। राजा प्यास मे व्याकुल था। सारे साथी पीछे रह गये व इधर-उधर भटक गये। ज्योही यह भील नजर पडा उसे धीरज बँधा। किन्तु एक-दूसरे की भाषा दोनो ही नही समझते थे। सकेतो के आधार पर कुछ बातचीत हुई और राजा ने पानी पिलाने को कहा। भील ने ठडा पानी, मीठी छाछ व रोटी राजा के समक्ष उपस्थित की। राजा कुछ आश्वस्त हुआ। छाछ व पानी पिया, रोटी खाई। उसे वह छाछ, पानी व रोटी राजप्रसादो के मनोज्ञ भोजन से भी अधिक स्वादिष्ट लगे। राजा ने भील का बहुत बडा उपकार माना। विश्राम करने के अनन्तर राजा चलने को उद्यत हुआ। किस मार्ग से जाए यह भी उसके सामने समस्या थी। राजा ने भीलपुत्र को साथ लिया। अपने नगर ले गया। वहाँ उसे बहुत ही आनन्दपूर्वक रखा गया। अच्छे भोजन, सुन्दर वस्त्र, रमणीय मकान और उसकी सेवा के लिए राजा ने अच्छी व्यवस्था कर दी।

दिन, महीने बीतते गये। वर्षा ऋतु आ गई। आकाश मे चमकती हुई बिजली व गरजते हुए मेघ को देखकर उसे अपने खेत व घर की याद हो आई। उसे लगा, यदि इस समय खेत न पहुँचा तो बारह महीने कैसे बीतेंगे। राजा के पास आया और अनुमति लेकर अपने घर की ओर चल दिया। बहुत दिनो बाद उसके पारिवारिक, सगे-सम्बन्धी मिले। बड़ी खुशी हुई। सबके लिए वह स्वय जिज्ञासा का विषय बन गया। सारे ही पूछने लगे—कहाँ गया था? क्या देखा? क्या खाया? कैसे रहा? कौन मिले? किन्तु वह तो एक भी उत्तर न दे सका। वह केवल इतना ही कह सका—अच्छा था, आनन्द था, पर वह उस अनुभूति को अपने शब्दो द्वारा व्यक्त न कर सका। लोग पूछते ही रहे और वह सकेतो से बताता भी रहा। परिणाम कुछ भी न निकला। □

२. रोहिणेय (परमात्मा)

वीतराग उपदेश से, प्राप्त करो भव-छोर।
वीर-वचन से तर गया, रोहिणेय-सा चोर ॥

वैभार गिरि पर्वत की गुफा मे लोहखुरो नामक एक चोर अपनी पत्नी तथा पुत्र रोहिणेय सहित रहता था। लोहखुरो के क्रूर कारनामो से वहाँ की सारी जनता त्रस्त थी। और वह स्वय कुप्रवृत्तियो से ग्रस्त होने के कारण अपने पुत्र को भी अन्तिम समय मे यह शिक्षा दी कि तुम राजगृह मे भगवान महावीर की वाणी सुनने कभी मत जाना, वे वडे इन्द्रजालिक हैं। उसने पिता के कहने के अनुसार ही कार्य किया—उसके पास कई प्रभावशाली शक्तियाँ थी। जिससे वह राजा श्रेणिक उनके मन्त्री अभय कुमार तथा नगर रक्षक के काबू मे नही आता था, और अपने कारनामो से जनता को सत्रस्त करता रहता था। आखिर एक दिन काबू मे आया, पकडा गया पर फिर भी भाग निकला, पर जल्दी मे उसकी गगन-गामिनी पादुकाएँ वही छूट गई, पास मे ही भगवान महावीर अपनी अमृतमयी वाणी वरसा रहे थे उस रास्ते से जाते वक्त उसे सुनाई दिया—

अनिमिस-नयणा मण-कज्ज-साहणा, पुप्फ-दाणा अमिलाणा।
चंउरगुलेण भूमं, न छिवंति सुरा जिणा विंति ॥

—और उसी वक्त उसके पैर मे काँटा चुभ गया जिससे वह वड़ी दुविधा मे फँस गया क्योकि भगवान् की वाणी न सुनने के लिए भागते वक्त उसने अपने हाथ पहले ही कानो मे डाल रखे थे अब यदि हाथ छोडकर काँटा निकालता है तो भगवान की वाणी कान मे पडने का डर है। आखिर उसने कान से हाथ हटाये और अपने शूल को निकाला पर भगवान की वाणी ने उसके हृदय को झकृत कर दिया और उसी सन्दर्भ में वह नगर रक्षक के चातुर्य के कारण पकडा गया तथा राजा श्रेणिक के पास पेश किया गया। वहाँ उसने अपने आपको एक साहूकार के रूप मे प्रमाणित करने की चेष्टा की जो सफल हुई। तव मत्री अभय कुमार ने एक तरकीव और निकाली और रोहिणेय को अपने घर ले गया जो विल्कुल स्वर्ग के समकक्ष लगता था। होश मे आने पर वहाँ अप्सरा सरीखी चार परिचारिकाओ ने उससे अपने कृत्यो एव स्वर्ग प्राप्ति के वारे मे पूछा। उसे स्थान व अप्सराओ के वारे मे वडा आश्चर्य हुआ। मन मे भगवान की वाणी का ध्यान आया कि उनके द्वारा बताये गये तो कोई भी लक्षण इनमे नही मिलते है और यह सव अभयकुमार का षड्यन्त्र है। सारा रहस्य खुलने पर अभयकुमार ने क्षमायाचना की कि अनजाने मे हमसे भूल हुई है। आप साहूकार ही हैं। पर उसके दिमाग मे भगवान की वाणी ही गूंज रही थी कि एक वाणी ने उनके जीवन को कैसे परिवर्तित कर दिया, उसने अमात्य से कहा कि वस्तुत मैं चोर ही हूँ। परन्तु अपनी चालाकियो से मैं वच पाता था, आज भगवान की वाणी सुनकर

अभय हो गया हूँ। और अब मैं मेरे पिछले कुकर्मों का पश्चात्ताप करना चाहता हूँ। राजा श्रेणिक उसे भगवान महावीर के पास ले गये। दीक्षा महोत्सव किया। और दीक्षित होकर रोहिणेय ने अपनी आत्मा का कल्याण किया। □

३. अनाथी का अनुभव (आत्मा)

सुख-दु.ख का कर्त्ता स्वय, है आत्मा नि शक।
मुनि अनाथि का है यहाँ, यह अनुभव अकलक॥

मगध सम्राट श्रेणिक एक दिन घूमते हुए मण्डीकुक्ष उद्यान मे पहुँच गये। वहाँ एक वृक्ष के नीचे एक ध्यानस्थ मुनि को उन्होने देखा। उनके मुखमण्डल पर सयम, ब्रह्मचर्य व तपस्या की अद्‌भुत कान्ति झलक रही थी। महाराज श्रेणिक का मन वनराजि से हटकर मुनि की ओर से आकृष्ट हो गया। महाराज श्रेणिक ने नमस्कार किया और अपनी जिज्ञासा प्रस्तुत की—युवक मुनिवर! आप अभी साधू कैसे वन गये? मुनिवर ने शान्त-भाव से जवाव दिया कि मैं अनाथ था, कोई मेरा रक्षक न था अत साधु वन गया। राजा श्रेणिक ने अपना परिचय देते हुए साधु वेष परित्याग की वात कही और स्वय उनका रक्षक व नाथ वनने को तैयार हो गये। मुनिवर ने कहा— तुम स्वय अनाथ हो और ससार ही अनाथ है, यहाँ कोई भी किसी का स्वामी या रक्षक नही है और न ही वन सकता है।

मुनिवर ने अपने गृहस्थ-जीवन के कुलीन सम्पन्न परिवार का परिचय दिया और सासारिक जीवन काल मे नेत्र वेदना की घटना सुनायी। जब नेत्र-पीडा निवारण के लिए सारे उपचार विफल हो गये और मेरा सारा परिवार शोक सतप्त हो गया। अन्तत मैंने ही आत्म-चिन्तन कर अपने सुकृत और दुष्कृत के परिणामो का ख्याल किया। मेरे इस ऊर्ध्वगामी चिन्तन का प्रभाव जहाँ मेरे मानस पर पडा, वहाँ नेत्रो पर भी पड़ा। पीडा मे अल्पता हुई। मैंने मन मे सकल्प किया कि यदि इस समय व्याधि से मुक्त हो जाऊँ तो समस्त सासारिक वन्धनो को छोडकर परिव्राजक वन जाऊँगा। नेत्र वेदना सकल्प के साथ ही जादू की तरह साफ हो गई। वहुमूल्य औषधियाँ जिस वेदना पर नियन्त्रण पाने मे असफल रही वहाँ अन्तरात्मा ने उस पर सफलतापूर्वक विजय प्राप्त कर ली। सभी आश्चर्य चकित हो गए। मै निर्भीक होकर घर, परिवार व धन को त्याग कर अपने सकल्प पर दृढ रहा। सभी की सहमति से मैंने साधुत्व स्वीकार किया।

इस प्रकार राजन्! मैं परिवार व धन के वीच रहकर भी मेरा कोई नाथ नही वन सका परन्तु हृदय की स्थिर ध्वनि ने मुझे नाथ वना दिया। अव मैं अन्य प्राणियों को भी सम्यक्त्व-भाव की प्रेरणा देता हूँ। मुनिवर ने धर्मोपदेश देते हुए कहा

कि दु ख से अभिभूत होने पर वहुधा व्यक्ति कभी ईश्वर को कोसता है, कभी भवितव्यता को और कभी परिस्थिति को, किन्तु सुख-दुःख का उद्गम स्थान अपनी आत्मा ही है। इसलिए कहा भी गया है—

अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली।
अप्पा कामदुहाधेणू, अप्पा में नदणवण ।।

—अपनी आत्मा ही वैतरणी नदी है और अपनी आत्मा ही शालमली वृक्ष है। अपनी आत्मा ही कामधेनु है और अपनी आत्मा ही नन्दन वन है।

सुख-दु ख का कर्ता अपनी आत्मा ही है। वही मित्र और अमित्र है तथा वही सुप्रस्थित और दुष्प्रस्थित है।

४ केशी और परदेशी (आत्म-सिद्धि)

आत्म-सिद्धि नि शक है, जिसके विविध प्रमाण।
केशी ने करवा दिया, परदेशी को ज्ञान ।।

राजा परदेशी वडा ही क्रूर व नास्तिकवादी था। उसके प्रधान मत्री का नाम चित्त था जो वड़ा ही सौम्य व व्यवहार कुशल था। परदेशी राजा की रानी सूरीकात व राजकुमार का सूर्यकात था।

प्रधानमत्री चित्त भगवान पार्श्वनाथ की परपरा के वाहक परम पूज्य केशी-श्रमण से वहुत प्रभावित हुए। प्रधानमत्री के आग्रह पर केशीश्रमण एक बार श्वेताम्बिका नगरी के मृगवन उद्यान मे पधार गए। उनके पदार्पण पर भक्तो मे अपार हर्ष छा गया। प्रधानमत्री चित्त ने सविधि वदना कर कहा—गुरुदेव! राजा परदेशी को आस्तिकता की ओर मोड़ दें तो देश की जनता सदा आपके प्रति कृत-कृत्य रहेगी। मुनिवर ने चित्तजी मे राजा को दर्शन करवाने की वात कही। प्रधानमत्री ने मुनिवर के श्रीचरणो मे राजा को उपस्थित करने का उपाय सोच निकाला।

कुशल प्रधानमत्री ने राजा से नये घोडो का परीक्षण करने के लिए कहा। राजा को घुडसवारी का वहुत शौक था अतएव कुशल सारथी चित्त को लेकर वे वन-क्रीडा करने चले गए। राजा रथ मे वैठे-वैठे नये मनोरम दृश्य का अवलोकन करते रहे और घोडा पवन वेग से आगे सारथी के निर्देशानुसार वढता गया। राजा ने थकान महसूस की तव प्रधानमत्री ने रथ मृगवन उद्यान की ओर ले लिया। एकाएक राजा की दृष्टि शिष्य समुदाय सहित वैठे केशी श्रमण पर पडी और राजा के मुँह से महसा निकल पडा चित्त! ये जड मूढ यहाँ कौन वैठे है? ये कुछ श्रम करते हैं, या यूँ ही निठल्ले वैठे हैं? प्रधानमंत्री ने राजा की ओर जिज्ञासा जगाने की कोशिश की

और कहा कि ये लोग आत्मा और शरीर को भिन्न-भिन्न मानते है। स्वर्ग, नर्क, पुनर्जन्म आदि को मानते हैं। राजा मुनिवर के सन्निकट आये। केशी श्रमण ने राजा को इगित करते हुए शरीर और आत्मा के भेद को समझाया। परन्तु राजा ने इस तर्क पर अपने पुष्ट प्रमाण पेश करते हुए कहा कि मेरे पिता मेरी तरह हिंसक कार्यों मे लिप्त रहते थे। आपके शास्त्रानुसार काल धर्म को प्राप्त हो अवश्य वे नरक गये होंगे। किंतु वास्तव मे उनकी आत्मा शरीर छोड कर नरक गयी होती तो वे मुझ जैसे निकटतम शुभचितक को अवश्य कुकर्म से सावधान करने आते और कह देते कि वेटा! हिंसा मत करना नही तो नरक के दुष्परिणाम मेरी तरह तुझे भी भुगतने पडेंगे। तब मैं सहर्ष मान लू गा कि जीव और काया अलग-अलग हैं।

मुनिवर ने राजा के सशय को दूर करते हुए यह प्रश्न पूछा कि राजन्! अगर तेरी महारानी सूर्यकाता के साथ कोई व्यभिचारी पुरुष दुराचार का सेवन करते पकडा जाए तो तू उसे क्या दड देगा? राजा ने तत्क्षण कहा कि मैं उसे कडी से कडी सजा या मृत्यु दड दे दू गा। तव मुनिवर ने स्पष्ट किया कि यदि व्यभिचारी अभियुक्त का दड मिले और उस समय वह घर जाकर अपने दुष्परिणाम कहने की छुट्टी मागे तो तू क्या उसे समय देगा?

राजा के मन मे कुछ वात वैठी किंतु अपने सन्देह निवारण के लिए फिर कहा कि मुनिवर! मेरी पितामही कुशल धर्मज्ञ श्रमणोपासिका थी। आपके मतानुसार वह स्वर्ग मे गयी होगी। किंतु उसका जीव शरीर से पृथक होकर स्वर्ग गया होता तो वह कभी अपने दुलारे पौत्र को स्वर्ग के सुखो की याद दिलाती। अत मैं नि सन्देह कह सकता हूँ कि उसका जीव शरीर के साथ ही नष्ट हो गया। केशी श्रमण ने इसका प्रत्युत्तर देते हुए कहा कि स्वच्छ वस्त्रधारी व्यक्ति जो पवित्र स्थान की ओर जा रहा हो, और उसे शौचालय मे वैठा हुआ व्यक्ति कुछ परामर्श करने के लिए वुलाए तो वह दुर्गन्ध मे तनिक देर भी खडा होकर वात करना पसन्द नही करेगा। इसी प्रकार तेरी दादी भी स्वर्ग मे आनन्द-विभोर होने पर दुर्गन्धमय मृत्युलोक मे कैसे आएगी?

राजा ने शरीर और जीव के एक होने का पुष्ट प्रमाण देते हुए कहा कि एक वार मैंने एक चोर को जीवित ही कुम्भी मे डाल कर निश्छिद्र मजवूत ढक्कन लगा दिया। उसकी देखरेख के लिए सिपाहियो को चारो ओर तैनात कर दिया। कुछ दिनो वाद कुम्भी खोली गयी तो चोर मृत पाया गया। जीव और शरीर यदि अलग-अलग होते तो जीव वाहर कैसे निकलता? शरीर भी विकृत हो जाने से उसका भी वह स्वरूप नही रहा। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि शरीर और जीव एक ही हैं। केशी श्रमण ने वडे ही शात-भाव से इसका उत्तर देते हुए कहा कि जिस प्रकार चारो ओर मे वन्द निश्छिद्र कोठें मे वोले हुए शव्द भी वाहर सुनायी पड जाते हैं और कोई छिद्र भी देखने पर दिखायी नही पडता। उसी प्रकार जीव भी कुम्भी से वाहर निकल जाता है। वायु मूर्त्त है और जीव अमूर्त्त है।

राजा ने मुनिवर की वात सुनकर एक चोर का उदाहरण और पेश किया राजा ने कहा—मैंने एक चोर मार कर लोहे की कुम्भी मे डाल दिया और उमे मजबूत टक्कन से वन्द कर दिया। कुछ दिनो वाद खोलकर देखा तो कुम्भी कीडो से भरी हुई है पर उसमे कही भी राई मात्र छिद्र न था। मेरी समझ मे ये सभी कीडे चोर के शरीर से ही उत्पन्न हुए, उनके जीव कही वाहर से नही आए। केशी श्रमण ने उसका प्रत्युत्तर देते हुए कहा कि जिस प्रकार अग्नि मे तप्त लोहे के गोले मे अग्नि व्याप्त रहती है फिर भी गोले मे छिद्र दिखायी नही देता। उसी प्रकार जीव भी अमूर्त्त होने के कारण छिद्र किए विना स्थान मे प्रवेश कर जाते हैं।

इसके वाद 'जीव है या नहीं' यह प्रश्न राजा ने मुनि के सामने रखा। राजा ने कहा कि एक चोर के मैंने क्रमश खण्ड कर डाले, पर कही भी जीव दिखायी नही दिया। इससे मेरा विश्वास प्रवल हो गया कि शरीर से भिन्न जीव नही है। तव मुनिवर ने 'मूर्ख लकडहारे' की कथा सुना कर राजा का सन्देह दूर कर दिया जिसने लकडी मे आग निकालने के लिए उसके टुकडे-टुकडे कर डाले पर आग उपलब्ध नही हुई। और वह निराश हो गया। जीव शरीर के किसी अवयव विशेष मे नही वल्कि सारे शरीर मे व्याप्त है।

इस प्रकार केशी श्रमण से विभिन्न प्रकार से प्रतिवोध प्राप्त कर प्रदेशी श्रमणोपासक वना और श्रावक के वारह व्रत अगीकार किए।

५. विजय चोर और धन्ना सेठ (भेद)

आत्मा तन से भिन्न है, वतलाता सिद्धांत।
विजय चोर औ धन्य का, है सुन्दर दृष्टात॥

राजगृह मे धन्य नामक सार्थवाह रहता था। उसकी भार्या भद्रा को वहुत इतजार के वाद देवदत्त नामक पुत्र हुआ। सार्थवाह ने पंथक नामक दास पुत्र को अवोध वालक की देखरेख के लिए नियुक्त कर दिया। एक दिन विजय नामक प्रसिद्ध चोर ने अकेला पाकर वालक के सारे गहने उतार कर उसे मारकर मालुका कच्छ मे छिप गया। काफी छानवीन के वाद विजय चोर पकडा गया और कैदखाने मे डाल दिया गया। लोग सुख-शाति का अनुभव करने लगे। सयोगवश कुछ दिनो पश्चात् सार्थवाह भी किसी राज्य मे पकडा गया और राजा ने उसे विजय चोर के साथ एक ही वेडी मे वांधने का हुक्म दिया। भद्रा द्वारा भेजा हुआ भोजन करते देख विजय चोर ने कहा, "इस भोजन सामग्री मे से मुझे भी कुछ दो।" किन्तु सार्थवाह को अन्न के लिए मुहताज विजय पर तनिक भी दया नही आयी। उसने इसके प्रत्युत्तर मे उसे पुत्र घातक वैरी, अमित्र वताकर डांट दिया।

कुछ देर वाद सार्थवाह को शौच और लघुशका महसूस हुई। उसने विजय से एकात मे चलकर शौच शका निवारण करने की जरूरत जाहिर की। विजय ने अपने शौचशका निवारण की जरूरत न वताकर उसे टाल दिया। प्रकृति प्रदत्त शौचशका निवारण का अन्य कोई दूसरा विकल्प न पाकर उसे मजबूर होकर अपने पुत्र का प्राण हरण करने वाले विजय को आहार-पानी देना स्वीकार किया। यह सुनकर उसकी पत्नी भद्रा भी वहुत नाराज हुई। कुछ दिनो वाद जव वह कैद-मुक्त हुआ तव उसने अपनी पत्नी से खुले स्वर मे कहा कि मैंने उसे भोजन धर्म, कृतज्ञता या न्याय समझ कर नहीं दिया वल्कि मात्र देह-चिंता से निवृत्त होने के लिए दिया। दैनिक परिचर्या के प्रसाधन के लिए उसका सहयोग अपेक्षित था। यह सुनकर वह चुप हो गयी। उपसंहार यह है कि पौदगलिक शरीर और अजर-अमर आत्मा केवल कर्मयोग से जुडे हुए हैं। वस्तुत दोनो भिन्न हैं। □

६. सुलसा (अन्तर-आत्मा)

अन्तर-द्रष्टा के लिये, चमत्कार वेकार।
अम्वड चलित न कर सका, सुलसा दृष्टि उदार॥

राजगृह नगर मे एक नाग नामक रथिक तथा उनकी पत्नी सुलसा रहती थी। दोनो ही जैन-धर्मावलम्वी थे।

एक वार भगवान् महावीर समवसरण हेतु चम्पानगरी पधारे। उनकी देशना से सारी जनता गद्‌गद् हुई, वहाँ दर्शनार्थ आये हुए अम्वड नामक श्रावक ने भगवान् से निवेदन किया कि मैं राजगृह जा रहा हूँ। भगवान ने उस वक्त सुलसा नामक श्राविका के वारे मे वडी खुशी से जिक्र किया। अम्वड ने सोचा ऐसी महान् विभूति के दर्शन अवश्य करने चाहिए। एतदर्थ सुलसा के घर पर गया वहाँ पर भिक्षा मागी। सुलसा ने कहा कि भिक्षा और शिष्टाचार का अन्तर मैं भली प्रकार समझती हूँ। उसके इस उत्तर से वह वडा आश्चर्यान्वित हुआ, और चमत्कार से सुलसा को प्रभावित करने का प्रयास किया और एतदर्थ पद्‌मासन लगाकर वह आकाश मे अधर हो गया, लोगो ने उसकी बडी प्रशंसा की। यह समाचार जव सुलसा के पास पहुँचा तो उसने केवल ढोग माना कि अन्तरद्रष्टा के लिये चमत्कार की कोई आवश्यकता नही। अम्वड को यह महसूस हुआ कि सुलसा निर्ग्रन्थ के सिवाय किसी और को देव व गुरु नही मानती, फिर वह अपने असली रूप मे गया तव सुलसा ने उसको नमस्कार किया।

□

७. जिनरक्षित (वहिरात्मा)

बाह्य प्रलोभन देख कर, जिसका विचलित ध्यान।
जिनरक्षित की भाति वह, पाता दुख महान॥"

चम्पानगरी मे माकन्दी सार्थवाह के दो पुत्र थे जिनपाल एव जिनरक्षित। दोनो ने ११ वार लवण सागर की यात्रा कर प्रचुर मात्रा मे धन उपार्जित किया १२वी बार माता-पिता के निषेध करने पर भी यात्रा पर गये। रास्ते मे भयकर तूफान से जहाज नष्ट हो गया, दोनो भाई एक काठ के टुकडे के सहारे तैरते-तैरते रत्नद्वीप पहुँचे और वहाँ की स्वामिनी रयणा देवी के साथ आमोद-प्रमोद से रहने लगे। एक वार रयणा देवी के यह कहने पर कि मैं लवण सागर की सफ़ाई हेतु जा रही हूँ तुम दोनो दक्षिण दिशा खड को छोडकर भ्रमण कर सकते हो उन दोनो को इसमे कुछ रहस्य लगा और उसको जानने हेतु वे उसी खड मे भ्रमण हेतु गये, वहाँ हड्डियो का अम्बार देखकर भयभीत हो गये उसी स्थान पर एक सूली पर पिरोये हुए आदमी ने कहा कि यह सब रयणा देवी की करतूत है, और तुम दोनो की भी यही हालत होने वाली है, इसका उपाय पूछने पर वताया कि पूर्व दिशा मे एक यक्ष रहता है, वह बचा सकता है। उन्होने उस यक्ष की आराधना की। वह प्रसन्न हुआ और बोला कि मैं तुम्हे यहाँ से ले जा सकता हूँ, पर रास्ते मे रयणा देवी के प्रलोभन मे आ गये तो वही छोड दूगा। यक्ष ने घोडे का रूप बनाकर उन्हे बैठा लिया। रास्ते मे रयणा देवी ने बहुत प्रलोभन दिखाये। जिनपाल दृढ रहा। जिनरक्षित डिग गया। यक्ष ने उसको वही उतार दिया और रयणा ने उसकी हत्या कर दी। □

८. सांप को नाप आओ (आराध्य)

रख कर निज आराध्य पर, दृढ विश्वास नितान्त।
शिष्य हुआ है स्वस्थ झट, गिनकर अहि के दाँत॥

एक आचार्य ने शिष्य से कहा—साप को नाप आओ। वह भूमि को चिन्हित कर उसे नाप आया। गुरु ने सोचा—काम नही बना। दूसरी वार कहा—साँप के दाँत गिन आओ। क्या वह विषमय नही है? मारने का प्रयत्न नही है? शिष्य के मन मे विपरीत भावना नही हुई, उसने गुरु की कृपा मानी। दाँत गिनने का यत्न किया और साँप ने उसे काट लिया। गुरु ने कहा—आ जाओ। शिष्य को सुला दिया और कम्बल ओढा दिया, पसीना आया और शरीर से कीडे निकले। रोग मिट गया, शरीर स्वस्थ और सुन्दर हो गया। आपात् दर्शन मे यह प्रकार अच्छा नही लगता। बाह्य मे वैषम्य था पर हृदय मे विराट प्रेम था। अन्तर मे प्रेम का प्रवाह हो तो कुछ भी

लता नहीं। अन्तर मे प्रेम न हो और बाहर मे समता का दर्शन हो तो भी मन को ाता नही। इसलिए अन्तर की समता को विकसित किया जाये। जिनके साथ ार्दिक सम्बन्ध हो जाता है, उनके लिए प्राण देने के लिए भी कष्ट की अनुभूति ही होती।

□

६. नृपति उदायन (देवाधिदेव)

निष्कारण ही तारते, भक्तो को भगवान्।
नृपति उदायन के लिए, सकट सहे महान्॥

सिन्धु देश मे वितभयपुर नगर का राजा जैनी श्रावक था। शासनसूत्र का सचालन करते हुए भी वह अपने धार्मिक अनुष्ठान को कभी नही भूलता था। एक दिन राजा ने बडे ही धर्म-अनुराग से पौषध किया। रात्रि मे चिन्तन के समय भगवान महावीर के उच्च त्यागमय जीवन पर उनका ख्याल गया। वह सोचने लगा, वह देश, नगर व उपवन कितने धन्य हैं जिनमें स्वय महावीर विचरण करते हैं। वे राजा, सेठ व अन्य नागरिक कितने धन्य हैं जो भगवान के प्रति पर्युपासना करते हैं। उनके अमृत-वचन सुनकर सम्यक्त्व व्रत का महाव्रत ग्रहण करते हैं और अपने हाथ से भोजन, वस्त्र, पात्र आदि दान करते हैं। मेरे जैसे अभागो को वह स्वर्णिम अवसर कहाँ है? सौभाग्य से भगवान् यदि यहाँ पधार जाएँ तो इस बार मैं अपनी भावना पूरी कर लूँ। इस प्रकार राजा के मन मे दीक्षित होने की प्रबल भावना भी उमडने लगी।

व्यक्ति की उत्कट भावना कभी छिपी नहीं रहती। उस समय भगवान श्री महावीर-चम्पा के पूर्णभद्र उद्यान जो नगर से करीब सात सौ कोस दूर था, विचरण कर रहे थे। फिर भी भगवान् श्री महावीर केवलज्ञानी होने के कारण उदाई राजा की भावना जान ली और उन्हें कृतार्थ करने के लिए अपने साधु-समुदाय के साथ वहाँ विहार कर दिया। परीषहो का तनिक भी विचार न करते हुए भगवान् का एक दिन वितभयपुर मे पदार्पण हुआ।

राजा उदाई को जब यह अप्रत्याशित संवाद मिला तो उन्हे अनहद हर्ष हुआ। वे अपनी रानी, कुमार व सेना के साथ भगवान् के श्रीचरणो मे उपस्थित हुए। भगवान् ने ससार की अनित्यता व जीवन की महत्ता पर प्रकाश डाला। लोगो ने उनके विचारो का हृदय मे स्वागत किया।

राजा उदाई भगवान के मधुर उपदेश व विशाल व्यक्तित्व से प्रभावित होकर अपने आपको उनकी शरण मे समर्पित कर दिया। इस प्रकार राजा उदाई ने अपने जीवन का कल्याण कर लिया।

□

१० मेघकुमार (सद्गुरु)

जीवन-रथ की सौंप दो, गुरु के हाथ लगाम।
सन्त मेघ स्थिर हो गया, वीर वचन अभिराम ।।

श्रेणिक राजा की छोटी रानी का नाम धारिणी था। एक समय रात्रि के पिछले प्रहर मे उसने हाथी का शुभ स्वप्न देखा। राजा के पास जाकर उसने अपना स्वप्न सुनाया। राजा ने कहा—"देवी! इस शुभ स्वप्न के प्रभाव से तुम्हारी कुक्षि से किसी पुण्यशाली प्रतापी बालक का जन्म होगा" यह सुनकर रानी बहुत प्रसन्न हुई। नौ मास पूर्ण होने पर पुत्ररत्न का जन्म हुआ। गर्भावस्था में रानी को मेघ का दोहला उत्पन्न हुआ था—इसलिए पुत्र का नाम मेघकुमार रखा गया। योग्यवय होने पर उसका विवाह सुन्दर सुशील आठ राजकन्याओ के साथ हुआ।

भगवान् महावीर का वहाँ पदार्पण हुआ। सम्राट श्रेणिक सपरिवार प्रवचन सुनने गया। मेघकुमार के दिल मे वैराग्य जागृत हुआ। माता-पिता की आज्ञा लेकर उसने सयम लिया। रात्री के समय जब सोने का समय आया तब मेघकुमार का बिछौना सब साधुओ के अन्त मे किया गया क्योंकि दीक्षा में वे सबसे छोटे थे। रात्री मे इधर-उधर आने-जाने वाले साधुओ के पाद-सघटन से मेघकुमार को नींद नहीं आई। उसे बडा खेद हुआ। विचारो ने मोड खाया। उसने सोचा—सुबह होते ही भगवान् की आज्ञा लेकर वापिस घर चला जाऊँगा। वह भगवान् के पास पहुँचा। भगवान् ने कहा—हे मेघ! तुम जरा से कष्ट से घबरा गए। तुम अपने पूर्व भव को याद करो। उस भव मे तुमने महा भयंकर कष्ट सहन किये थे। और तुमने ससार को परिमित किया। और अब मानव-भव के स्वल्प कष्टो के सामने तुम अस्थिर हो गये, यह तुम्हारे लिए श्रेयस्कर नहीं है।

□

११. राजा और व्यासजी (सद्गुरु महिमा)

काट सके बन्धन वही, जो गुरु स्वय अबद्ध।
नारद ने नृप से कहा, व्यास लोभ मे बद्ध ।।

एक राजा ने व्यास जी को बुलाया और कहा कि शुकदेव जी ने राजा परीक्षित को केवल सात दिन कथा सुनाई थी। उससे उसे ज्ञान प्राप्त हो गया था। मैं भी चाहता हूँ कि वह ज्ञान मुझे भी मिले आप एक बार सप्ताह सुनाए तो बडा अच्छा होगा। राजा और व्यासजी दोनो सप्ताह सुनने और सुनाने के लिए जम कर बैठ गये। दिन पर दिन गुजरे और सप्ताह की अवधि समाप्त हो गई। व्यास जी बोले—

राजन् ! कथा समाप्त हो गई है । राजा बोला—मुझे अभी तक ज्ञान तो हुआ ही नहीं । व्यासजी ने कहा—राजन् ! आपने कथा ध्यान से नहीं सुनी होगी ?

राजा ने कहा—व्यासजी ! आपने कथा अच्छी तरह से नही सुनाई केवल घास ही काटा होगा ? ऐसे दोनो एक दूसरे पर आरोप-प्रत्यारोप लगा रहे थे । व्यास जी राजा से दो दिन का पारिश्रमिक चाहते थे और राजा व्यासजी से ज्ञान । उसी समय उधर से नारदजी आ गये । राजा और व्यासजी से घटना का ज्ञान प्राप्त किया । नारदजी ने तर्क का सहारा न लेकर व्यवहार का सहारा लिया । उन्होंने दोनो के हाथ-पैर अच्छी तरह से बांध दिये व पैरो के बीच एक डण्डा भी फँसा दिया । नारदजी ने दोनो ही से कहा—अब आप दोनो ही एक दूसरे को खोलिए । दोनो ही सविषाद बोल पडे—नारदजी ! आपको हमेशा ऐसा ही मजाक सूझता है । बँधे हुए व्यक्ति क्या एक दूसरे को खोल सकते हैं ?

नारदजी ने राजा को सम्बोधित करते हुए कहा—तभी तो तुझे ज्ञान नही मिला । व्यास जी माया मे फँसे हुए है । और तू राज्य व्यवस्था मे । कैसे तो इनकी वाणी मे वह चमत्कार हो सकता है । और कैसे तुझे ज्ञान मिल सकता है ? यदि तुझे ज्ञान ही पाना था तो किसी निर्ग्रन्थ से कथा श्रवण करता ।

□

१२. सच्चा साधु (सन्त)

जो न किसी मे देखता, किसी दशा मे दोष ।
कहा बुद्ध ने है वही, साधु पुरुष निर्दोष ॥

भगवान बुद्ध के पूर्ण नामक एक शिष्य उनके समीप एक दिन आया और उसने तथागत से धर्मोपदेश प्राप्त करके 'सुनापरत' प्रान्त मे धर्म-प्रचार के लिए जाने की आज्ञा माँगी । तथागत ने कहा—"उस प्रान्त के लोग तो अत्यन्त कठोर तथा बहुत क्रूर है । वे तुम्हे गाली देंगे, तुम्हारी निन्दा करेंगे, तो तुम्हे कैसा लगेगा ?"

पूर्ण—"भगवन् ! मैं समझूंगा कि वे बहुत भले लोग हैं, क्योकि वे मुझे थप्पड-घूंसे नही मारते ।"

बुद्ध—"यदि वे तुम्हे थप्पड-घूंसे मारने लगें तो ?'

पूर्ण—"मुझे पत्थर या डंडो से नही पीटते, इससे मैं उन्हें सत्पुरुष मानूंगा ।"

बुद्ध—"वे पत्थर डंडो मे भी पीट सकते हैं ।"

पूर्ण—"वे शस्त्रप्रहार नही करते, इससे वे दयालु हैं—ऐसा मानूंगा ।"

बुद्ध—"यदि वे शस्त्रप्रहार ही करें ?"

वह तो साधु बन गया।" यह शब्द सुनते ही राजा चौंका। और तत्क्षण नतमस्तक हो अंगुलीमाल को पुन पुन. वन्दना करने लगा। राजा प्रसेनजित भगवान से प्रार्थना करने लगा—"अहोमहाभाग! सारे शहर को आपने अभय बना दिया है। जो शक्ति सत्संगति मे है, वह सेना मे नही है। आपने पापी को पावन बना दिया।"

□

१५ मुनि मेतार्य (साधक)

घोर आपदा मे रहे, अविचल मेरु समान।
धन्यवाद सौ बार है, मुनि मेतार्य महान॥

एक धनी परिवार मे मेतार्य का जन्म हुआ। परन्तु किसी देव ने उसका अपहरण कर जगल मे गिरा दिया। जगल मे एक चाण्डाल ने लालन-पालन किया और बाद मे भाग्यवश वे राजा श्रेणिक के दामाद हो गये, तदुपरान्त सांसारिक ऐश्वर्य का विसर्जन करके साधु हो गये, उनका आध्यात्मिक तेज प्रस्फुटित हो उठा, इस अलौकिक आभा को लिये एक बार राजगृह मे एक सोनार के यहाँ भिक्षा हेतु पधारे। सोनार उस वक्त राजा के आभूषणो के लिये सोने के जौ बना रहा था। जो धान्य के समान लगते थे, सुनार के भिक्षा देने हेतु जाने पर पीछे से क्रौंचपक्षी ने उन जौ को निगल लिया। सोनार को वापिस आने पर जौ नही मिले तो मेतार्य मुनि पर इसका आरोप लगाया, पर मुनि तो समभावी थे सब कुछ पता होने पर भी किंचित मात्र का द्वेषभाव सोनार के प्रति नही आया। सोनार क्रोधित हो उठा उसने दड देने हेतु गीला चमडा मुनि मेतार्य के मस्तक पर लपेट दिया। उसके सूखने पर उसकी दारुण व्यथा से उनकी देह का अवसान हो गया। धर्म पर इस दृढता के कारण उन्हे कैवल्य प्राप्त हुआ।

□

१६. शैतान (साधना)

धर्म-साधना-शत्रु है, राग-द्वेष-अभिमान।
है यहाँ शैतान का, शिक्षाप्रद आख्यान॥

शैतान के तीन चेले थे—राग, द्वेष और अहकार। एक दिन वह उनके साथ कही जा रहा था। आगे राग था और उसके पीछे अहंकार। सबके पीछे शैतान स्वय। कुछ दूर चलने पर राग को कोई चमकती हुई वस्तु दिखाई दी। वह दौड़कर उसके पास गया और उठाकर जेब मे रख लिया। द्वेष यह सब देख रहा था। वह भागा हुआ आया और राग से पूछने लगा—"तुमने जेब मे क्या रखा है?"

"यह धर्म है" राग ने उत्तर दिया।

द्वेष यह वात सुनकर आग-ववूला हो गया। अपने गुरु शैतान के पास जाकर बोला "यह कितनी वुरी वात है। हम लोग इतने दिनो से धर्म का नाश करने की कोशिश कर रहे हैं और इसने उसे जेव मे रख लिया। दुश्मन को वचाने की कोशिश कर रहा है।"

"तुम नही समझते," शैतान ने उत्तर दिया। "इसने वडी अकल से काम लिया है। हमने धर्म को कुचलने की कोशिश की, किन्तु उसकी ताकत वढती चली गई। अव वह जेव मे आ गया तो किसी को रोशनी नही दे सकेगा। हम लोग जव उस पर हमला करते थे तो उसके वहुत से साथी तैयार हो जाते थे। अव वे राग को धर्म का मित्र मानने लगेंगे और उसकी रक्षा को धर्म की रक्षा समझेंगे। फलस्वरूप नाम धर्म का होगा और काम हमारा।"

द्वेष कुछ देर सोचकर वोला, "मुझे भी एक तरकीव याद आ गई। अव मैं धर्म पर सीधा हमला नही करूँगा इसके स्थान पर उन लोगो को आपस मे लडाऊँगा जो धर्मात्मा होने का दावा करते हैं। साधारण वर्ग उनकी वातो मे आकर परस्पर निन्दा, आक्षेप-प्रत्याक्षेप एव आक्रमण मे लग जायेगा। तलवारें चलेंगी। खून वहेगा। किन्तु इन सव वातो को धर्म-प्रचार समझा जायेगा और मेरा काम अनायास ही होने लगेगा।"

तीसरा चेला अहकार यह सव सुनता रहा। अन्त मे उसने भी खुश होकर कहा—"मेरा काम वन गया। अब तक धर्म, लोगो को विनय एव नम्रता का पाठ सिखा रहा था और मुझे चुप हो जाना पडता था, किन्तु अव उसका रग वदल जायेगा। कुछ लोग विशेष प्रकार के कपड़े पहन लेंगे और अपने को दूसरे से ऊँचा मानने लगेंगे। भक्त वर्ग उनके गीत गायेगा और वे मेरे नशे मे डूवे रहेगे। इतना ही नही, जव दो परम्पराओ के अनुयायी आमने-सामने आयेंगे तो उन पर भी मेरा नशा चढ जायेगा। प्रत्येक दल अपने को ऊँचा समझेगा और दूसरे को नीचा। अपने गुण-गान करेगा और दूसरे की निन्दा। इस प्रकार मैं सव पर छा जाऊँगा।"

शैतान ने अपने तीनो चेलो को शावासी दी और मुस्कराते हुए कहा—"अव हमारी विजय निश्चित है। हम अपना काम धर्म के नाम से करेंगे। काम, क्रोध, लोभ आदि सैनिक उसी प्रकार काम करते रहेंगे, किन्तु उनकी वेशभूषा सन्त की होगी। राग गुरुभक्ति के रूप मे सामने आयेगा, द्वेष विधर्मी की निन्दा के रूप मे, अहकार तथाकथित त्यागी वर्ग की अस्मिता के रूप मे, मिथ्या आडम्वर प्रचार के रूप मे और मनोविकार भक्ति के रूप मे।" □

पूर्ण—"मुझे वे मार नही डालते, इसमें मुझे उनकी कृपा दीखेगी ।"

बुद्ध– "ऐसा नही कहा जा सकता कि वे तुम्हारा वध नहीं करेंगे ?"

पूर्ण—"भगवन् ! यह संसार दुःखरूप है, यह शरीर रोगों का घर है । आत्म-घात पाप है, इसलिए जीवन धारण करना पड़ता है । यदि 'सूनापरंत' (सीमाप्रान्त) के लोग मुझे मार डालें तो मुझ पर वे उपकार ही करेंगे । वे लोग बहुत अच्छे सिद्ध होंगे ।"

भगवान् बुद्ध प्रसन्न होकर बोले—"पूर्ण ! जो किसी दशा में किसी को भी दोषी नही देखता, वही सच्चा साधु है । तुम अब जहाँ चाहो जा सकते हो, धर्म सर्वत्र तुम्हारी रक्षा करेगा ।"

□

१३. जटायु (सन्त महिमा)

मुनि के चरण-स्पर्श से, मिट जाते सब रोग ।
पक्षी-गीध जटायु जो, बना सुरूप निरोग ॥

राम, लक्ष्मण और सीता वन-विहार करते हुए दण्डकारण्य मे पहुँच गए । एक गुफा मे वे ठहरे । त्रिगुप्त और सुगुप्त नामक दो साधु दो महीने की तपस्या का पारणा करने के लिए उसी गुफा मे आए सीता ने उन्हें आहार का दान दिया । पाँच दिव्य प्रकट हुए । देववाणी, पुष्प, रत्न, वस्त्र, गन्धोदक की वृष्टि हुई । वही पास मे वृक्ष पर एक गीध पक्षी बैठा हुआ था । वह बहुत भौंडा व बीमार था । गन्धोदक की सुगन्धि से प्रेरित होकर वह नीचे उतर आया । उसने साधुओ के दर्शन किए । उसे वह परिधान बहुत ही परिचित लगा । ऊहापोह हुआ और उसके बल पर उसे जाति-स्मरण ज्ञान मिला । अपने पिछले जन्म की स्मृति से शोकातुर होकर वह मूर्छित हो गया । सीता के मन मे करुणा उमड़ी । उसने उसे उठा लिया । उपचार के द्वारा उसे स्वस्थ किया । सज्ञा पाते ही वह मुनि के चरणो मे जा गिरा ।

उग्र तपस्या के कारण मुनि को नाना प्रकार की लब्धियां प्राप्त थी । उन लब्धियो मे एक लब्धी ऐसी भी थी जिसे स्पर्श औषधि कहा जाता है । उस लब्धि के आधार पर प्राणी के स्पर्श मात्र से ही भयकरतम रोग समाप्त हो जाते हैं । उसका शरीर स्वर्ण के समान निखर आता है । जटायु के भी यही हुआ । मुनि के चरण-स्पर्श से उसका असाध्य रोग दूर हो गया । पांख, चोंच व उसका सारा शरीर स्वर्ण के समान चमकने लगा । उसके शरीर पर रही हुई जटा रत्न श्रेणी की तरह शोभित होने लगी । इस प्रकार की शोभनीय जटा के कारण उसका नाम जटायु पड़ गया ।

राम, लक्ष्मण और सीता ने यह सारी घटना अपनी आँखो से देखी । उन्हें बहुत आश्चर्य हुआ । उस दिन से राम ने उन्हे अपना भाई बना लिया और उन

तीनो के साथ वह चौथा और रहने लगा। राम जहाँ जाते, वह भी उनके आगे-आगे चलता और जहाँ वे ठहरते वह भी ठहरता।

रावण जब सीता का अपहरण कर लका की ओर जाने लगा। जब जटायु ने ही पहले पहल उसका प्रतिवाद किया था। किन्तु रावण के सामने वह कहाँ ठहर सकता था। उसने तलवार के एक ही वार से उसके पख काट गिराये। और जटायु ने सिसकते हुए स्वामि-भक्ति मे अपने प्राण न्योछावर कर दिये।

□

१४. अंगुलीमाल (सत्संगति)

पापी भी पावन बने, सत्संगति के योग।
चोर अगुलीमाल का, वृत्त सुनो सब लोग।

श्रावस्ती के जगल मे एक लुटेरा रहता था। वह मनुष्यों को लूट-मार कर उनकी अँगुलियाँ काट लेता और उनकी माला पहन लेता था। इस कारण वह सारे शहर मे 'अँगुलीमाल' नाम से प्रसिद्ध हो गया। एकदा उस भीषण अटवी मे भगवान बुद्ध को जाते देखा, ग्वाले कहने लगे—"महाराज। इस गहन वन मे तो एक भयकर लुटेरा रहता है। जो सबको लूटकर मार डालता है। अत. यदि आपको जीवन प्रिय है तो यहाँ से वापस लौट जाइये।" भगवान बुद्ध बात सुनी-अनसुनी करके आगे चले। अगुलीमाल जब दूर से भगवान बुद्ध को आते देखा, उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। और वह सोचने लगा—यह कौन है? वह बुद्ध के सामने आया और स्थिर खडा होकर जोर से बोला—"ठहर जाओ, आगे मत बढो, वही खडे रहो," बुद्ध ने चलते-चलते कहा—"भाई। मैं तो खडा हूँ किन्तु तुम भी खड़े रहो।" अगुलीमाल ने सोचा—यह कैसा साधु है, जो मेरे स्थिर (खडा) रहने पर भी खडा रहने को कहता है। और स्वय चलता हुआ भी कहता है कि मैं तो खडा हूँ।' भगवान बुद्ध का यह निराला उत्तर सुनकर वह भ्रम मे पड गया और बुद्ध से कहा—"ऐसे तुम कैसे कह रहे हो? देखते नही, मैं तो खडा ही हूँ।" तब भगवान बुद्ध ने उपदेश देते हुए कहा—"भाई। मैं तो प्रेम और मैत्री मे स्थिर हूँ। लेकिन तुम अभी स्थिर नही हो, अत स्थिर हो जाओ।" भगवान बुद्ध के उपदेश का यह परिणाम निकला कि वह बुद्ध का शिष्य बन गया। और उन्ही के साथ विहरण करता हुआ श्रावस्ती के उद्यान मे आया।

नगर का सम्राट प्रसनजित सेना लेकर अगुलीमाल को पकडने के लिए चला। मार्गस्थ बगीचे मे भगवान बुद्ध को वन्दन करने लगा। भगवान ने कहा—"राजन्। आज सेना लेकर कहाँ जा रहे हैं?" राजा ने उत्तर दिया—"महाराज। जगल मे एक लुटेरा रहता है। मैं उसे पकडने जा रहा हूँ।" बुद्ध ने कहा—"राजन्।

१७. न्यूटन की निरभिमानता (श्लाघा-त्याग)

अपनी श्लाघा मे बचे, बनता वही महान।
न्यूटन ने निज को कहा, मैं बच्चा अनजान ॥

लन्दन के सर आइजक न्यूटन को सारा विश्व एक प्रतिभाशाली चिन्तक के रूप मे जानता है। छोटी उम्र मे उन्होंने बीजगणित के द्विपद सिद्धान्त एव गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्तो का आविष्कार किया।

इनकी इन उपलब्धियो मे प्रभावित होकर एक महिला ने उनकी बहुत प्रशसा की, तब उन्होंने एक बड़ी बात कही कि मैं तो उस बच्चे के समान हूँ जो सत्य के विशाल समुद्र के किनारे बैठा हुआ केवल ककड़ो को ही चुनता रहा।

यह उक्ति उनकी महानता की परिचायक है कि महान् व्यक्ति ऊँचे उठने पर भी नम्र बने रहते हैं।

"Ala's I am only like a child Picking up Pebbles on the shore of the giant ocean of truth

१८. केशवकुमार (ध्येय निष्ठा)

ध्येयनिष्ठ नर को मिले, परम सम्पदा सार।
निशि-भोजन के नियम से, केशव भूप उदार ॥"

कुण्डनपुर नगर मे यशोधर नामक एक नास्तिक रहता था। उसके दो पुत्र थे, हस और केशव। एक बार दोनो ही जैन मुनि के दर्शनार्थ गये, जैन मुनि ने दोनो को रात्रि भोजन का त्याग करवाया। हस नियम लेकर डिग गया, विचलित हो गया परन्तु केशव अडिग रहा। फलस्वरूप माता-पिता ने उसे घर से निकाल दिया।

घूमते-फिरते वह एक मन्दिर मे पहुँचा वहाँ के पुजारी एव अन्य सदस्यो ने उसे रात्रि-भोजन के लिए आग्रह किया, परन्तु उसने कहा कि मुझे रात्रि-भोजन का त्याग है, इस पर उन्होंने यक्ष को आह्वान किया। यक्ष ने डराया-धमकाया और थोडी ही देर बाद एक नकली सूर्य का दिग्दर्शन करा दिया ताकि उसे सूर्योदय का भान हो सके और वह भोजन करले। परन्तु केशव के मन को यह स्वीकार नहीं हुआ और उसने भोजन करने से इन्कार कर दिया, यक्ष और परिजनो की सारी युक्तियाँ उसे डिगाने की बेकार गयी। अन्त मे एक दिव्यात्मा प्रगट हुई और कहा कि तुम अपनी साधना मे सफल हुए। एतदर्थ मैं तुम्हें वरदान देता हूँ कि जो तुम्हारे अगूठे का स्पर्शित पानी पीयेगा वह रोग-मुक्त हो जायगा।

इसके उपरान्त वह घूमते-फिरते साकेत नगर मे आया। वहाँ का राजा साधु होना चाहता था, परन्तु पुत्र न होने के कारण खिन्न था। एक धार्मिक सभा मे साधु ने केशव के बारे मे बताया। केशव वही बैठा था, राजा उसे महल मे ले गया, और विधिवत् पुत्र स्वीकार कर राज-पाट सभलवाया। एक दिन राजमहल मे बैठे केशव ने भिखारी की तरह फिरते हुए अपने माँ-बाप को देखा और उन्हे ससम्मान अपने पास बुला लिया। भाई के बारे मे पूछने पर उन्होने कहा कि एक बार रात्रि मे भोजन करते हुए सर्प का विष उसके पेट मे चला गया, फलस्वरूप उसको कोढ हो गया है। केशव ने वरदान का लाभ लेते हुए उसे बुलवाया और अपने अगूठे का स्पर्श किया हुआ पानी उसे पिलाया जिससे वह रोग मुक्त हो गया।

□

१६ संगम (आत्म-ध्यान)

यदि आत्मा बलवान हो, तो क्या करे निमित्त।
सगम चलित न कर सका, महावीर का चित्त॥

इन्द्र का सामानिक देव सगम स्वर्ग से चलकर पेढाल ग्राम मे जहाँ भगवान श्री महावीर थे, आया। उन्हे अनुकूल व प्रतिकूल उपसर्ग देने प्रारम्भ किये। वह बिना बनाए ही भगवान का शिष्य बन गया। गाँव मे जाता और वहाँ लोगो से कहता—मेरे गुरु रात मे चोरी करने के लिए आएगे, अत मैं सेंध लगाने का मौका देख रहा हूँ। लोग बहुत क्रोधित होते। भगवान के पास आते, मारते-पीटते व गालियाँ निकालते। कभी वह गाँव से कोई वस्तु चुरा लाता और जब भगवान ध्यानस्थ बैठे होते, उनके सम्मुख रख देता। ग्रामवासी आते और अपनी वस्तु को जब वहाँ देखते, उस तथाकथित चेले को पकड़ते। वह तुरन्त बोल उठता, मुझे क्यो मारते हो, मैंने तो गुरु के कहने से इसे चुराया था। अनजान ग्रामीण भगवान महावीर पर बरस पडते।

भगवान सोचते, मेरे यह पूर्व कर्मों का उदय है। मुझे समभाव रखना चाहिए। वे उस मार से विचलित न होते। इस प्रकार छह महीने तक वह सगम देवता भगवान श्री महावीर के पीछे लगा रहा। एक रात मे तो उसने अपनी नृशसता की पराकाष्ठा ही कर दिखायी। उसने बीस मरणान्तिक कष्ट दिए। यदि उस स्थान पर दूसरा कोई व्यक्ति होता, एक बार मे भी बच नही सकता, किन्तु वे भगवान श्री महावीर थे। सगम ने अपनी पूरी शक्ति लगा दी। उसने (१) धूल की वर्षा की, (२) वज्रमुखी चीटियाँ बनकर शरीर को काटा, (३) वज्रमुखी डाँस बनकर काटा, (४) घोमेल बनकर काटा, (५) बिच्छु बनकर डक मारे, (६) सर्प बनकर डसा, (७) नेवला बनकर नाखून और मुँह से उनके शरीर को विदीर्ण किया, (८) चूहा बनकर काटा, (६) हाथी व हथिनी बनकर भगवान श्री महावीर को सूड से पकड कर आकाश मे उछाला,

(१०) नीचे गिरने पर दाँतो व पैरो से रौंदा, (११) पिशाच का रूप बनाकर डराया, (१२) व्याघ्र बनकर छलाग भरते हुए डराया, (१३) माता बनकर कहा पुत्र ! तू किसलिए दु खी हो रहा है। मेरे साथ चल। मैं तुझे सुखी करूंगी, (१४) कानो मे तीक्ष्ण मुख वाले पक्षियो के पिजड़े बाधे, जिससे उन पक्षियो ने भगवान को बुरी तरह घायल कर दिया, (१५) चडाल के रूप मे आकर दुर्वचनो से तर्जना की, (१६) दोनो पैरो के बीच मे आग लगा दी, (१७) कठोर वायु चला कर दुर्दान्त कष्ट दिया, (१८) गोल वायु चलाकर शरीर को चक्रवत् घुमाया, (१९) लोहे का गोला भगवान श्री महावीर के मस्तक पर गिराया, (२०) रात्रि रहते ही प्रभात बना दिया। लोग आकर कहने लगे, अब क्यो बैठे हो, चलो यहाँ से। देखो कितना सूरज चढ़ आया है ? फिर भी भगवान श्री महावीर अपने ध्यान मे ही स्थिर रहे। उन्होंने अपने अवधिज्ञान से जान लिया कि अभी रात्रि ही है। यह तो कृत्रिम प्रभात है। इन्द्र ने जब यह सारी घटना जानी, बहुत कष्ट हुआ। वह स्वर्ग से आया और उसने आव देखा न ताव वज्र प्रहार किया। सगम देव छह महीने तक चिल्लाता रहा। इन्द्र ने उसे अपने स्वर्ग से निकाल दिया। वह मेरू पर्वत की चूला पर जाकर रहने लगा।

□

२०. मोहजीत (ध्याता)

ध्याता करता है नही, कभी किसी पर मोह।
मोहजीत की भाँति नित, रहता है निर्मोह॥

एक बार देवराज इन्द्र ने अपने सुरगणो से कहा कि पृथ्वी पर मोहजीत राजा बडा ही निर्मोही, अनासक्त व विरक्त है। अपने नाम के अनुरूप ही उसमे गुण हैं। एक देवता ने इस बात की परीक्षा लेने की ठानी। राजा के पास पहुँचा व परिवार वालो के बारे मे जानकारी प्राप्त की। उसके मोह की परीक्षा लेने के लिए उसके इकलौते पुत्र को उडा दिया और बाद मे शेर द्वारा खा जाने का समाचार फैला दिया। दासी, राजा, रानी और राजकुमार की पत्नी को क्रमश यह शोक-सदेश देने के लिए गया, सभी ने कहा कि आत्मा अजर-अमर है। सब कुछ कर्म के आधीन है, शोक करने से कुछ नही होगा। इसके विपरीत हम हमारा मन धर्म-ध्यान मे लगायें तो कल्याण होगा। इकलौते पुत्र की मृत्यु के समाचार पर इस प्रकार अनासक्त विचार सुनकर आश्चर्य हुआ। पुत्र को उनके सामने उपस्थित कर अपने किये हुए अपराध के प्रति क्षमा याचना की। □

२१. चुलनीपिता (ध्यान हेतु)

ध्यान-सिद्धि के हेतु है, आवश्यक निर्मोह।
चलित हुआ चुलनी-पिता, माता पर कर मोह ॥

भगवान महावीर विहार करते हुए एक बार कोष्ठक चैत्य मे पधारे। उनकी देशना सुनकर गाथापति चुलनी-पिता बडे प्रभावित हुए और भगवान से बारह व्रतो के नियम ले लिए, और अडिग निष्ठा से पालन करते हुए ससार से निवृत्त होकर ध्यान करने लगे उनकी अडिग साधना से प्रभावित होकर एक देव ने उन्हे विचलित करने की सोची। फलस्वरूप उनके चारो लडको को उसके सामने मारकर उनके टुकडे करके गर्म तेल से सिंचित करके चुलनी-पिता को स्पर्श करवाया जिससे उनको भयकर वेदना पहुँची पर वे अविचल रहे। अन्त मे वह देव उसकी माँ को उसके सामने लाकर मारने को उद्यत हुआ तव चुलनी-पिता के मन मे विचार आया कि यह अनार्य है और कभी भी यह कुछ भी कर सकता है। माँ के प्रति मेरी बडी ममता है। उसने मेरे लिए वहुत कष्ट उठाये हैं अत उसका अहित नहीं होने दूँगा यो सोचते ही वह उस देव को पकडने के लिए उठा। देव अन्तर्ध्यान हो गया। चूंकि वह छलना थी अत उसके हाथ मे केवल स्तम्भ आया वह चिल्ला उठा जिसे उसकी माँ ने सुन लिया तथा उसने कहा कि किसी देव की छलना थी, वह तुम्हे डिगा गया है, वस्तुतः कुछ भी नही हुआ है, उसने इसका प्रायश्चित्त किया और व्रतो की पालना करते हुए आत्मा का कल्याण किया।

□

२२. इलापुत्र (ध्यान संकल्प)

विशद भावना से वने, आत्मा स्फटिक समान।
इला-पुत्र ने पा लिया, निर्मल केवलज्ञान ॥

इला-वर्धन गनर मे धनदत्त नामक सेठ के इलापुत्र नामक पुत्र था। वह वहुत सुन्दर, सुयोग्य था। वडा होने पर एक वार नटकला प्रदर्शन देखते हुए नट की कन्या पर मोहित हो गया, और उससे विवाह करने की इच्छा प्रगट की। माता-पिता ने वहुत समझाया कि कुल-परम्परा से ही शादी होनी चहिए पर वह दृढ निश्चय कर चुका था। इस पर नट ने एक शर्त रखी कि तुम यदि हमारे साथ मिल जाओ, तथा नट-कला मे दक्षता प्राप्त करलो तो मैं मेरी कन्या का विवाह तुम्हारे साथ कर सकता हूँ। इला पुत्र राजी हो गया। एक वार वह मडली के साथ एक राज-दरवार मे नाटक दिखाने गया, वहाँ का राजा उसी कन्या पर मोहित हो गया जिसे इलापुत्र

चाहता था। राजा चाहता था कि किसी तरह इलापुत्र अपनी कला का प्रदर्शन करते हुए मर जाए तो यह कन्या मेरे हाथ आ सकती है, फलस्वरूप उसे चार वार लगातार उसे अपना करतव दिखाने को कहा। वह नुकीले वास पर सुपारी के ऊपर नाभि के बल पर बहुत जोर से चक्कर लगा रहा था किसी भी क्षण गिरने का खतरा था, परन्तु वह अपनी कला मे निपुण था, अतः हर वार सफल हो गया, चौथी वार उसने एक मुनि को एक घर से भिक्षा लेते हुए देखा, कि मुनि ने भिक्षा देने वाली स्त्री की तरफ झाका भी नही अत उसकी भावना वदल गई, उसने सोचा कहाँ ये मुनि और कहाँ मैं, कि एक लडकी की याचना के लिए इस प्रकार मारा-मारा फिर रहा हूँ उसने अपने मन को काबू मे किया। वास से उतर कर आत्मालोचन किया और भोगो से विरक्त हुआ तथा सम्यक्दर्शन प्राप्त करके अपनी आत्मा का कल्याण किया।

□

२३ जयाचार्य (आत्म-दर्शन)

नृत्य आदि को समझता, साधक मात्र प्रलाप।
जयाचार्य का है यहाँ, उदाहरण निष्पाप॥

जयाचार्य के सामने एक नाटक हो रहा था। वे दूकान मे बैठे लिखते ही रहे। एक व्यक्ति की दृष्टि उन पर पडी। उसने सोचा—यह वाल मुनि नाटक को देखता है या नहीं? नाटक समाप्त हो गया, उस व्यक्ति की दृष्टि वाल मुनि से नही हटी और वाल मुनि की दृष्टि लिखाई से नहीं हटी।

नाटक पूरा हुआ, सव लोग चलने लगे। वह व्यक्ति उन्हे रोककर वोला, "आप लोगो ने यह नाटक देखा है, पर मैंने एक विचित्र नाटक देखा है।" लोगो की उत्सुक आँखें उस पर टिक गयी। वह जनता की ओर सम्मुख होकर वोला, तेरापथ सघ की नींव आज से सौ वर्ष के लिए और अधिक दृढ हो गई।" लोगो ने कारण पूछा तो उसने बताया—'जो सत्य है, उसे तो बताना ही होगा। हम लोग नाटक देखते-देखते वृद्ध हो गए, अव तक तृप्त नही हुए। यह मुनि अवस्था मे कितना छोटा है, किंतु इसने एक बार भी नाटक की ओर आँख उठाकर नही देखा। जिस सघ मे बालक भी इतने आत्मस्थ हैं वह सघ चिरकाल तक क्यो नही चलेगा?

जयाचार्य का मन नाटक के प्रति आकर्षित नही हुआ, इसका एकमात्र कारण यही था कि उनकी आखें तृप्त हो चुकी थी। जिन आँखों से आत्मा का दर्शन होता है, उन आँखो को दूसरी वस्तु देखने की इच्छा नही होती। मनुष्य का हित इसी मे है कि वह अपनी आत्मा और मन को तृप्त करने का प्रयास करें। इस तृप्ति के वाद वह किसी भी अतृप्ति से पीड़ित नही हो सकेगा। □

२४. बगुला (मनःशुद्धि)

मन की निर्मलता विना, कव होता विश्वास।
धोले वगुले ने किया, झस-भक्षण सोल्लास॥

एक नदी के तीर पर एक वगुला आया। उसने देखा पानी मे मछलियाँ वहुत है, पर वे कैसे पकडी जायें। उसने सोच कर एक उपाय निकाला। वह नदी के किनारे एक टाग से खडा होकर ध्यानस्थ हो गया। एक मछली ने जव उसे देखा, तव उसने चिन्तन किया कि यह कोई योगी है और यह ध्यानस्थित होकर तपस्या कर रहा है। ऐसे योगिराज के दर्शन दुर्लभ हैं। हमे इसके दर्शन से वचित नही रहना चाहिए। वह पानी के अन्दर गई और अपने सारे परिवार को एकत्रित कर कहा—'आज अपने यहाँ एक योगी आया है। उनके दर्शन के लिए सवको चलना चाहिए।' यह सुनकर सभी मछलिया दर्शन के लिए तत्काल गयी। योगिराज को ध्यानस्थ देख कर वे वहुत प्रभावित हुईं। सभी के मन मे चरण-स्पर्श करने की उत्कण्ठा जाग्रत हुई। वे सभी अहमहमिकया चरण-स्पर्श कर रही हैं, बगुले ने देखा अव ये मेरे से विश्वस्त हो गई हैं। बगुले ने अपना ध्यान पूरा किया और किसी मछली को मुँह मे और किसी को पैर तले दवा कर अपना पेट भर लिया। वस्तुत मन की निर्मलता विना केवल वाहर की उज्ज्वलता देख कर किसी का विश्वास नही करना चाहिए।



२५ योगी और सिकन्दर (भेद-ज्ञान)

वन जाता है अभय नर, भेद ज्ञान के योग।
पढो सिकन्दर की कथा, तन्मय होकर लोग॥

सम्राट सिकन्दर यूनान जाने लगा तो सोचा, एक योगी को साथ लेकर जाऊँगा जो यूनान मे धर्म की शिक्षा देगा। एक तपस्वी सूर्य की ओर ध्यान किए वैठा था। सम्राट पास जाकर खडा हो गया। सिकन्दर ने थोडी प्रतीक्षा की फिर कहा—'देखिए कौन खडा है सामने।' तपस्वी ने आँखें खोली और कहा—'हट जाओ।' सूर्य का ताप आ रहा है, उसमे वाधक मत वनो। सिकन्दर बोला, सामने कौन खडा है, पता है आपको ? सम्राट सिकन्दर है, जिसने सारे विरोधियो को कुचल दिया है। क्या आपको भय नही है ?' तपस्वी बोला—सम्राट मेरा क्या कर सकता है ? वह मारने से अधिक कर क्या सकता है ? और इसमे मेरा क्या जाता है ?' सिकन्दर कुछ नही वोला नमस्कार कर चला गया।

वह दृष्टि उसमे होती है, जिसने भय को जीता है। भय वही जीत सकता है, जिसने नश्वर शरीर मे अविनश्वर आत्मा को देखा है।

आत्मा भिन्न, शरीर भिन्न है, तुमने मन्त्र पढाया,
आत्मा अचल, अरुज शिव शाश्वत, नश्वर है यह काया,
आत्मा-आत्मा के द्वारा ही आत्मा मे लय पाये—
चैत्य पुरुष जगजाये।

आत्मा भिन्न है, शरीर भिन्न है—यह एक छोटा-सा मन्त्र है। इस भेद विज्ञान को सिद्ध कर लेना अनेक व्याधियो से मुक्त होना है।

□

२६. बिलौने में सांप (स्मर्तव्य)

विषयो की स्मृति मात्र, से बढता काम विकार।
सांप बिलौने मे मिला, (यो) सुन कर मर गये चार।।

चार व्यक्ति विदेश मे धन कमा कर पैदल ही लौट रहे थे। उन्होंने राह चलते हुए एक गाव मे बुढिया के यहाँ विश्राम लिया। बुढिया ने उन्हे सप्रेम छाछ पिलायी और सुबह रोटी खिलाने का वायदा किया।

चारो ही आनन्द मे सो गये और सुबह होने के पूर्व ही प्रस्थान कर गए। प्रातः होने पर बुढिया ने घर का निपटाना प्रारम्भ किया। उसने दही बिलौने के लिए मटके से पहले दिन की छाछ निकाली। बुढिया ने मटके मे एक विषधर साप पाया और उसे देखते ही उसकी आँखें पथरा गयी। चारो व्यक्ति प्रस्थान कर चुके थे।

कुछ दिनो बाद वे ही व्यक्ति बुढिया से मिलने आये। बुढिया ने उन्हे जीवित देखा तो वह आश्चर्यान्वित हुई। चारो व्यक्ति ने जब आश्चर्य का कारण पूछा तो बुढिया ने सहृदयता से बिलौने मे सांप की बात कह दी। जब उन्होंने जहरीली छाछ पी लेने की बात सुनी कि उनके शरीर मे तुरत विप व्याप्त हो गया और उसी समय चारो के ही प्राण-पखेरू उड गये।

□

२७. निठल्ली लड़की (ज्ञान-मग्न)

पुरुप निठल्ला जो रहे, उसे सताता काम।
लडकी के दृष्टान्त से, लो शिक्षा अभिराम।।

एक गृहस्थ लडकी निठल्ली और सुखपूर्वक रहती थी। वह तैल-मर्दन, उबटन, स्नान, विलेपन आदि शारीरिक शृंगार मे परायण थी। बनाव-शृंगार के कारण उसके मन में मोह जागृत हुआ। वह अपनी धाय मा से बोली—'मेरे लिए कोई पुरुप ले

आओ।' उस धाय माँ ने उसकी माँ को जाकर कहा। माँ ने उसके पिता को कहा। पिता ने अपनी पुत्री को बुलाकर कहा—'पुत्री! ये दासियाँ अपना सब धन अपहरण करके ले जाती हैं, अत तुम स्वय कोठे की देखरेख करो।' उसने कहा—ठीक, और कोठे के देख-रेख का काम करने लगी। वह किसी को भोजन देती, किसी को उसकी तनख्वाह वृत्ति और किसी को चावल देती। कितना कोठार मे आया है, कितना व्यय हुआ है, इस प्रकार दिन भर काम मे व्यतीत हो जाता। वह दिन भर के काम से खूब थक जाती और अपनी शय्या पर आकर सो जाती। एक दिन धाय ने आकर कहा—"बेटी पुरुष लाऊं?" वह बोली, 'मुझे पुरुष से क्या काम? अब मुझे सोने दो।"

इस प्रकार गीतार्थी के भी दिनभर सूत्रार्थ मे लगे रहने से स्वाध्याय मे तन्मय रहने से काम-सकल्प उत्पन्न नही होते।"

□

२८ नमि राजर्षि (निममत्व)

जो रमते निज-रूप मे, वे कब करते मोह।
नमि मिथिला की ओर क्यो, झाके जो निर्मोह॥

मिथिला नगरी मे नमि नामक राजा था। एक बार मे उसके शरीर मे असह्य दाह-ज्वर का रोग उत्पन्न हुआ। राजा को कुछ नहीं सुहाता था। यहाँ तक कि रानियो द्वारा उनके शरीर पर चदन का विलेपन करने पर ककणो से जो शब्द हो रहा था उसे भी बन्द करने का राजा ने आदेश दिया। रानियो को यह सूचना दी गयी तो उन्होने एक-एक ककण अपने हाथो मे रखा शेष उतार कर एक ओर रख दिये। जब शब्द बन्द हो गये तो कुछ ही समय पश्चात् राजा ने पूछा—शब्द बन्द कैसे हो गया? क्या रानियो ने चदन घिसना बन्द कर दिया? तब राजा को ज्ञात हुआ कि हरेक रानी के हाथो मे एक-एक ही ककण है, इसलिए शब्द नहीं होता। नमि राजा को इस एक और अनेक की घटना से प्रतिबोध मिला। एकाकीपन मे शाति है और अनेकता ही संघर्ष का कारण है। रोग शात हुआ। राजा नमि ने साधु-व्रत ग्रहण किया और एकाकी विहार करने लगे। नमि राजा के निर्मोह भाव की परीक्षा करने के लिए ब्राह्मण के रूप मे इन्द्र आया। उसने अपनी देव-शक्ति से दिखाया कि मिथिला-नगरी धाय-धाय कर जल रही है और राजर्षि से बोला—मुने! आपकी यह मिथिला कुछ ही क्षणो मे भस्मसात् हो जाने वाली है। आपकी आँखो मे अमृत है, अतएव आप एक बार झाक भी लेंगे तो मिथिला-दहन शात हो जावेगा। आपकी सम्पूर्ण प्रजा पर दुःख के बादल घिरे हुए हैं आप करुणाकर एक बार उनकी ओर झाकें। नमि राजर्षि ने उत्तर दिया—

सुह वसामो जीवामो जम्सि मे नत्थि किंचण।
मिहिलाया डज्झमाणाया नमे डज्झई किंचणं॥

—मैं सुख मे बस रहा हूँ और सुख मे जी रहा हूँ। मिथिला के जलने मे मेरा अपना कुछ नही जल रहा है। इस प्रकार अनेक बार कहने पर भी नमि राजर्षि ने मिथिला की ओर नही झाका और अपनी निर्मोह स्थिति मे लीन रहे।

□

२९ चण्डकौशिक (साम्य)

बन जाता समभाव से, पशु भी सुखी महान्।
हुआ चडकौशिक अमर, चढकर समता यान॥

चडकौशिक सर्प की बाबी पर भगवान महावीर ने ध्यान किया। सर्प बाहर बैठा था। सर्प ने सूर्य की ओर देखा तथा अपने भयकर विष की ज्वाला महावीर प्रभु पर छोडी। उसका कोई प्रभाव नही हुआ। वह वहाँ से चला और निकट आकर उसने भगवान के पैर के अगूठे को डंसा। फिर भी उसके जहर का उनके शरीर पर कोई प्रभाव नही हुआ। उनके कधे को डसा। भगवान अपने ध्यान मे लीन रहे। उसे उनका रुधिर बडा सुस्वादु लगा। साथ ही कुछ चितन करते हुए उसे जातिस्मरण ज्ञान हो गया। उसने जाना ये तो चौवीसवें तीर्थंकर हैं। कधो से उतरा पैरो मे लोटने लगा। अपने दुष्कृत्य की आलोचना करता हुआ शरीर की ममता छोडकर अनशनपूर्वक रहने लगा।

भयकर विषधर का इस प्रकार शात हो जाना एक अनोखी घटना थी। सारे शहर मे वात प्रसारित हो गई कि सर्पराज शात हो गया है। अब सैकडो व्यक्ति उनकी पूजा करने के लिए वहां आने लगे। वे दूध, खाड, मेवे-मिष्टान्न आदि चढाने लगे। उन पदार्थों की गध से बहुत सारी चीटिया जमा हो गई और सर्प के शरीर को चूंटने लगी। चडकौशिक को इससे अपार वेदना हुई। वेदना को समभाव से सहन करता हुआ शरीर को त्याग कर देवयोनि मे उत्पन्न हुआ।

□

३०. भरत की निःस्पृहता (नि स्पृह)

भव-भव मे करता भ्रमण, जो आशा का दास।
नि स्पृह श्री भरतेशने, किया मुक्ति मे वास॥

एक दिन भगवान श्री ऋषभदेव अयोध्या पधारे। सम्राट भरत व अन्य हजारो व्यक्ति दर्शन करने गए। एक स्वर्णकार ने पूछा—प्रभो! इस सभा मे कोई मोक्षगामी

है ? भगवान ने कहा—भरत मोक्षगामी है। स्वर्णकार ने भगवान पर पक्षपात का आरोप लगाया। इतने भयकर युद्ध करने वाला भरत मोक्षगामी कैसे हो सकता है ? भरत ने उसके विचार ताड लिए और उसे फाँसी की सजा सुना दी। वह घबराया अपने अपराध के लिए पुन-पुन क्षमा मागने लगा। भरत ने कहा—यदि तू तेल से लबालब भरा हुआ कटोरा हाथ मे लेकर शहर के प्रमुख-प्रमुख मार्गों से चक्कर लगाकर यहाँ चला आए और तेल की एक बूंद भी नीचे न गिरे तो इस सजा से बच सकता है। स्वर्णकार ने सब कुछ स्वीकार कर लिया।

दूसरे दिन वह सहस्र सैनिको की देख-रेख मे चक्कर लगाकर भरतजी के पास पहुँच गया। भरत ने पूछा—तूने नगर मे क्या-क्या देखा ? स्वर्णकार—कुछ भी नही देखा। आज तो मृत्यु के अतिरिक्त और कुछ भी दिखलाई नही देता था।

भरत—तो क्या मैं अमर रहूँगा। मुझे भी एक दिन मरना है। अत क्या यह साम्राज्य मुझे लुभा सकता है। मैं राज्य करता हुआ भी राज्य मे निर्लिप्त रहता हूँ। स्वर्णकार का सिर शर्म से झुक गया और क्षमा माँगते हुए घर चला गया।

सम्राट भरत एक दिन शीशमहल मे स्नान कर रहे थे। अगूठी खोली तो अगुली की शोभा घट गई, उसे फिर पहना तो शोभा बढ गयी, इसी एक छोटी सी घटना ने उन्हे अन्तर्मुखी बना दिया। भावना का प्रवाह आगे बढा। निस्पृही बने। आत्मा मे लीन हो गए और वही पर केवल ज्ञान प्राप्त कर लिया। आखिर समस्त कर्मों से मुक्त होकर मुक्ति मे वास किया।

३१. अविचल वीर (स्थिरता)

मन की स्थिरता से मिले, साध्य-सिद्धि का तीर।
रूपसियो के रूप से, विचलित हुए न वीर॥

भगवान महावीर के सुन्दर सुगठित रूप-वैभव को देख अनेक रूपसियाँ प्रमत्त हो गयी। एक बार रात के समय भगवान् के पास तीन रूपसियाँ आयी और बोली, कुमार ! तुम्हारी स्त्री कौन है—ब्राह्मणी या क्षत्रियाणी ? वैश्य है या शूद्री ?'

'कोई नही है।'

'हम बन सकती हैं, तुम किसे पसन्द करते हो ?'

'किसी को भी नही।'

'अरे ! यह कैसा युवक जो हम जैसी रूपसियो को पसन्द नही करता ? दूसरी रूपसी आगे आकर कहने लगी—'तुम ठीक से देखो, यह पुरुष तो है न ?' तीसरी

बोली—'मुझे लगता है, यह कोई नपुसक है। यदि पुरुष होता तो हमारी उपेक्षा नही करता।'

तीनो एक साथ कहने लगी—कुमार ! अभी युवा हो। इस यौवन को अरण्य पुरुष की भाँति व्यर्थ ही क्यो गवा रहे हो? लगता है, प्रकृति से रूप का तुम्हें वरदान मिला, पर परिवार अनुकूल नही मिला। हम तुम्हारे लिए सर्वस्व का निछावर करने को तैयार हैं। फिर यह मोम का गोला आग से क्यो नहीं पिघल रहा है?

तीनो के हाव-भाव, विलास और विभ्रम बढ गए। उन्होंने रति-प्रणय की समग्र चेष्टा की। पर भगवान् पर उनका कोई प्रभाव नही हुआ।

३२. गौतम-स्वामी (मोह)

होता साधक के लिए, बाधक मोह महान्।
गौतमस्वामी को अत', मिला न केवलज्ञान ॥

इन्द्रभूति भगवान महावीर के प्रथम शिष्य थे। ये गौतम गोत्री थे, अत गौतम स्वामी के नाम से ही प्रसिद्ध थे। अपने पूर्व जीवन मे ये कर्मकाण्डी और वेदो के प्रकाण्ड पडित थे। भगवान महावीर के पास वे इस उद्देश्य से आये थे कि शास्त्रार्थ मे उन पर विजय पाकर उनके इन्द्रजाल को प्रकट किया जा सके, किन्तु उस शास्त्रार्थ मे वे ही उनके प्रथम गणधर के रूप मे शिष्य बन गये।

भगवान महावीर के साथ इन्द्रभूति का गुरु और शिष्य का सम्बन्ध तो था ही, परन्तु उसके साथ ही इन्द्रभूति के दिल मे भगवान महावीर के प्रति अनुराग भी बहुत था। भगवान महावीर उनसे न अनुरक्त थे और न विरक्त। वे समदर्शी व समव्यवहारी थे। किसी भी प्राणी की आत्मा मे उन्हें अन्तर प्रतीत नही होता था, अत न उनके कोई निकट था और न कोई दूर। किन्तु गौतमस्वामी के मन मे भगवान महावीर के प्रति सहज श्रद्धा के साथ कुछ मोह मिश्रित अनुराग भी था। उदाहरण के रूप मे वह उस समय प्रकट हुआ, जबकि कार्तिक अमावस्या के दिन भगवान महावीर का निर्वाण हो चुका था। वे उनके पास न होने के कारण विलाप करने लगे थे। यह विलाप ही उनके कर्म-फल के उच्छेद मे बाधक बन रहा था। जब तक वे भगवान के प्रति मोह-मिश्रित अनुराग के झूले मे झूलते रहे, केवलज्ञान उनसे दूर रहा। भगवान महावीर स्वय अनासक्त थे और उसी प्रकार की अनासक्ति के लिए सबको प्रेरणा देते थे तो मैं इस प्रकार आसक्ति में क्यो फसूँ, इस तरह चिंतन करते हुए जब उन्होने अपने अतर-विवेक को नया मोड दिया, उन्हें भी केवल-ज्ञान की उपलब्धि हो गयी।

३३. भर्तृहरि (ममता)

तेरा कोई है नही, मत करना ममकार।
कहा भर्तृहरि ने अत, धिक् धिक् यह ससार ॥१॥

भृर्तहरि एक न्यायप्रिय राजा था। उनकी प्रतिष्ठा सुनकर एक दिन योगी आया और बोला—"राजन् ! यह 'अमरफल' आप खा लीजिए। जिससे आपको कभी भी बुढापा नही सताएगा।

राजा ने सोचा यह 'अमरफल' मैं न खाकर मेरी प्राणप्रिय महारानी को दे दूँ। जिससे वह वृद्धा न बने। राजा गया और रानी को फल देते हुए बोला—"इस फल को खाने से तू कभी वृद्धा नही बनेगी।"

महारानी ने सोचा—यह 'अमरफल' मैं न खाकर मेरे प्राणवल्लभ महावत को दूँगी। उसने वैसा ही किया। महावत को देती हुई महारानी बोली—प्राणेश्वर ! यह 'अमरफल' है। इसे आप खा लेना, इसके प्रभाव से आप कभी भी वृद्ध नही बनेंगे और मेरी मनोकामना पूर्ण होती रहेगी।

महावत वेश्या से लगा हुआ था। वह वहाँ गया और बोला—"प्रिये ! इस 'अमरफल' को खा लेना, जिससे तू कभी भी वृद्धत्व को प्राप्त नही होगी।

वेश्या ज्यों ही उस फल को खाने को उद्यत हुई। त्यो ही उसके मन मे सद्-विचारो का आविर्भाव हुआ। राजा के पास पहुँची और वह फल देती हुई बोली—"नाथ ! यह 'अमरफल' है। इसके खाने से आप कभी भी वृद्ध नही बनेंगे।"

राजा ने फल को पहचान लिया, तलवार लेकर शीघ्र महलो मे पहुँचा, और रानी से पूछा—"बोल, वह फल कहाँ है ? यदि झूठ बोलेगी तो इस तलवार से तेरा गला काट दूँगा।" रानी घबराती हुई बोली—"हाय ! मेरी बुद्धि भ्रष्ट हो गई थी मैंने महावत को दिया था।"

नृप ने महावत से पूछा, तो उसने कहा—"मैंने वह फल वेश्या को दे दिया था।" ऐसे ससार के स्वरूप को देखकर उसी समय राजा बोला—

या चिन्तयामि सतत मयि सा विरक्ता, साप्यन्यमिच्छति जन स जनोन्यसक्त ।
अस्मत्कृते तु परितुष्यति काचिदन्या, धिक् ता च त च मदन च इमा च मा च ।

—मैं जिस रानी को अपनी समझता था। वह मेरे से विरक्त होकर अन्यजन की इच्छा करती है। फिर वह भी अन्य मे आसक्त है। हाय ! धिक्कार है उस रानी को, महावत को, वेश्या को, इस कामभोग को, उसी समय राजा भर्तृहरि ने सन्यास ले लिया।

३४. दो चींटी (सहज-सुख)

सहज सुखो की भावना, तो कृत्रिम सुख छोड ।
दो चीटी का है यहाँ, उदाहरण बे-जोड ॥

एक चीटी कही जा रही थी । बीच मे दूसरी चीटी मिल गई । दोनो ने बातचीत की । अतिथि चीटी ने सुखसंवाद पूछा तो वहाँ खडी चीटी ने कहा, 'वहन ! और तो सब ठीक है पर मुँह खारा बना रहता है ।' 'अतिथि चीटी ने कहा,' तुम नमक के पर्वत पर रहती हो, फिर मुँह खारा क्यो नही होगा ? चलो मेरे पास । मैं मिसरी के पहाड पर रहती हूँ । वहाँ तुम्हारा मुँह मीठा हो जाएगा ।' वह अतिथि चीटी के साथ चल पड़ी । वहाँ पहुँचने पर भी उसका मुँह मीठा नही हुआ । उसने कहा—'मेरा मुँह तो अभी खारा ही है ।' वहाँ रहने वाली चीटी ने कहा, "मुँह मे नमक की डेली तो नही लाई हो ।" 'वह तो है,' नमक के पहाड पर रहने वाली चीटी ने कहा, 'वहन ! नमक को छोडे बिना मुँह मीठा कैसे होगा ?'

पूर्वाग्रहो से मुक्ति पाए बिना कोई भी आदमी सत्य को नही पा सकता ।

३५. सुकुमाला (विषय-सुख)

सुख के भ्रम से भटकता, विषयो मे दिनरात ।
सुकुमाला-जितशत्रु का, शिक्षाप्रद आख्यान ॥

राजा जितशत्रु को अपनी रानी सुकुमाला के साथ अगाध प्रेम था उनकी इस आसक्ति से राज-काज मे बाधा पडने लगी । फलस्वरूप मन्त्रि परिषद ने उन दोनो को निष्कापित कर दिया, तथा राजकुमार को गद्दीनसीन कर दिया । राजा और रानी बडे सतप्त हुए, पर अपने किए हुए कर्मों का ही फल जानकर वे भ्रमण करने लग गये, रास्ते मे रानी को भूख-प्यास लगी । राजा ने उसे अपने रक्त एव मास से बुझाया । फिरते-फिरते एक गाँव मे पहुँचे । वहाँ रानी के गहने बेचकर एक मकान लेकर रहने लग गये । एक दिन पंगु गवैये के गाने से प्रभावित होकर उसे अपने घर ले गये । घर लाने पर रानी उस पर आसक्त हो गई । दोनो अपने मार्ग से राजा को हटाने के लिए तजवीज करने लगे । एक दिन जलक्रीड़ा के बहाने रानी ने राजा को धक्का दे दिया, और उसे मरा हुआ जानकर दोनों प्रेमी आमोद-प्रमोद से रहने लगे । उधर राजा तैरते-तैरते दूसरे किनारे जा पहुँचा । वहाँ पर एक जुलूस मे एक हथिनी ने जयमाला उनके गले मे डाल दी, और जनता द्वारा वह राजा घोषित कर दिया और राज-काज करते हुए सुख से रहने लगा । उधर रानी और उसके पंगु प्रेमी मे गरीबी के कारण बहुत तकलीफें आने लग गयी । वे घूम-घूम कर गा-बजाकर पैसा माँगने लग गये ।

घूमते-फिरते उसी राजा के पास पहुँचे। राजा ने रानी को पहिचान लिया और पूछा कि तुम्हारे एक और भी पति था, जिसने अपने शरीर का रक्त, मास देकर तुम्हारी भूख-प्यास बुझाई और उसी को तुमने नदी मे धक्का देकर डुबो दिया, रानी ने देखा कि यह तो राजा जितशत्रु ही है। उसने क्षमा मागी। राजा ने उसे देश निकाला दे दिया।

३६. पुरुषोत्तम रथनेमि (विषय-विरसता)

विषयो मे आसक्त नर, पाता दुःख अपार।
पुरुषोत्तम रथनेमि सम, अपने मन को मार॥

दीक्षा लेने के बाद सती राजीमती एक बार रैवतक पर्वत की ओर जा रही थी राह मे मूसलाधार वर्षा होने से राजीमती के वस्त्र भीग गए और उसने पास ही की एक अन्धेरी गुफा मे आश्रय लिया। वहाँ एकान्त समझकर राजीमती ने अपने समस्त वस्त्र उतार डाले और सूखने के लिए फैला दिये।

समुद्रविजय के पुत्र और अरिष्टनेमि के छोटे भाई रथनेमि प्रव्रजित होकर उसी गुफा मे ध्यान कर रहे थे। राजीमती को सम्पूर्ण नग्न अवस्था मे देखकर उनका मन चलित हो गया। इतने मे एकाएक राजीमती की दृष्टि भी उन पर पडी। उन्हें देखते ही राजीमती सहमी। वह भयभीत होकर काँपने लगी और बाँहो से अपने अगो को गोपन करती हुई जमीन पर बैठ गई।

राजीमती को भयभीत देखकर काम-विह्वल रथनेमि बोले—"हे सुरूपे! आओ! हम लोग भोग भोगें। भोग भोगने के पश्चात् फिर जिन मार्ग ग्रहण करेंगे।"

राजीमती ने देखा कि रथनेमि का मनोबल टूट गया है। वासना से हार चुके हैं। विभिन्न उदाहरणो द्वारा उन्हे समझाते हुए राजीमती बोली—आत्मा को कसो, सुकुमारता का त्याग करो, वासनाओ को जीतो, ऐसा करने से सुखी बनोगे।" साध्वी राजीमती के ये मर्मस्पर्शी शब्द सुनकर रथनेमि का मन स्थिर हो गया। जितेन्द्रिय बने। मन-वचन-काया से सयम की आजीवन शुद्ध साधना की। दोनो ने उग्र तप किया और दोनो केवली बने। सर्व कर्मों का अन्त कर सिद्धि गति मे पहुँच गये।

जैसे पुरुषश्रेष्ठ रथनेमि विषयो से पुन विरक्त हुए वैसे ही बुद्धिमान पुरुष विषयो से सदा दूर रहे। यदि कभी मन चलित हो जाये तो पुन. उसको नियन्त्रित करने का प्रयास करें।

३७ मणिरथ मदनरेखा (भोग-विरक्त)

भोगो मे आसक्त नर, पाता दुख अपार।
मणिरथ नृप ने खो दिया, उत्तम नर अवतार ॥

सुदर्शन नामक नगर मे मणिरथ राजा एव युगबाहु उसका छोटा भाई रहता था। मदनरेखा युगबाहु की पत्नी थी। उसके सौंदय पर मणिरथ का मन चलायमान हो गया। दासी के साथ अपना प्रेम सन्देश भेजा और अनेक प्रलोभन से उसको जीतने का प्रयत्न किया। परन्तु उसका पतिव्रत धर्म डिगा नही, फलस्वरूप राजा ने युगबाहु को अपने मार्ग से काटे को हटाने की सोची। एकदिन वे दोनो उद्यान में क्रीडा कर रहे थे, मदनरेखा माला बना रही थी। युगबाहु वहाँ विश्राम कर रहा था। उधर राजा मणिरथ पहुँच गया। पीछे से वार करके भाग गया। रास्ते मे उसे सर्प ने डस लिया और वह मरकर नरक मे पहुँचा।

उधर रानी मदनरेखा ने जब यह स्थिति देखी तो वह बडी घबराई परन्तु उनका मनोबल ऊँचा था, उसने सोचा मेरे पति का शरीर सुख समाधि में छूटे यह प्रयत्न करूँ। अत उनके शरीर को गोदी मे लेकर मन से रागद्वेष दूर करने व मन शुद्ध रखने की बात कही। युगबाहु उसका चिन्तन करते-करते मृत्यु को प्राप्त हुआ और देवलोक मे पहुँचा। रानी मदनरेखा ने सोचा ऐसे राज्य में रहना खतरे से खाली नहीं है मणिरथ मुझे तग करता रहेगा यह सोचकर वहाँ से निकल पडी। रास्ते में उसे पुत्र उत्पत्ति हुई। पुत्र को अपने नाम की अंगूठी पहना वही छोडकर नदी किनारे चली गई। वहां एक मदमस्त हाथी ने रानी को सूंड मे पकड कर उछाल दिया। आकाश मार्ग मे मणिप्रभ विद्याधर का विमान जा रहा था, उसमे मदनरेखा को बैठाकर मणिप्रभ साधु के पास ले गया और उसे उपदेश दिया, रानी मदनरेखा निश्चिन्त हो गई। दीक्षा लेकर अपनी आत्मा का कल्याण किया।

३८. चौथी रानी (उद्बोधन)

क्षणभगुर सुख के लिए, सुख अनन्त मत हार।
चौथी रानी को मिला, सब कुछ जो था सार ॥

पुराने जमाने की बात है। एक था राजा और चार थी उसके रानियाँ। एक बार वह राजा दूसरे देश मे गया। लम्बे समय तक वहाँ रहा। रानियाँ प्रतीक्षा मे अधीर हो उठी। पत्र-व्यवहार चल ही रहा था। समाचार आया—महाराज अब आने ही वाले हैं। रानियो ने बधाई मे पत्र लिखे और अपनी-अपनी माँग भी लिखी।

राजा आया। राजधानी हर्ष से झूम उठी। रनिवास प्रफुल्लित हो गया। राजा अन्तःपुर मे आया। बात-चीत चली। विरह प्रमोद मे लीन हो गया। अन्त मे राजा ने पुरस्कार बाँटा। बड़ी रानी को मोतियो का हार मिला। दूसरी को नेउर और तीसरी को कर्णफूल। चौथी को वह सब मिला जो राजा अपने साथ लाया था। सोही ईर्ष्या जाग उठी। तीनो रानियाँ एक स्वर मे बोल उठी—है! न्याय के आसन पर अन्याय की परछाई। राजा ने मुस्करा दिया। रानियो ने प्रतिकार की भाषा मे कहा। पुरुष की छल-भरी मुस्कान ही स्त्रियो मे ईर्ष्या उत्पन्न करती है। राजा ने फिर मुस्कान बिखेरी। राजा ने देखा अब बाँध टूट चुका है। 'इसका न्याय सभा मे होगा'। यह कहते-कहते राजा खडा हो गया।

कई महिनो बाद राजा को सभा मे देख सभासद हर्षोत्फुल्ल थे। शिष्टाचार सम्पन्न हुआ। राजा न्याय के आसन पर जा बैठा। अपना घरेलू झगडा सभा के सामने रखा। लोग आश्चर्यचकित थे। मन मे नाना प्रकार की प्रतिक्रियाएं हो रही थी। तीनो रानियाँ अपनी सफलता पर फूल रही थी। सभी सभासद् चिन्तन की मुद्रा मे थे। राजा का सकेत पा सचिव खड़ा हुआ। नीरवता को भग करते हुए उसने बडी रानी का पत्र पढ़ा। उसमे था—आप आएँ तो मेरे लिए मोतियो का हार लेते आएँ। दूसरा पत्र पढा। उसमे था—आप आएँ तब मेरे लिए नेउर लेते आएं। तीसरे पत्र मे था—बड़ा अनुग्रह होगा यदि आप मेरे लिए कर्णफूल लाएँ तो। अब चौथा पत्र की बारी आयी। उसमे था—मेरे लिए आप ही सब कुछ हैं। मैं और कुछ नही चाहती, केवल आपको चाहती हूँ। मेरी हार्दिक प्रार्थना है कि अब आप तुरन्त आने की कृपा करें।

शेष सब बोल रहे थे, केवल तीन रानियाँ मौन थी।

३९ ऊँट (तात्त्विक-दृष्टि)

अतर-दृष्टि विना कभी, हो न हिताहित-ज्ञान।
उदाहरण है ऊँट का, निःसन्देह प्रमाण॥

पद्मानन्द महाकाव्य मे अमर मुनि ने लिखा है—

भारे यथा रोहति भूरिरावा, निरस्यमाने रवणास्तथासन्।
सदैव सर्वाङ्गवहिर्मुखाना, हिताहित-ज्ञान पराङ्मुखत्वम्॥

ऊंट को तो आप जानते ही हैं। यह राजस्थान का प्रसिद्ध प्राणी है। इसका स्वभाव है कि यह अपने ऊपर भार रखने पर भी आवाज करता है और उतारने पर भी। इस रहस्य को समझाते हुए कवि ने लिखा है—ऊँट के सब अवयवो से मुँह बाहर होता है, हम बहिर्मुखी प्राणी का स्वभाव यही होता है। अपने हित और अहित को

समझने की बुद्धि उसमे नहीं होती। हित-अहित की बात तो दूर रहे उसे अच्छी तरह बैठना भी नही आता।

बगाल का एक व्यक्ति रेगिस्तान गया। उसे ऊँट पर चढाया गया। ऊँट उठा तो इधर-उधर दोनो ओर से लचकना पडा। गंतव्य स्थान पर पहुँचने पर ऊँट बैठने लगा, ऊँट के बैठते ही बगाली महाशय उतरने लगे। इतने मे ऊँट दूसरी बार अच्छी तरह बैठने लगा कि बगाली बाबू गिर गए और गुस्से मे आकर कहने लगे—

'आमि की जानी साला ऊँट दुई बार बोसे।'

किसी भी तत्व को अच्छी तरह से समझने के लिए उसका बहिरग और अंतरग अध्ययन करना आवश्यक है। बाह्य दृष्टि से व्यवहार जाना जाता है, पर अतंर्मुखता के बिना तत्व का रहस्य समझ मे नही आ सकता।

४० श्रमणोपासक अरणक (धार्मिक)

होता धर्म प्रभाव से, सब विघ्नो का नाश।
अरणक दृढधर्मी रहा, झुका यक्ष सोल्लास॥

चम्पानगरी मे चन्द्रच्छाया राजा राज्य करता था। श्रमणोपासक अरणक भी इसी नगरी का निवासी था। वह एक वैभवशाली वैश्य था, जैन धर्म मे उसकी अटूट श्रद्धा थी। अत उसको दृढधर्मी, धर्मप्रिय आदि विशेषणो से पुकारा जाता था। अरणक एक बार अपने अन्य साथियो सहित व्यापारार्थ पानी की जहाज मे रवाना हो गया। ज्यो ही समुद्र के मध्य भाग मे पहुँचे त्यो ही एक भयकर दैत्य अट्टहास करता हुआ जहाज मे बैठे हुए व्यक्तियो को दिखाई दिया। सारे भयभीत होकर अपने-अपने कुलदेवो का स्मरण किया। अरणक भय रहित होकर अपनी समाधि मे बैठ गया। अरिहतो व सिद्धो को वदन करके उसने सागारी अनशन कर लिया।

दैत्य आया और अरणक को ललकारते हुए बोला—अरे मूढ! यदि तू अपना धर्म नही छोड़ेगा तो मैं सबको मार दूँगा। यह सारा पाप तेरे सर पर चढेगा! अरणक ने सारी बातें सुनी किन्तु कायोत्सर्ग नही छोडा! तब उस दैत्य ने जहाज को ऊंचा उठाया। सबने घबराते हुए कहा—श्रावक जी! एक बार यदि आप धर्म छोड भी देते हैं तो आपको क्या फर्क पडेगा, हमारी रक्षा हो जायेगी। इसप्रकार अरणक को विचलित करने के लिए दैत्य व साथियो ने भरसक प्रयत्न किया। किन्तु वह विचलित नही हुआ। आखिर दैत्य को हार माननी पडी। उसने जहाज को धीरे धीरे नीचे उतारा। अपना बीभत्स रूप बदलकर देव के रूप मे अरणक के समक्ष उपस्थित हुआ। बोला—हे अरणक! इन्द्र ने अपनी सभा मे तुम्हारी प्रशसा करते हुए कहा कि अरणक श्रावक दृढधर्मी है। उसको धर्म से कोई विचलित नही कर सकता, मैं तेरी

परीक्षा करने यहाँ आया, ये कष्ट दिये। किन्तु तू तनिक भी विचलित नही हुआ। आखिर देव ने अरणक को भेंट स्वरूप दो कुण्डल देकर स्वर्ग की ओर प्रस्थान किया। उपस्थित साथियो ने भी अरणक की निर्भीकता व दृढ-धर्मिता की भूरि-भूरि प्रशसा की।

४१. ललितांगकुमार (धर्म)

जय होती है धर्म की, है यह निश्चित बात।
है ललिताग कुमार की, सरस कथा साक्षात्॥

श्रीवास नामक नगर मे राजा नरवाहन के ललिताग कुमार नामक पुत्र था। वह वडा धार्मिक व करुणाशील था। दूसरे के दु ख को निवारण करने की उसकी सतत चेष्टा रहती थी। उसके एक सज्जन नामक मित्र था जिसका व्यवहार अपने नाम से विपरीत था। उसके आचरण मे बहुत कुटिलता थी। वह वहुत ईर्ष्यालु था और इसी दृष्टि से ललिताग कुमार को देखता था। ललिताग कुमार वहुत वडा दानी था। जो कुछ उसे उपलब्ध होता गरीवो को वॉट देता। राजा द्वारा भेंट किया हुआ वहुमूल्य हार भी उसने दान कर दिया। तब सज्जन ने राजा को भिडाकर ललिताग कुमार को वहुत अपमानित कराया परन्तु ललिताग कुमार का यह कार्य रुका नही, थोडे अन्तराल के साथ चलता रहा। इस पर नाराज होकर राजा ने उसे देश से निकाल दिया। रास्ते मे सज्जन भी उसके साथ हो लिया। रास्ते मे वार्ता मे धर्म की जय या अधर्म की जय प्रसग पर शर्त रखकर विपरीत प्रवृत्तियो के लोगो से कहलाता कि अधर्म की जय होती है। उसका घोडा हार तथा आँखें शर्त के आधार पर छीन ली। वह अधा होकर एक पेड के नीचे गिर पडा। पर उसने धर्म को नही छोडा। पेड के ऊपर पक्षियो का निवास था। ललिताग कुमार पक्षियो की भाषा समझता था। उन्होने चर्चा की कि चम्पानगरी के राजा जितशत्रु की पुष्पावती कन्या अन्धी है उसे यही-वही फैले हुए वेल का रस हमारी किसी वीठ मे मिलाकर लगाये तो वह ठीक हो सकती है। ललिताग ने यह प्रयोग अपने पर किया वह चगा हो गया उसे दीखने लगा। वहाँ से वह और दृढ सकल्प कर कि धर्म का कभी क्षय नही होता, राजा के पास पहुँचा, दोनो पदार्थों का लेप किया। कन्या को दीखने लग गया। राजा ने पुष्पावती का विवाह ललिताग के साथ कर दिया। वह सुख से रहने लग गया।

इधर सज्जन के कर्मों ने ऐसा फल दिया कि वह भिखारी हो गया, घूमते-फिरते चम्पानगरी आ गया, ललिताग ने उसे देखा उसकी व्यथा सुनी और उसे क्षमा कर दिया और उसे अपने पास रख लिया। पर वह अपनी कुचाल से वाज नहीं आया। राजा द्वारा ललिताग के पारिवारिक सस्कारो के वारे मे पूछने पर उसे हीन

जाति का बता दिया। राजा ने उस पर विश्वास कर लिया और ललितांग को मारने की सोची। उसे इस प्रकार के हीन जाति का दामाद बिलकुल बरदाश्त नहीं था। उसे बुलाने के बहाने मारने का षड्यंत्र रचा। परन्तु उस समय पुष्पावती का कहना मानकर वह स्वयं न जाकर सज्जन को भेज दिया। उसका घर से निकलना था—षड्यंत्र के मुताबिक राजा के कर्मचारियों ने सज्जन का कत्ल कर दिया। उसे करणी का फल मिल गया। ललितांग को इस षड्यंत्र का पता चलने पर वह रोष से भरकर उठा—उसने राजा के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ, उसे जब सारी बात का पता चला तो बहुत पश्चात्ताप हुआ। वह राजकाज ललितांग को सौंपकर प्रव्रजित हो गया।

ललितांग वहाँ से अपने पिता के पास गया। पिता ने भी अपना राज्य उसे सौंपकर दीक्षा ले ली। वह दोनों राज्यों को सभालता हुआ धर्म के प्रति पूर्ण आस्था रखता हुआ धर्म के प्रति उन्मुख होता हुआ, धर्म-ध्यान मे लीन रहता हुआ पण्डित-मरण को प्राप्त हुआ।

सत्य कभी आच्छादित नहीं होता, सत्य धर्म का एक अविभाज्य अंग है, अतः धर्म की शाश्वत महिमा होती है।

४२ नेमिनाथ भगवान (दया)

दुःखित जीवों की दया, देखो पुरुष महान्।
नेमिनाथ भगवान ने, दिया अभय का दान॥

मथुरा के महाराज उग्रसेन की पुत्री राजीमती का विवाह अरिष्टनेमि के साथ तय हुआ। निश्चित विवाह-तिथि पर बारात मथुरा पहुँची। उन दिनो यादवो मे मद्य-मांस का सेवन बहुत होता था। महाराज उग्रसेन ने भी बारातियो के भोजनार्थ प्रचुर मात्रा मे पशु-पक्षियो का इंतजाम किया था। संयोग से बारात जिस मार्ग से गुजर रही थी उसी मार्ग पर बाड़े मे आबद्ध वे पशु करुण क्रन्दन कर रहे थे। एक ओर हर्ष के नगाड़े और दूसरी ओर सहस्रों मूक प्राणियो का करुण क्रन्दन। उधर से गुजरते हुए राजकुमार अरिष्टनेमि ने ज्यो ही उन असहाय प्राणियो का करुण क्रन्दन सुना, तत्काल रथ रुकवा कर उसका कारण पूछा। लोगो ने बताया कि ये आपके स्वागत मे भोजनार्थ अर्पित हैं। 'मेरे लिए इतने निरीह पशुओं का वध?" अरिष्टनेमि का हृदय सहसा विद्रोह कर उठा। उसी क्षण उन्होंने रथ वापिस घुमाने का आदेश दिया। इस छोटी सी दर्दनाक घटना ने उन्हें संसार से विरक्त कर दिया। अरिष्टनेमि का निर्णय जानकर चारों ओर खलबली मच गयी। सबकी जिज्ञासाओं को शांत करते हुए अरिष्ट-नेमि ने कहा—'सुख जैसा मुझे अभीष्ट है वैसा ही संसार के प्रत्येक प्राणी को। जीव

की क्षणिक तृप्ति के लिए यह निर्मम सहार मेरी आत्मा को किसी दृष्टि से मान्य नही है। अब तो मेरा यही अभिष्ट है कि स्वय बुद्ध होकर मयम-व्रत ग्रहण करूँ और राग-द्वेष रहित होकर सिद्ध-बुद्ध व मुक्त वनँ ।

४३. क्रूर सेठ (दयावान)

दया विना मानव वने, दानव से भी क्रूर।
अपने सुत को सेठ ने, दिये कष्ट भरपूर ।।

एक सेठ धन कमाने गया। बारह वर्षों के वाद वह घर लौट रहा था तव रात्रिकाल मे एक धर्मशाला मे विश्राम किया। नीद के समय उसे रोने की आवाज वडी सता रही थी। सेठ के आदमी ने जाच-पडताल कर सूचना दी कि एक लडका पेट के दर्द से चिल्ला रहा है।

सेठ ने अपने आदमी को पुन लडके को न रोने के लिए समझाने भेजा। किन्तु वह व्याधिवश और चिल्ला चिल्ला कर रोने लगा। सेठ ने क्रुद्ध होकर सर्दी की काली रात में उसके विस्तर धर्मशाला से वाहर फेंक देने का आदेश अपने परिचारको को दे दिया। सेठ आराम मे सो गया। प्रातःकाल उठा—ये कहने से नही मानते, कुछ आ वीतती है तभी मानते हैं, कहते-कहते सेठ ने सुख की सास ली। सेठ ने सगर्व कहा—पहले शात रहता तो बाहर क्यो जाना पडता ? परिचारक वोला—शात तो मर कर ही हुआ है।

क्या मर गया ?

जी, मर गया।

कौन था वह ?

आप ही जानें।

सेठ उठा, वाहर आया। उसने परिचारक से उसका पूरा नाम-पता पूछा। सेठ के प्राण भीतर के भीतर और वाहर के वाहर रह गए। अब वह अपने पुत्र के लिए आँसू ही वहा सकता था।

४४. अर्जुनमाली और सुदर्शन (अहिंसा)

अहो ! अहिंसा से मिटे, जन्मजात भी वैर।
देख सुदर्शन को हुआ, यक्ष शात निर्वैर ।।

अर्जुनमाली राजगृह का रहने वाला था। उसकी पत्नी का नाम वधुमती था। शहर के वाहर उसके वगीचे मे मुग्दरपाणि यक्ष का एक यक्षायतन भी था।

अर्जुनमाली अपनी वंश परम्परा को कायम रखते हुए बचपन से ही उसकी सविधि पूजा करता था। एक दिन जब वह अपनी धर्मपत्नी के साथ यक्ष की पूजा कर रहा था तो छ आततायी ने उस पर एकाएक आक्रमण कर दिया। अर्जुनमाली को बाँध कर उसकी धर्मपत्नी पर उसके सामने ही अमानुषिक व्यवहार किया। अर्जुनमाली को यह देखकर और ज्यादा दुःख हुआ कि उसकी पत्नी ने तनिक भी उसका प्रतिकार नही किया। उसने अपने आराध्य यक्ष का स्मरण कर उनसे मदद की याचना की। उनके स्मरण से उसे दैविक-शक्ति मिली और मुग्दर लेकर उसने अपनी पत्नी सहित सातो को मौत के घाट उतार दिया। उसके बाद उसके मन मे प्रतिकार और ग्लानि की भावना उमड गयी और वह प्रतिदिन निरंतर छ व्यक्ति और एक स्त्री का घात करने लगा। राजा श्रेणिक के वीर योद्धा सिपाही भी उसे परास्त नहीं कर पाये। शहर मे आतंक बढता ही गया।

एक बार भगवान श्री महावीर राजगृह नगर के बाहर गुणशील नामक उद्यान मे पधारे। किन्तु अर्जुन के भय से किसी ने दर्शन सेवा करने की हिम्मत नही की। उसी नगर मे एक सेठ सुदर्शन नाम का दृढधर्मी रहता था। भगवान के शुभागमन की सूचना पाकर वह दृढ संकल्प कर दर्शन करने की ठान ली। शहर के बाहर जब वह चला तो अर्जुन से उसकी मुठभेड़ हो गयी किन्तु अहिंसा के आगे हिंसा को परास्त होना पडा।

मुग्दरपाणियक्ष मुँह की खाकर भाग खडा हुआ। उसकी आत्मा मे एक आध्यात्मिक ज्योति प्रज्वलित हुई और वह उससे प्रेरित होकर सुदर्शन के चरणो मे गिर पड़ा। अर्जुनमाली ने सुदर्शन के प्रति कृतज्ञता प्रकट की और स्वयं भी भगवान श्री महावीर के चरणो मे उपस्थित हो गया। भगवान की मधुर प्रेरणामयी वाणी से जागृत होकर वह भी दीक्षित हो गया।

४५. राजा वसु (सत्य)

विचलित होता सत्य से, मानव मोह-प्रभाव।
वसु राजा ने खो दिया, अपना सत्य स्वभाव॥

राजा वसु मनसा, वाचा, कर्मणा सत्यवादी थे। उसकी सत्यवादिता आबाल वृद्ध प्रसिद्ध थी। यहाँ तक कहा जाता है, कि उसकी सत्यवादिता के प्रभाव से ही उसका सिंहासन आकाश मे अधर रहता था। एक बार ब्राह्मणो मे और नारद जी मे विवाद छिड गया। ब्राह्मणो का कहना था, कि वेदो के इस कथन 'अजैर्यष्टव्य' के आधार से यज्ञो मे बकरो की बलि दी जानी चाहिए। नारद जी का कहना था कि इस उक्ति का यह अर्थ नितान्त गलत है और वे इसका अर्थ करते थे कि 'न जायन्ते इति अजा व्रीह्य.' अर्थात् स्वतः निष्पन्न धान्य की व्रीही यज्ञ मे आहुति दी जानी

चाहिए। दोनो अर्थ सर्वथा एक-दूसरे के भिन्न थे और कोई भी किसी के मत को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं था। विवाद बहुत बढ गया और पारस्परिक तनाव का रूप लेने लगा। अन्तत दोनो ही पक्षो द्वारा सर्वसम्मत निश्चय हुआ कि सत्यवादी राजा वसु जो निर्णय दे दे, वही मान्य और वही सत्य होगा।

राजा वसु अपनी राज्य सभा मे बैठा था। नारद जी और ब्राह्मण वहाँ पहुँचे। दोनो ही पक्षो ने तर्क-वितर्क से अपने-अपने अभिमत की पुष्टि की। वसु पशोपेश मे पड गया। क्योकि नारद जी का पक्ष सत्य था। ब्राह्मणो का असत्य। किन्तु वह यह निर्णय इसलिए नही देना चाहता था क्योकि ब्राह्मण उसके कौटुम्बिक थे। जीवन मे कभी भी वह सत्य से विचलित नही हुआ, किन्तु इस अवसर पर कौटुम्बिको के मोह और आकर्षण ने उसे सत्य से विचलित कर दिया। उसने अपना निर्णय सुना दिया कि ब्राह्मणो का कथन सत्य है, और नारद जी का असत्य। ब्राह्मण बासो उछलने लगे। नारदजी को यह बुरा लगा, किन्तु करते क्या? सत्य कभी तिरोहित नही किया जा सकता। वह शुभ्र व स्पष्ट ही रहेगा। वसु के उस निर्णय की प्रतिक्रिया यह हुई कि उसका आकाश मे रहने वाला अधर सिंहासन डोल उठा और धडाम से नीचे आ गिरा।

४६. प्रभव चौर (अचौर्य)

करता त्रिकरण योग से, जो चोरी का त्याग।
प्रभव चोर की भान्ति वह, पाता शान्ति पराग॥

प्रभव अपने पाच सौ साथियो के साथ चोरी करने के लिए सेठ ऋषभदत्त के घर आया। चोरी की। प्रभव ने खिडकी से छुपकर देखा तो वह दग रह गया। एक युवक अप्सरा तुल्य आठ युवतियो से बातें कर रहा है। दिवाल के पीछे बातें सुनने लगा। नवो व्यक्तियो की वैराग्य भरी बातें उसने सुनी। उसका मन दहल उठा। विचारो मे परिवर्तन हुआ। कहाँ यह युवक और कहाँ मैं? यह तो क्रोडो की सम्पत्ति को ठुकरा कर सयम लेने को तैयार हो रहा है। और मैं यहाँ चोरी करने आया हूँ। धिक्कार है मेरे जीवन को। धन क्या साथ जायेगा? उसने अपने सभी साथियो से कहा—मित्रो! "पर धन धूलि समान" चोरी करना भयकर पाप है। यह कुमार सूर्योदय होते ही अपनी आठो पत्नियो के साथ दीक्षित हो जायेगा, मैंने भी यह निर्णय कर लिया है कि मैं भी साधु बनूँगा।

सारे साथी अवाक् रह गये उनके दिल मे भी वैराग्य भावना जागृत हुई। चोरी के प्रति ग्लानि उत्पन्न हो गई। सभी ने चोरी का परित्याग किया। जम्बूकुमार के साथ प्रभव आदि पाच सौ चोरो ने सयम लिया और अपनी आत्मा का कल्याण कर लिया।

४७ सुभद्रा (ब्रह्मचर्य)

शीलवान के शील से, होता जय-जयकार।
सती सुभद्रा के बिना, खुल न सके पुरद्वार॥

वसंतपुर नगर मे जितशत्रु राजा राज्य करता था। उसके प्रधानमंत्री का नाम जिनदास था। उसकी पुत्री का नाम सुभद्रा था। जिनदास जैनी श्रावक था। उसकी धार्मिक वृत्ति का सुभद्रा के संस्कारो पर बहुत गहरा प्रभाव पडा।

चम्पानगर निवासी बुद्धदास नामक बौद्ध धर्म अनुयायी के साथ सुभद्रा का पाणिग्रहण हुआ। एक दिन एक जिनकल्पिक जैन मुनि गोचरी के लिए सुभद्रा के घर आए। सुभद्रा ने उन्हें आहार दान दिया। उसने देखा कि मुनि की आंखो मे एक कांटा चुभ गया है और उसकी वेदना से पानी नेत्रो से बह रहा है। सुभद्रा को करुणा आ गयी। उसने अपनी जीभ से मुनि की आंख से कांटा निकाल दिया। अकस्मात् सुभद्रा के ललाट पर लगी बींदी मुनि के ललाट पर लग गयी। मुनि व सुभद्रा दोनो को इसका ध्यान न रहा। मुनिवर जब घर से लौट रहे थे तो सुभद्रा की ननद ने मुनि के ललाट पर लगी हुई वह बींदी देखकर अचम्भित हो गयी। उसने घर आकर सुभद्रा के आचरण पर दोषारोपण किया। घर मे सभी ने इस घटना का प्रतिकार किया और सुभद्रा पर आरोप प्रत्यारोप लगाये।

सुभद्रा को इस घटना से असह्य दु:ख हुआ किन्तु वह अपनी सत्यता प्रमाणित करने के लिए पूर्ण असहाय थी। उसने इसकी सत्यता साबित किये बिना अन्न जल ग्रहण करने का त्याग ले लिया।

एक बार अकस्मात् दैविक योग से नगर के चारो ओर द्वार बंद हो गये। गमनागमन पूर्णत: अवरुद्ध हो गया। नगर के द्वार अनेक प्रयत्नो के बावजूद भी नही खुले। राजा जब किंकर्तव्यविमूढ हुए तब एक आकाशवाणी हुई। आकाशवाणी मे कहा गया कि यदि कोई सती कच्चे धागे से छलनी बांधकर कुंए से पानी निकाले और उससे सारे दरवाजो पर छींटे लगाये जावें तो द्वार खुल सकते है। नगर की सारी महिलाओ ने अपने-अपने सतीत्व का परीक्षण किया किन्तु किसी को सफलता नही मिली। अन्त मे सुभद्रा का भी मन सतीत्व की परीक्षा देने के लिए उमड पडा। उसने अपने स्वजनो से अनुमति लेकर विधिपूर्वक पानी निकाला और द्वार पर छींटे लगाये। द्वार पर छींटे लगते ही फाटक खुल गये।

चारो दिशाओ के फाटक मे से तीन खोल दिए और चौथा नगर की कोई दूसरी सती की परीक्षा के लिए छोड दिया। नगर द्वार खुलते ही नगर मे अभूतपूर्व उल्लास छा गया। सुभद्रा का पूर्ण राजकीय सम्मान के साथ भव्य स्वागत किया गया। उसके सतीत्व को देखकर घर के स्वजन भी अचम्भित हो गये। उनके हर्ष का भी ठिकाना न रहा। उनकी इस प्रकार गलत भ्रांति दूर हो गयी। सती सुभद्रा का भी प्रण पूरा हो गया।

४८. निन्नानवें का फेर (अपरिग्रह)

जव तक नर निन्नानवे, के फेरे से दूर।
तव तक रहता है सुखी, वरना दु ख भरपूर ॥

एक वार एक सेठानी ने मकान की छत से अपने पडौसी गरीव लेकिन हृष्ट-पुष्ट शरीर के गठीले आदमी को देखा। आधी रोटी पर अपने परिवार की पेट पूर्ति करने वाले उस आदमी को देखकर उसे वहुत आश्चर्य हुआ। सेठजी के घर पहुँचने पर उसने पूछा कि आप क्यो दिन-प्रतिदिन इतनी धन सम्पदा के वावजूद दुर्वल रहते हैं ? आपका पडौसी जो निर्धन एव अभावग्रस्त है फिर भी शरीर से सबल एव खुश है। सेठजी ने वताया कि मुझे कोई रोग नही है। उसके शरीर की यही अवस्था है। सेठजी की बात सेठानी के पूरी गले नही उतरी। सेठजी ने एक महीने का सेठानी से समय लिया और प्रत्यक्ष प्रमाण वताने के लिए निन्नानवे रुपये की एक थैली पडौसी की झोपडी मे डाल दी। अकस्मात् निन्नानवे रुपये की थैली पाकर वह पडौसी वहुत प्रसन्न हुआ। अव वह उन्हे पूरे सौ रुपये करने की चिन्ता मे डूव गया। सौ रुपये की थैली पूरी करने के लिए वह एक महीने तक अपने पेट को काटकर जोडता रहा। इस प्रकार उसका शरीर क्षीण होता गया और वह इतना दुर्वल हो गया कि सही रूप में पहचाना भी नहीं जा सका। सेठानी ने पडौसी को इतना निर्वल देखकर सेठजी से पूछा कि इसे क्या हो गया है ? तव सेठजी ने जवाव दिया कि मेरा रोग उसे भी लग गया है। तव सेठानी ने पूछा आपके कौन रोग है ? सेठजी ने कहा कि मुझे लाख से करोड रुपये का रोग है और पडौसी को तो सौ रुपये पूरे करने का ही है।

४९. सत्य शिवं सुन्दरम् (रत्नत्रय)

दर्शन, ज्ञान, चारित्र है, ये तीनो ही श्रेय।
नृप के पचम पुत्र का, है उत्तर आदेय ॥

वुद्धि नगर के युवा नरेश नि सतान थे। राजा व प्रजा दोनो के लिए यह महान् चिन्ता का विपय था। नगर के प्रमुख महापडितो ने अपने शोध-चितन के द्वारा एक विचित्र-सा उपाय निकाला। उपाय यह था कि नृप यदि एक ही समय मे उत्पन्न हुई विभिन्न कुलो की पांच राजकन्याओ से परिणय करे तो एक ही समय मे पाँच प्रवुद्ध मेधावी पुत्रो के जन्म व पूर्ण जीवन की सम्भावना है। राजा इस भविष्यवाणी से वहुत निराश हुए। किन्तु अपने मत्रि परिपद के निर्णय को टाल नही सके। उन्होंने पाँचो राजकन्याओ से निश्चित तिथि को पाणिग्रहण किया। विवाहोपरात कुछ ही

समय बाद राजा को एक ही समय मे पाँच राजपुत्रों का जन्म हुआ। सारे नगर मे जन्मोत्सव बडे ही धूमधाम से मनाया गया।

पाँचो राजकुमारो को शिक्षा अच्छे गुरुकुल मे सम्पन्न हुई। राजा भी वयोवृद्ध हो गये। अतएव राज्य के उत्तराधिकारी का प्रश्न उनके मन को सताने लगा। राज्य की परम्परानुसार राजा का ज्येष्ठ पुत्र या ज्येष्ठ रानी का पुत्र ही राज्य का अधिकारी होगा। किन्तु राजा के लिए प्रत्येक रानी महारानी थी और हर पुत्र ज्येष्ठ थे। अतः राजा ने एक गूढ प्रश्न पूछकर उनका सर्वश्रेष्ठ उत्तर देने वाले को राज्य का उत्तराधिकारी बनाने का निर्णय लिया। प्रश्न यह था कि 'सत्य शिव सुदरम' मे से कौन सा सर्वश्रेष्ठ है ? प्रथम पुत्र ने सत्य को ही शिव' और सुदरम् का आधार बताया। दूसरे की राय मे 'शिव' की भावना ही सत्यता और सौंदर्य मे श्रेष्ठ है। तीसरे ने 'सौंदर्य' को सर्वश्रेष्ठ बताया और कहा कि कोई वस्तु सत्य और कल्याणकारी होने पर यदि असुन्दर हो तो अल्पसारयुक्त होती है। चौथे के विचार मे 'सत्य' 'शिव' 'सुदरम्' तीनो ही अश्रेष्ठ व अपूर्ण हैं। पांचवें और अतिम पुत्र ने सबसे सटीक व अनुपम उत्तर दिया कि सत्य यद्यपि आधार है तथापि सत्य ही शिव मे परिवर्तित हो जाता है और ऐसा होते ही सुन्दरता आ जाती है। सत्य रहित शिव नही हो सकता और सत्य व शिव के बिना सुन्दरता नही आ सकती। अत मेरे विचार मे तीनो एक-दूसरे के परिपूरक है। अत तीनो समान रूप से श्रेष्ठ या सर्वश्रेष्ठ हैं।

अमात्यगण एवं महाराजा ने सम्मिलित रूप से निर्णय दिया कि अतिम पुत्र का उत्तर सर्वश्रेष्ठ है। अतएव उसी समय पाँचवे पुत्र का राज्याभिषेक किया गया। खुशी व जयघोष के स्वर से आकाश गूँज उठा।

५०. मूर्ख लकड़हारा (सम्यग्ज्ञान)

सफल न हो सकती क्रिया, अगर न सम्यग् ज्ञान।
आग न निकली अरणि से, लकडहार अनजान॥

चार लकडहारे लकडियाँ बीनने दूर जगल मे चले गए। दोपहर का समय हो गया और चारो मे से एक ने खाना बनाने का काम ले लिया। और तीनों लकडहारे लकडी का गट्ठर इकट्ठा करने निकल पडे। तीनो ने अपने साथी लकडहारे को बता दिया कि आग की जरूरत होने पर अरणी की लकड़ी का प्रयोग कर लेना। चौथे लकडहारे ने खाना पकाने के लिए अरणी की लकडी को नीचे से ऊपर तक देखा पर आग नजर नही आयी। उसने उस लकडी के टुकडे-टुकडे कर डाले पर आग न निकली इस प्रकार आग न जली और वह खाना पकाने मे असमर्थ हो गया। उसको अपने साथी लकडहारे पर बहुत गुस्सा आया। साथियो का इतजार करते-करते वह नींद मे सो गया।

तीनो लकडहारे गट्ठर लेकर शाम को पहुँचे। भोजन बना हुआ न पाकर वे अचम्भित हुए और साथी से इसका कारण पूछा। मूर्ख साथी ने दोषारोपण कर बताया कि आप लोगो ने कौन सी लकडी आग के लिए बता दी कि मैंने उस लकडी को टुकडे-टुकडे कर डाला फिर भी आग नही निकली। तब तीनो ने उसे अक्ल दी कि आग लकडी काटने से नही निकलती वरन् घर्षण मे निकलती है। तब उसे बात समझ मे आयी और अपनी भूल स्वीकार कर ली।

५१ आषाढ़भूति (सम्यग्दर्शन)

शीघ्र डुबा देती न क्या, शका-जल की बाढ।
क्षण मे विचलित हो गये, श्रद्धा से आषाढ॥

प्रसिद्ध आचार्य आषाढभूति का चातुर्मास अपने सौ शिष्यो के साथ उज्जैन नगर मे हुआ। आचार्य प्रवर की अमृत-वाणी से जनता काफी प्रभावित हुई।

एक बार नगर मे भीषण महामारी का प्रकोप हुआ। महामारी मे काफी सख्या मे लोग मरने लगे। आचार्य आषाढ-भूति के शिष्यगण भी महामारी की चपेट मे आ गये और एक-एक कर देवगति प्राप्त करने लगे। आचार्य गुरु अपने शिष्यो पर धर्म-आराधना करवा कर उन्हे समाधिमरण प्राप्त करवाते और उनसे एक बार देव-योनि से पुन आकर मिलने को कहते। इस प्रकार निन्नानवे शिष्य चले गए पर एक भी देव-योनि से आकर न मिले। परम आस्तिकवादी आचार्य की श्रद्धा डगमगा गयी। दुर्भाग्यवश उनका प्रियतम शिष्य विनोद भी महामारी के चगुल मे फँस गया। आषाढ मुनि ने खिन्न होकर कहा कि क्या तुम भी और शिष्यो की भांति लौटकर मुझसे एक बार नही मिलोगे ? शिष्य विनोद ने पूरे विश्वासपूर्वक कहा कि मैं अवश्य ही स्वर्ग से लौटकर आऊँगा और आपके दर्शन-लाभ प्राप्त करूँगा। यह कहकर विनोद ने आँखें मूँद ली।

आषाढभूति मुनि पूरी रात यूँ ही शिष्य के इतजार मे बैठे-बैठे निकाल दी पर शिष्य की कोई आहट तक न मिली। मुनि का अब धैर्य टूट गया। उन्हें यह आशा नही थी कि उनका प्रियतम शिष्य भी अपना वचन पूरा न करेगा। 'परलोक' न होने की बात उनके मन मे बैठ गयी। वे 'स्वर्ग-नर्क' (पुनर्जन्म) को भी मिथ्या समझने लगे। अब वे भौतिक सुखोपभोग मे ही जीवन का सार निहित समझने लगे और इस हेतु उन्होंने दूर अपरिचित देश जाने का निर्णय लिया।

शिष्य विनोद ने अवधिज्ञान के द्वारा देखा कि गुरु नास्तिक हो गए हैं। विनोद ने सोचा कि गुरु मे यदि दया और लज्जा का तनिक भी भाव अवशेष रहा तो मैं उन्हे जरूर डिगने से बचा लूँगा। शिष्य ने गुरु को छ महिने तक रमणीय नाटक

दिखाया। फिर गुरु इतजार के बाद आगे चल पडे। आषाढभूति को एक घने जगल मे छ गहनों से लदे बालको से भेंट हो गई। उन्होंने पृथ्वी, अप, तेजस, वायु, वनस्पति और त्रस के नाम से अपना परिचय दिया। आषाढ-भूति ने गहनो के प्रलोभ मे बालको को मारकर लाश को वहीं एक रन्ध्र मे डाल दिया और सारे गहने अपने पात्र मे डाल लिए। उन्हे अब भोग-विलास के लिए अच्छा धन हाथ लग गया।

आचार्य कोसों दूर निकल गए। वे सगर्व चल रहे थे। अकस्मात् एक जैन श्रावक का पडाव रास्ते मे मिल गया जैन श्रावकगण ने सविधि वंदना कर दर्शन लाभ लेकर आहार दान देने की उत्कट भावना प्रकट की। गुरुदेव ने आहार ग्रहण की आनाकानी की, पर वे कब मानने वाले थे? उन्होंने झोली खोलकर आहार देने की चेष्टा की। झोली खोलते ही गहनो से लदे पात्र देखकर वे विस्मित् हो गये। आषाढ-भूति की आंखो के आगे अंधेरा छा गया। वे अत्यन्त लज्जित हुए। तभी बालको के निराश मा-बाप भी भीड के पास आ खडे हो गए। पात्र के गहने देखकर उन्हें पूरा विश्वास हो गया कि बालको का हत्यारा यह साधु ही है। आचार्य लज्जित होकर सोचने लगा मैंने कैसा यह अनर्थ किया? अब मेरी क्या गति होगी? कुछ ही समय बाद हृदय-द्रावी कोलाहल शात हुआ और उनका प्रियतम शिष्य विनोद प्रकट हुआ। गुरु बहुत प्रसन्नचित्त हो गये और विनोद की माया समझ गये। विनोद ने अपने विलम्ब का प्रायश्चित्त करते हुए कहा कि भौतिक सुखो मे सलग्न देवों को समय का ध्यान नहीं रहता। वे पौद्गलिक सुखो मे आनन्दरत हो जाते हैं। अतएव वे प्रकट नहीं हो सकते। मैं वचनबद्ध था इसलिए आपके दर्शन करने आ गया। आषाढ-भूति पुन आस्तिक हो और पुन साधना मे लीन हो गए।

५२. सुकरात का शिष्य (सम्यग्-चारित्र)

आत्मा मे करना रमण, है यह सयम धर्म।
बता दिया सुकरात के, चेले ने यह मर्म॥

एक बार सुकरात के शिष्य 'डायोजनिज्म' से एक व्यक्ति ने प्रश्न पूछा—धर्म क्या है? उसने उत्तर दिया कि इतने गहरे प्रश्न को समझाने के लिए लम्बे समय की अपेक्षा है। अत एव आप अपना पूरा पता बता दें ताकि आगे बातचीत चलने मे सुविधा रहे।

आगन्तुक—मैं अमुक देश का रहने वाला हूँ।

डायोजनिज्म—देश मे तो बहुत नगर और ग्राम होते हैं। तुम कहाँ रहते हो?

आगंतुक—मैं अमुक नगरी की अमुक बस्ती में रहता हूँ।

डायोजनिज्म—भाई मकान तो बहुत लम्बा-चौडा होता है। उस सारे मकान मे तुम कैसे रह सकते हो?

आगंतुक—वताते वताते हैरान हो गया, एक वार आवेश मे आकर अपने हृदय पर हाथ रखते हुए वोला—यहाँ रहता हूँ, यहाँ समझे ?

डायोजनिज्म हँसते हुए वोले तुम्हारे प्रश्न का यही उत्तर है। अपने आप मे अवस्थित होना ही धर्म है।

५३ अंगुलीतोड़ (तप)

तप आत्मा मे रमण है, तप समता वेजोड।
शिक्षाप्रद दृष्टांत है, शिष्य अँगुली तोड ॥

एक तपस्वी शिष्य ने तपस्या का पारणा करने की आज्ञा माँगी। आचार्य ने कहा—क्षीण कर। उसने पारणा नही किया। अपने तप को और लम्वा किया। कुछ दिन वाद फिर पारणा करने की शिष्य ने स्वीकृति माँगी तो आचार्य ने फिर कहा—क्षीण कर। उसने फिर तपस्या कर शरीर को अस्थि-पजर का-सा कर आचार्य के सम्मुख उपस्थित हुआ। आचार्य ने फिर वही वात दोहरायी। तपस्वी शिष्य झुंझला कर एक झटके मे ही अपनी कनिष्ठा को तोडते हुए कहा—इससे अधिक और क्या करूँ ?

आचार्यवर ने जव 'क्षीण कर' का मतलव काया से न वताकर उसके क्रोध से वताया और कहा, क्रोध को क्षीण कर तभी तप का फल मिलेगा। शिष्य को अपनी भूल पर पश्चात्ताप हुआ।

५४ शाक्य भद्दिय राजा (मोक्ष)

मुनि गणेश आनन्द है, पर-पदार्थ निरपेक्ष।
भद्दिय नरपति ने कहा, भौतिक भय सापेक्ष ॥

शाक्य राजा भद्दिय वुद्ध मे दीक्षित होकर भिक्षु-मडली मे रहने लगे। वे प्रत्येक दिन आरम्भिक क्रिया के पहले 'अहो-सुखम्-२' का अनुसरण करते। एक दिन गौतम वुद्ध ने राजा भद्दिय को वुला कर 'अहो! सुखम्-अहो सुखम् का' उच्चारण अपनी आरम्भिक क्रिया से पहले करने का कारण पूछा। भद्दिय राजा ने कहा 'भन्ते! भिक्षु-पर्याय मे मुझे अपूर्व आनन्द की अनुभूति होती है, अत. सहज-भाव से मन का, आनद उभर कर, अहो! सुखम्-२' मे अभिव्यक्ति करता रहता हूँ।' तव गौतम वुद्ध ने पूछा—'भिक्षु! तुम राजा थे तव तुम्हे कौन सा सुख नही था, जो भिक्षु जीवन के सुख को तुम अपूर्व सुख कह रहे हो ?'

भद्दिय राजा ने अपना पूरा सन्देह व भययुक्त जीवन का वृत्तात सुनाया और साधु जीवन के स्वच्छन्द जीवन की निश्चितता की चर्चा की। उन्होने कहा—'भते ! जिस जीवन मे सुख से भोजन नही कर पा रहा था, नीद भी नही ले पा रहा था। वह जीवन सुखी कैसा ? अब मैं भिक्षा जीवी होकर निःसन्देह भोजन करता हूँ। अनजाने व्यक्ति से मिले अनजाने भोजन को करने मे भी मुझे भय नही होता कि इसमे जहर मिला होगा। किसी भी वृक्ष के नीचे रह कर मैं रात को नीद लेता हूँ। मुझे भय नही होता, कोई शत्रु मुझे कष्ट देने आ रहा है। अस्तु, इन सारी बातो को सोचता हूँ और मेरे मुख से सहज-भाव से निकलता रहता है—"अहो ! सुखम्-२ ।"

बुद्ध ने अन्य उपस्थित भिक्षुओ को सम्बोधित करते हुए कहा—"यह राजर्षि अनाशक्ति और अभय के सुख से परिपूरित है। अपने जीवन मे इसने सिद्ध किया है—सग्रह दुःख का कारण है और त्याग आत्मिक आनन्द है। आत्मिक आनद ही वास्तविक सुख है।"

५५. राम का रोष (पुनर्जन्म)

सीता ने गत-जन्म मे, थोपा मुनि पर दोष।
मुनि गणेश इस जन्म में, मिला राम का रोष ॥

मृणालिनी नगरी मे श्रीभूति नामक एक प्रतिष्ठित पुरोहित रहता था। उसकी पत्नी का नाम सरस्वती था। वेगवती उसी पुरोहित की कन्या थी। एक दिन वेगवती अपनी सखियो के साथ भ्रमण करती हुई उद्यान मे चली गई। उसी उद्यान मे एक घोर तपस्वी सुदर्शन मुनि ठहरे हुए थे। वहाँ पर दर्शनार्थ आए लोगो की भीड को देखकर उसका मन ईर्ष्या से जल उठा। वेगवती ने भरी सत्सग सभा मे मुनि पर दुराचारी व ढोगी होने के आक्षेप लगाये। उसने मुनि पर स्त्री के साथ एकात सहवास करने का भी आरोप लगाया। जब मुनि ने अपने पर लगाये गए मिथ्या आरोपो को सुना तो उन्हें बडा दुःख हुआ। यह जैन साधु के मान-मर्यादा का प्रश्न था। अतएव सुदर्शन मुनि ने अभिग्रह लिया कि मुझ पर मढा गया दोषारोपण जब तक दूर न होगा मैं आहार-पानी का उपभोग न करूगा। इसप्रकार सकल्प लेकर वे ध्यान मे स्थित हो गये।

वेगवती के दोषारोपण का प्रचार व प्रसार सारे नगर मे हो गया। लोगो के मन मे साधुओ के प्रति घृणा फैल गई। वेगवती को यह सब देखकर बहुत खुशी हुई। एक बार वह नगर भ्रमण कर रही थी कि एकाएक उसकी जबान बद हो गयी और पीडा से अभिभूत होकर मरणात दुःखो की अनुभूति करने लगी। उसे अपना मिथ्या आरोप याद आया और उसने उसका प्रायश्चित्त किया। उसने चिल्लाते हुए जोरो से

कहा, "मुनि सर्वथा निर्दोष हैं। इन्होने कोई भी ऐसा आचरण नही किया है जो मैंने पहले कहा था। न तो कोई महिला मुनि के पास आई और न ही एकातवास हुआ है। मैंने द्वेषवश ऐसा कह दिया था।" कुछ ही क्षणो बाद सहस्रो लोगो की भीड ने मुनि का स्वागत जयघोष से किया। मुनि आरोप मुक्त हो जाने से अपने अभिग्रह की पूर्ति की। मुनिवर के उपदेश से लोगो मे धर्म के प्रति आस्था जागृत हुई। वेगवती ने भी अपने को मुनि के श्रीचरणो मे रख दिया। कुछ समय पश्चात् वह साध्वी बनी और सम्यक् प्रकार से अपनी साधना सम्पन्न कर पाँचवें स्वर्ग मे उत्पन्न हुई।

वेगवती की आत्मा ने स्वर्ग मे अपना आयुष्य समाप्त कर मिथिला नगरी मे महाराजा जनक के घर सीता के रूप मे जन्म लिया। वेगवती भव मे अपने कृत-कर्मों का फल सीता को भुगतना पडा।

५६. खाती और उसका पुत्र (कर्म-विपाक)

कर्मो को भुगते बिना, मिलती कही न छूट।
खाती का सिर काटकर, प्राण लिए है छूट॥

एक खाती अपने चोर-कर्म मे बडा निष्णात था। धर्मपत्नी व एक पुत्र का उसका छोटा-सा परिवार था। एकदिन उसकी धर्मपत्नी ने कहा—आप तो अपनी विद्या मे कुशल हैं, अतएव कभी भी घर मे धन का अभाव नही खटका और न चोरी ही करते पकडे गए। किंतु यह आपका लाडला बेटा तो निरा बुद्धू है। कभी-कभी इसे भी साथ ले जाया करो और कुछ प्रशिक्षण दिया करो। यदि यह इस विद्या को न सीख सका तो कही यह न हो जाय कि आपकी विद्या आपके ही साथ चली जाए और इसको पछताना पडे। खाती ने कहा—तो आज ही मैं अपने साथ ले जाता हूँ। एक बडे सेठ के घर चोरी करनी है।

आधी रात को पिता और पुत्र दोनो चल पडे। भीषण अधकार व नीरस वातावरण मे दोनो व्यक्ति सेठ के घर पहुँच गए। खाती ने दो-चार क्षणो मे अपने पुत्र को सेंध लगाने का तरीका बताया और स्वय दीवार तोड कर पैरो के बल मकान मे घुसने लगा। सयोगवश उसी कमरे मे सोये कुछ लोग जाग पडे और उन्होने चोर को रगे हाथ पकड लिया। पैर मकान के अन्दर और सिर बाहर की ओर। लड़के ने जब यह अजीब माया देखी तो वह दौडा-दौडा माँ के पास आया। सारी घटना सुनायी और बोला—माँ! अब क्या करना चाहिए? माँ ने तलवार देते हुए कहा जल्दी जा और अपने बाप का सिर उतार ला। कही वह पकडा गया तो हम सब ही मारे जायेंगे। लडका दौडता हुआ गया और माता के निर्देशानुसार पिता का सिर काट लाया।

५७. स्कन्धक मुनि (कर्म-सिद्धि)

पाप कर्म लेते नही, कभी किसी का पक्ष।
खन्धक मुनि ने वेदना, भोगी है प्रत्यक्ष ॥

श्रावस्ती नगर मे कनककेतु नाम का राजा था। उसकी महारानी का नाम मलयासुन्दरी, कुमार का नाम खन्धक, पुत्री का नाम सुनन्दा था। सुनन्दा का विवाह कुन्ती नगर के राजा पुरुषसिह के साथ हुआ। एकदा उसी नगर मे विजय सेन मुनि का पदार्पण हुआ। हजारो लोगो ने प्रवचन सुना। खन्धक के हृदय मे वैराग्य जागृत हुआ। माता-पिता की अनुमति से उसने दीक्षा ग्रहण की। खन्धक मुनि अपने ज्ञानाभ्यास व साधना की श्रेणी पार कर चुकने पर अकेले विहरण करने लगे। कनक केतु नृप ने मुनि के अगरक्षक के रूप मे ५०० सुभट नियुक्त कर दिये। जिधर मुनि पधारते सुभट हरदम साथ मे रहते।

कुन्ती नगर वहिन की राजधानी मे मुनि पधारे। उनके एक मास के तप का पारणा था। मुनि गोचरी के लिए पधारे। पाँच सौ सुभट इधर-उधर घूमने के लिए गए हुए थे। राजा और रानी गवाक्ष मे चौपड खेल रहे थे। रानी की नजर मुनि पर पडते ही भाई की स्मृति हो आई, नयनो से आंसू टपकने लगे, खेलने से दिल उचट गया। राजा ने अपने खेल मे मुनि को वाधक समझा। वह नीचे आया और जल्लादो को आदेश दिया कि उस मुनि की चमडी उतार दी जाए। उन्होने मुनि को श्मशान मे ले जाकर उस्तरे से चमडी छीलना आरभ कर दिया। उस भयकर वेदना को मुनि ने समभाव से सही। उसी तितिक्षा भाव से वे समस्त कर्मों को काटकर मुक्त वन गये।

५८. धन्ना अणगार (प्रश्नोत्तर)

घोर तपस्वी कौन है ?, श्रेणिक प्रश्न उदार।
महावीर प्रभु ने कहा, है धन्ना अणगार ॥

काकंदी नगरी मे भद्रा नामक सार्थवाहिनी रहती थी। उसके धन्ना नामक एक पुत्र था। वह रूप, कला, प्रतिभा व दौलत से सम्पन्न था। वत्तीस कन्याओ से उसका विवाह हुआ। एक वार भगवान महावीर काकदी मे पधारे। उनके उपदेश से धन्ना के हृदय मे वैराग्य जागृत हुआ। भगवान के चरणों मे वह दीक्षित हो गया। धन्ना अणगार ने अभिग्रह पूर्वक घोर तपस्या प्रारम्भ कर दी।

भगवान महावीर विहरण करते हुए राजगृह नगरी मे पधारे। प्रवचन के

पश्चात् सम्राट् श्रेणिक ने पूछा—भन्ते ! आपके शासन मे चौदह हजार साधु हैं, सब मे उत्कृष्ट तप करने वाला कौन है ?

भगवान महावीर ने कहा—धन्ना अणगार है, वह नौ महीने से बेले-बेले का तप व उत्कृष्ट अभिग्रह कर रहा है। उसका शरीर सूखकर अस्थि-पजर सा हो गया है।

५९ मम्मण सेठ (जड़)

धन सग्रह को समझता, जड़मति जग मे सार।
रिक्त हाथ मम्मण गया, घोर नरक के द्वार ॥१॥

महारानी चेलना महाराज के साथ महलो मे बैठी हुई थी। बिजली के प्रकाश से उसने बहती नदी के किनारे एक बूढे व्यक्ति को लकडियाँ बीनते हुए देखा। चेलना को उससे बहुत दु ख हुआ। उसी समय उसने राजा से कहा—महाराज ! क्या आपके राज्य मे ऐसे दरिद्र भी रहते हैं।

राजा श्रेणिक को भी यह बात अखरी। प्रात काल अपने अनुचर भेजकर उस बूढे को वहाँ बुलाया गया। श्रेणिक ने पूछा—तू इतनी भयकर रात मे काम क्यो कर रहा था ? क्या तू इतना गरीब है ? तेरा क्या नाम है ?

वृद्ध ने कहा—महाराज ! मेरे पास एक बैल तो है, किन्तु एक बैल और चाहिए उसके लिए यह सारा प्रयास है। मेरा नाम मम्मण है।

राजा ने अपने अनुचर से कहा—इसे अभी ले जाओ और जो बैल यह पसन्द करे इसे दे दो। सारे बैल देखकर वृद्ध ने कहा—महाराज ! मुझे एक भी बैल अच्छा नही लगा। श्रेणिक ने कहा—तेरा इतना क्या सुन्दर बैल है ? मुझे यहाँ लाकर दिखला।

मम्मण ने उत्तर दिया—महाराज ! वह यहाँ नही आ सकता। कृपया आप मेरे घर पधारें तो मेहरबानी होगी।

राजा उसके साथ चला गया। मकान के नीचे भूमि-गृह मे दोनो पहुँचे। घोर अधेरा था। मम्मण ने एक कपडा हटाया। एक साथ प्रकाश हो गया। राजा श्रेणिक ने उसके बैल को देखा। वह स्तम्भित रह गया। रत्नो का बैल था। सारा भूमि-गृह उससे प्रकाशित हो रहा था। श्रेणिक ने चेलना को उसके बैल की सारी घटना सुनाई। वह भी देखने के लिए आई। बहुत ही आश्चर्यकारी बैल था। रानी से रहा नहीं गया। उसने उलाहना देते हुए कहा—मूर्ख ! जब तेरे पास इतना धन है, तू क्यो नहीं अपने काम मे लेता ? क्या इसे साथ ले जाएगा ?

६०. श्रेयांसकुमार (दान)

देकर दान जिनेश को, श्री श्रेयासकुमार।
बना प्रथम दातार है, धन्यवाद सौवार ॥

ऋषभदेव का पौत्र श्रेयास कुमार अपने आवास की सातवी मजिल पर बैठा स्वप्न का चितन कर रहा था। उसके मन मे रह-रहकर वही आ रहा था कि आखिर मेरे द्वारा ऐसा क्या होने का है। अचानक उसकी दृष्टि राजपथ पर पडी। एक वर्ष की कठोर तपस्या से कृशकाय कृष्ण कान्ति भगवान् ऋषभनाथ पधार रहे थे। उसके मन मे भावना उमडी। जाति-स्मरण ज्ञान की प्राप्ति हुई। उसने जाना कि भगवान कठोर तपस्या से कृशकाय हो रहे हैं। और इन्हे शुद्ध आहार दान करने वाला कोई नही है। भोले-भाले लोग इन्हें राजा समझकर मणि मुक्ता, स्वर्ण-रजत-हाथी घोडे आदि भेंट करते हैं, किन्तु भोजन को छोटी वात समझकर इन्हे कोई नही दे रहा है। स्वय मागते है नही अत. एक वर्ष की स्वत. तपस्या हो चुकी है। श्रयासकुमार वहाँ से दौडा। नीचे आया। भगवान् ऋषभनाथ भी उधर से ही पधार रहे थे। राज-भवन मे कुछ ही दूर श्रेयासकुमार ने दर्शन किए। प्रार्थना की प्रभो ! यह कुटिया पावन करो और दान का लाभ दो। श्रेयास के घर इक्षुरस के घडे उपहार मे आए पडे थे। वे सर्वथा निर्दोष एषणीय व प्रासुक थे। भगवान ने अपना कर पात्र ओष्ठ युगल पर लगाया और श्रेयास कुमार ने घट उडेलना आरम्भ किया। अक्षय तृतीया (वैशाखीतीज) के दिन वह वर्षी तप पूरा हुआ श्रेयासकुमार प्रथम दाता बना। उस दिन से जनता ने दान का महात्म्य व प्रकार जाना।

६१. बनिया और बादशाह की दाढ़ी (भाग्य उद्यम)

भाग्य और उद्यम उभय, मिलकर करते काम।
बनिया दाढी ले गया, और मुफत मे दाम ॥

एक वार अकबर वादशाह ने बीरबल से कहा—"सवसे ज्यादा सयाना कौन और सवसे भोला कौन ?" वीरवल ने कहा—सयाना तो बनिया है, और भोला है आपका गुरु, मौलवी।" बादशाह क्रोधित हो उठा—"मेरे गुरु का अपमान। तुम्हे प्रमाण देना पडेगा।"

वीरवल ने मौलवी को बुलाकर कहा—"तुम अपनी दाढी काट कर दे दो, बादशाह को जरूरत है। जितनी इसकी कीमत हो ले लो।"

मौलवी ने सोचा और कहा—"इसकी कीमत चार आने है।" हजामत कर दी गई।

अब एक बनिया को बुलाया गया। उससे भी वही बात कही गई जो मौलवी से कही गई थी। बनिये ने कहा, "मैं भी बादशाह का हूँ और यह दाढी भी। कीमत की क्या बात है? एक बार मैंने यह दाढी उतारी थी, जबकि मेरी माँ मरी थी। पूरे पच्चीस हजार का खर्च ओसर-मोसर आदि मे हुआ था। दूसरी बार जब पिताजी मरे तब दाढी उतारी तब पूरे ३१ हजार का खर्च हुआ। इस तरह ५६ हजार तो खर्च लग चुका है और आगे जाकर इसकी कीमत क्या पड़ेगी पता नही। अभी तक तो ५६ हजार की रकम खर्च हुई है।" ५६ हजार रुपये राज कोष से दे दिए गए। बनिया फिर बोला, "दाढी कटाने से बाजार मे मेरी इज्जत न गिर जाए। इसलिए इस आशय का रुक्का लिख दीजिए कि आलऔलाद तक मेरी इज्जत बनी रहेगी।" ऐसा रुक्का भी लिख दिया गया।

अब बनिया दाढी उतरवाने बैठा। हजाम ने उस्तरा चलाया और बनिये ने हजाम पर हाथ चलाया। कहा, "मूर्ख समझता नही। बादशाह सलामत की दाढ़ी उतर रही है और सावधानी नहीं रखता।" बादशाह बोला, "मेरी दाढ़ी कहाँ उतर रही है।" बनिया बोला, "जहापनाह! मैं तो इसे आपके हाथ बेच चुका हूँ। अब दाढी आपकी है।" बादशाह को कहना पडा कि मुझे दाढी नही कटानी है। बनिये ने कहा, "आपकी मर्जी है, चाहे इसे रखें या कटवायें।" इस तरह बनिया बिना दाढी कटवाये रवाना हो गया।

६२. दो अण्डे (कालवाद)

एक काल-कृत कार्य के, फल मे भेद महान।
है दो अण्डो का यहाँ, शिक्षाप्रद आख्यान॥

चम्पानगरी के अन्दर जिनदत्त और सागरदत्त नाम के दो सार्थवाह पुत्र थे। वे दोनो बाल मित्र थे। क्रीडा के लिए उद्यान मे गए हुए दोनो मित्रो ने मयूरी के अण्डे देखे। उन अण्डो को उठाकर वे दोनो मित्र अपने-अपने घर ले आए और कुकडी के अण्डों के साथ रख दिये।

सागरदत्त को यह शका हुई कि इन अण्डो मे से मयूरी के बच्चे पैदा होगे या नही? इसलिए वह बार-बार हिला कर देखने लगा। हिलाने से वे अण्डे निर्जीव हो गए। जिससे उसको अति खेद और चिन्ता हुई।

जिनदत्त ने उन अण्डों के विषय मे कोई शका न की, इसलिए उनको हिलाया-डुलाया भी नही जिससे समय पर उन अण्डो से मयूरी के बच्चे पैदा हुए। फिर वह उन बच्चो को मयूरी पोषक से शिक्षित करा कर नृत्य और क्रीडायें करवाता हुआ आनन्द का अनुभव करने लगा।

६३. संत और विच्छू (स्वभाववाद)

दुष्ट न छोडे दुष्टता, सत न सत स्वभाव ।
विच्छू तजे न काटना, सत न करुणा भाव ॥

जल मे छला छल भरे हौज मे स्नान करते हुए साधु ने देखा कि विच्छू पानी मे तडफडा रहा है । वह बाहर निकलने को छटपटा रहा है । साधु ने हाथ मे उठाकर ज्यो ही बाहर निकालने का यत्न किया तो विच्छू ने योगी को काट खाया और फिर पानी मे जा पडा । योगी ने कापते हाथो से फिर उठाया किन्तु दूसरी बार भी वैसा ही हुआ । सत ने तीसरी बार भी प्रयत्न किया, किन्तु वे असफल रहे । चौथी बार फिर वे प्रयत्न करने लगे तो तट पर खडे एक-आदमी ने कहा-योगिन् ! दुष्ट के साथ यह कैसी शिष्टता ? साधु ने स्मित हास्य विखेरते हुए कहा—यह अपने काटने के स्वभाव को नही छोड़ता है, तो मैं अपने शिष्ट स्वभाव को कैसे छोड सकता हूँ ?

६४. श्रेणिक का नरक गमन (कर्मवाद)

कर्मों का फल मनुज को, मिलता है साक्षात् ।
राजा श्रेणिक नरक मे, है प्रसिद्ध यह वात ॥

भगवान श्री महावीर वृहत् श्रमण-समुदाय के साथ राजगृह नगर मे पधारे । राजा श्रेणिक राजा परिवार और सेना के साथ वडे ठाठ से वन्दन करने के लिए आया । विशाल परिषद मे धर्मोपदेश हुआ । देशना के अनंतर श्रेणिक राजा ने खड़े होकर विनम्र भाव से भगवान से पूछा—भगवान् ! आपके निर्ग्रन्थ प्रवचन मे मेरा पूर्ण विश्वास है और उसे ही मैं यथार्थ मानता हूँ । आपके प्रति मेरी अगाध श्रद्धा हैं । आप वताएँ, मैं यहाँ से काल-धर्म को प्राप्त होकर किस योनि को प्राप्त करूँगा । सारी परिषद जानने को उत्सुक हो उठी थी । श्रेणिक के मन मे अपूर्व उत्साह था और निश्चय था, भगवान मेरे लिए कोई विशिष्ट गति का ही निरूपण करेंगे ।

भगवान ने उत्तर दिया—श्रेणिक ! यहाँ से आयुष्य पूर्ण कर तू पहली नरक मे पैदा होगा ।

श्रेणिक स्तब्ध रह गया । सारी परिषद विस्मित हो उठी । भगवान ने कहा श्रेणिक डरो मत । विराट सुखो की ओर जाते हुये तुम्हारा यह नरकवास वहुत ही लघु है । उस नरक योनि को प्राप्त कर तू मनुष्य योनि को प्राप्त करेगा और मेरे ही जैसा भावी चौवीसी का प्रथम तीर्थंकर होगा ।

श्रेणिक—भगवान ! किन कर्मों के फलस्वरूप मुझे यह नरक का भोग मिला ।

भगवान्—तूने अर्हत—धर्म प्राप्त करने से पूर्व शिकार खेलते समय एक गर्भ-

वती मृगी को अपने वाण से मारा था और उस हिंसा-कृत्य पर गर्वित हुआ था। "मैंने कैसा लक्ष्य साधा है कि एक ही वाण से हिरणी और उसके गर्भस्थ बच्चे बींध दिए हैं। उस कृत्य की अतिशय श्लाघा से यह निश्चित कर्म-बन्ध और वह तुझे अनिवार्य रूप से भोगना ही पड़ेगा।

६५ कायर तस्कर (पुरुषार्थवाद)

पर-सहाय पाते त्वरित, जो उद्योगी लोग।
देवी ने भी कब दिया, तस्कर को सहयोग॥

क्लीव और कायर की सहायता देवी भी नही कर सकती है। देवी के मन्दिर मे घुस कर प्राणो की भीख माँगने वाले चोर ने कहा—माता! रक्षा कर, रक्षा कर! देवी उसके कातर चेहरे को देखकर द्रवित हो गयी, वह बोली—वत्स! घबरा मत तू इस दरवाजे को बन्द कर दे, तेरा कोई भी बाल-बाँका नहीं कर सकेगा। काँपते हुए हाथो को थाम कर भय की मुद्रा में बोला—माता! मेरे हाथो से ऐसा नहीं हो सकता। देवी बोली—वत्स! हल्ला तो मचा सकेगा। माता यह भी सभव नही है, मेरा तो गला सूख रहा है। तो वत्स! क्या तू मेरी मूर्ति के पीछे बैठ सकेगा। चोर ने कहा—मेरे मे इतना ही दम होता तो मैं सहायता की भीख क्यो माँगता। आक्रोश की मुद्रा मे देवी बोली—निकल यहाँ से, ऐसे कमजोर व्यक्ति की सहायता मैं भी नही कर सकती।

६६. सद्दालपुत्र (नियतिवाद)

नियति भरोसे ही रहे, तो कैसे हो काम।
समझाया सद्दाल को, देकर ज्ञान ललाम॥

जनपद विहार करते हुए भगवान महावीर पोलासपुर मे आये। वहाँ सद्दाल पुत्र नामक एक कुम्भकार रहता था। गोशालक के नियतिवाद मे उसका विश्वास था। वह मानता था कि जो नियति मे निश्चित है, वही होता है। उसमे मनुष्य का उत्थान, बल, वीर्य और पुरुषाकार पराक्रम व्यर्थ है।

भगवान सयोगवश उसके घर की ओर से निकले। वह मिट्टी के निर्मित सुन्दर घड़ो को धूप मे सुखा रहा था। भगवान को देखते ही उसने विनम्रतापूर्वक वन्दन किया।

वन्दन को स्वीकार करते हुए प्रभु ने कहा—सद्दाल-पुत्र! आज तो अपने कार्य मे बडी तत्परता से लगे हो।

सद्दाल—"हाँ प्रभो ! नही तो धूप मे ही फट-फट कर खराब हो जाते हैं।"

भगवान—"घट की निष्पत्ति तक पहुँचने मे तुम्हे अनेक क्रियाओ को करना होता हैं।"

सद्दाल—"हाँ भन्ते ! सर्वप्रथम जगल (खान) से मिट्टी लाते हैं। मिट्टी को गूँध कर पिण्ड बनाए जाते हैं। पिण्डो को चाक पर चढा कर घडों को प्रारभिक स्वरूप दिया जाता है। उनको थापियो द्वारा पीट-पीट कर कच्चे घडो का निर्माण किया जाता है। कच्चे घडो को धूप मे सुखा कर उन पर रग-बिरगे रगो से चित्र बनाते हैं। फिर अग्नि मे पकाते हैं। अग्नि मे पक कर सुन्दर घट रूप मे निष्पन्न होते हैं।"

"घट के निर्माण मे प्रजापति, इतना परिश्रम करना पडता है?" भगवान ने पूछा।

सद्दाल पुत्र—"तब क्या भन्ते ! घट ऐसे ही निष्पन्न होते हैं? मैं और मेरा सारा परिवार रात-दिन इसी मे लगे रहते हैं।"

भगवान—"सद्दाल पुत्र ! यदि कोई पागल पुरुष इन सुन्दर घडो को फोड़ दे तब तुम्हे क्लेश होगा या नही ?"

भगवान के सीधे और विचित्र प्रश्न से एक बार तो वह चौंका किन्तु सम्भलते हुए वह बोला—'ऐसा मैं कैसे करने दूँगा ?"

भगवान—"क्यो इसमे तुम्हारा क्या अहित है ?"

सद्दाल—"मेरा अहित नही तो और किसका है ? इसके निर्माण मे हमारा कितना पुरुषार्थ और पराक्रम लगा है। इनको फोड़ने से वह सब व्यर्थ हो जायेगा।"

भगवान—"अब मैं समझा यह सब तुम्हारे पुरुषार्थ से फलित हुआ है। तुम्हारे बल, वीर्य और पराक्रम से निष्पन्न हुआ है, क्या मैं ठीक कह रहा हूँ ?"

सद्दाल पुत्र अपनी पूर्व धारणा पर चोट लगते ही चौंका—नियति मे विश्वास करने वाला पुरुषार्थ को कैसे स्वीकार करे ? और बोला, "नही, नही प्रभु।"

फिर अपनी बात को बदलते हुए बोला, "यह सब नियति है। ऐसे ही निश्चित था। इसमे पुरुषार्थ और पराक्रम की क्या आवश्यकता है ?" भगवान प्रजापति को सम्बोधित करते हुए बोले—सद्दाल पुत्र ! किसी की नियति मे घट फोड़ना हो तब ?"

विचित्र प्रश्न से प्रजापति उदीप्त हो उठा और बोला—ऐसा मैं कैसे होने दूँगा। भन्ते !

भगवान—"प्रजापते ! अभी तो तुम कह रहे थे कि जो कुछ नियति मे निश्चित होता है वही होता है। तब प्रतिकार का पुरुषार्थ कैसे करोगे ? वह तो तुम्हारी दृष्टि मे व्यर्थ है।"

प्रजापति का मानस आन्दोलित हो उठा। वह महावीर वाणी की गहराई मे डुबकियाँ लेने लगा। सत्य के तेज आलोक मे अज्ञान तिमिर तिरोहित हो गया और वह सदा के लिए ज्ञानस्थ बन गया।

६७. वस्त्र (समन्वयवाद)

सद् असदादिक धर्म भी, एक वस्तु-गत सिद्ध।
उदाहरण है वस्त्र का, 'सन्त गणेश' प्रसिद्ध ॥

वस्त्र की दुकान पर किसी ने दुकानदार से पूछा—

यह वस्त्र सूत का है न ? दुकानदार ने उत्तर दिया—'हाँ', साहब सूत का है। दूसरे व्यक्ति ने आकर उसी वस्त्र के विषय मे पूछा—'क्यो साहब, ये वस्त्र रेशम का है न ? दुकानदार बोला—'नही ये रेशम के नहीं है। यहाँ कथित वस्त्र के लिए यह सूत का है, यह बात जितनी सत्य है, उतनी ही यह रेशम का नही है यह भी सत्य है। एक ही वस्त्र के विषय मे सूत की अपेक्षा से सत् अर्थात् है और रेशम की अपेक्षा से असत् अर्थात् नही का कथन किसको अखर सकता है ? स्याद्वाद भी तो यही कहता है। सत् है तो वह असत् कैसे हो सकता है। यह शका तो ठीक ऐसी ही है कि पुत्र है तो वह पिता कैसे हो सकता है। परन्तु वह अपने पिता का पुत्र है तो वह अपने पुत्र का पिता हो सकता है। इसमे कोई विरुद्धता नही आ सकती, क्योकि अपेक्षाएँ भिन्न है।

भिन्न-भिन्न अपेक्षाएं भिन्न-भिन्न जिज्ञासाओ के उत्तर से स्वय फलित होती है। एक वस्त्र विशेष के लिए पूछने वालो को हम उनकी जिज्ञासाओ के अनुसार ये भिन्न-भिन्न उत्तर दे सकते हैं।

१ यह वस्त्र रुई का है।
२. यह वस्त्र मिल का है।
३. यह वस्त्र नरेन्द्र का है।
४. यह वस्त्र पहनने का है।
५ यह वस्त्र पाँच रुपये का है।

अब बतलाइये यह वस्त्र किस-२ का समझा जाए ? किसी एक या पाच का। इन पाचो कथनो मे से कोई भी कथन ऐसा नहीं जिसे अप्रमाणित कहा जा सके। पाचो ही बातें भिन्न-२ अपेक्षाओ से उसी एक वस्त्र के विषय मे सत्य है। पाच ही क्यो ? दो गज का है। भारत का है। सन् १९५५ का है आदि और भी अनेक बातें उसके विषय मे कही जा सकती हैं। और सब की सब समान रूप से सत्य हो सकती है। इनमे से प्रत्येक वस्त्र सम्बन्धी कोई न कोई जानकारी देता है। एक वाक्य मे जो बात कही गई है। फिर भी इसमे परस्पर कोई विरोध नही है। विरोध इसलिए नही

है कि प्रत्येक की अपेक्षाएँ भिन्न हैं। वह वस्त्र उपादान कारण की अपेक्षा से रुई का तो सहकारी कारणों की अपेक्षा से मिल का, स्वामित्व की अपेक्षा से नरेन्द्र का, कार्य-क्षमता की अपेक्षा से पहनने का तथा मूल्य की दृष्टि से पांच रुपए का है। प्रश्न-कर्त्ताओं की ये जिज्ञासाएँ हैं— यह वस्त्र रुई का है या रेशम का है? मिल का है या हाथ का? नरेन्द्र का है या वीरेन्द्र का? पहनने का है या ओढने का? कितने मूल्य का है—उत्तर दाता को भिन्न-भिन्न उत्तर देने के लिए प्रेरित करती है। किसी की एक ही उत्तर से सारी जिज्ञासाएँ शान्त नहीं हो सकती।

९८. स्कन्दक सन्यासी [अनेकान्तवाद]

बिना अपेक्षावाद के, सही न मिलता ज्ञान।
बोध-प्रदायक है यहाँ, स्कन्दक का आख्यान॥

प्रभु महावीर अपनी सन्त मण्डली सहित कयगला नगरी मे पधारे। पास ही एक सावत्थी (श्रावस्ती) नामक नगरी थी। लोगो का आवागमन रहता था। वहाँ एक स्कन्दक नामक सन्यासी रहता था। वह प्रकाण्ड विद्वान था।। एक दिन पिंगल नामक एक निर्ग्रन्थ रास्ते मे उसे मिल गया। उसने उससे पूरे पांच प्रश्न किये। लोक सान्त है या अनन्त? जीव सान्त है या अनन्त?—सिद्ध सान्त है या अनन्त? वह कौन सी मौत है जिससे जन्म-मरण बढता है? संन्यासी तत्वदर्शी थे। पर एकाएक प्रश्नो का जवाब देते न बना। पिंगल ने दुबारा पूछा—प्रश्न तो आपने सुन लिए होंगे। वह समझ गया—जवाब नहीं दिया जा सकेगा। इज्जत नहीं लेनी है। पिंगल वापस लौट गया। वास्तव मे शास्त्रार्थ विचारो के आदान-प्रदान की भावना से किया जाना चाहिये। उसमे जय पराजय की भावना वाले शास्त्रार्थ तो मल्ल कुश्तियाँ हैं।

स्कन्दक को रात को नींद नहीं आती, दिन को भोजन अच्छा नहीं लगता। वह सोचता मेरे लिए शर्म की बात है, जवाब न दे सका। सारी पुस्तकें टटोली पर प्रश्नों का कोई जवाब नहीं मिला। आखिर एकदिन सुना— भगवान महावीर आए हुए हैं। वे त्रिकालज्ञ हैं—भूत, भविष्य और वर्तमान की बात को जानते हैं। अवश्य उनसे जवाब मिल जायेगा।

स्कन्दक भगवान महावीर के दर्शनो के लिए रवाना हुआ। गौतम, से भगवान बोले—आज तुमसे तुम्हारा पुराना मित्र मिलेगा।

गौतम—पुराना मित्र कौन?

भगवान—स्कन्दक।

गौतम—कब, क्यो और कहां मिलेगा?

भगवान—यहीं और अभी आ रहा है। उसके मन मे कुछ प्रश्न हैं। भगवान

गौतम स्कन्दक के सामने आये। "मुसागयं खन्दया!" इन शब्दो से उसका स्वागत किया गया जबकि स्कन्दक असयति थे। टीकाकार अभयदेव सूरि लिखते हैं, "गौतम वीतराग नही थे, सरागी थे।" छद्मस्थतावश असयति का स्वागत करने गए। उन्होंने स्कन्दक से कहा—"तुम क्यो आ रहे हो ? मैं बतलाऊं ? तुम्हारे मन मे ये प्रश्न हैं।"

स्कन्दक दग रह गया। क्या यह सब जानने वाला कोई व्यक्ति भी है ? उसने पूछा। गौतम ने भगवान् महावीर के दर्शन कराये। पहुँचते ही वह नतमस्तक हो गया। भगवान ने प्रश्नो का जवाब देते हुए फरमाया, "लोक सान्त भी है, अनन्त भी इसी तरह जीव सिद्ध आदि सान्त भी है अनन्त भी है। ऐसा मरण पण्डित मरण है, जो साधु बंधे हुए कर्मों को खपाता हुआ अनशन कर मरता है वह भव-भ्रमण को मिटाता है, घटाता है, अन्यथा भव-भ्रमण को बढाता है। यह है अनेकान्तवाद।

स्कन्दक वैराग्य भाव से भगवान का शिष्य बन गया और उसने साधुपन पालते हुए अपना कल्याण किया।

६९. हाथी और अन्धे [नयवाद]

एक दृष्टि से वस्तु का, पूर्ण न होता ज्ञान।
हाथी के दृष्टान्त से, समझाते विद्वान॥

सात आदमी एक हाथी को देखने के लिए गए। उनमे छ तो अन्धे थे और एक सूझता था। छहों मे एक ने तो हाथी की सूँड पकडी, दूसरे ने पूँछ पकडी, तीसरे ने उसके पैर टटोले चौथे ने उसके दात टटोले, पाचवें के हाथ मे कान आए और छठे ने उसके पेट पर हाथ फेरा। वे छहो आपस मे अलग-अलग एक-एक अग को पकडकर मन ही मन उक्त हाथी के आकार का निश्चय कर एक दूसरे से कहने लगे—

पहला—हाथी केले जैसा है।
दूसरा—हाथी बांस जैसा है।
तीसरा—हाथी खम्भे जैसा है।
चौथा—हाथी मूसल जैसा है।
पाचवा—छाज जैसा है।
छठा—पखाल जैसा है।

इस प्रकार अपने-अपने निर्णय को सच्चा ठहराने के लिए वे आपस मे झगडा करने लगे। एक कहने लगा—मैं जो कुछ कहता हूँ वह सत्य है, और तू जो कहता है, वह बिल्कुल गलत है। इस प्रकार उनको आपस मे झगडा करते देख सूझता

आदमी बोला—तुम आपस मे क्यो झगडते हो ? तुम सभी सच्चे हो और सभी झूठे भी। लो तुम्हे समझाता हूँ, हाथी के पैर खम्भे जैसे हैं, उसके दांत मूसल सरीखे हैं, उसका पेट पखाल जैसा है, इसलिए तुम सभी सच्चे हो परन्तु इस तरह एक-एक अग को लेकर झगडा मत करो। जब तक तुम इन सबको मिला कर नही देखोगे तब तक उसके रूप को नही जान सकोगे।

७० चित्र की सत्कथा [विवेक-सूत्र]

भले सत्यवादी बनो, पर न सत्य हो नग्न।
पढो चित्र की सत्कथा, होकर ध्यान निमग्न॥

हमारे व्यवहार की भूमिका यह है कि हम न अप्रिय सत्य बोले और न असत्य बोलें, किन्तु पाक्षिक सत्य बोलें। इस विषय मे मैं एक कहानी प्रस्तुत कर रहा हूँ। एक बार एक राजा ने जो कि काना था चित्रकारो को आमंत्रित किया। उसने कहा—मेरा चित्र सुन्दर होना चाहिए। एक लाख रुपये की घोषणा की। सबके सामने समस्या थी की शर्तों की पूर्ति कैसे हो ? तीन चित्रकारो ने चित्र बनाना स्वीकार किया। एक चित्रकार जब चित्र लेकर राजा के पास पहुँचा तो उसे देख राजा ने कहा—चित्र सुन्दर है, मुँह से बोल रहा है पर सत्य नही है, क्योकि इसमे दो आखें दिखाई गई हैं। दूसरे चित्रकार का चित्र देख राजा ने कहा—चित्र साक्षात् बोल रहा है, सुन्दर है, पर इसमे एक आख फूटी हुई दिखाई गई है, इसलिये यह नग्न सत्य है।

तीसरे ने तन्मयता से सोचकर चित्र बनाया। उसने कल्पना से दिखाया कि राजा शिकार के लिये प्रत्यचा ताने हुए है जिससे हाथ की ओट मे एक आख आ गई। राजा ने उसे देख कर प्रसन्नता व्यक्त की और उसे एक लाख रुपये दिये। तीसरा चित्र न असत्य था, न नग्न सत्य किन्तु पाक्षिक सत्य था।

कई लोग स्पष्ट कहने मे अपना गौरव मानते हैं। पर नग्न सत्य ग्राह्य नही होता। कई लोग दूसरे को प्रसन्न रखने के लिए असत्य का सहारा लेते हैं। वह उनके अहित के लिए होता है। पाक्षिक सत्य ग्राह्य भी होता है और हितकर भी।

७१ बाहुबली-[आत्म-निरीक्षण]

आत्म-निरीक्षण कर जरा, आँखे अपनी खोल।
देख किया क्या काम है, जीवन स्वय टटोल॥

प्रथम तीर्थंकर भगवान श्री ऋषभदेव जब प्रव्रजित हुए तब सारा राज्य अपने सौ पुत्रो मे बाँट दिया। भरत को अग्रज के नाते अयोध्या का बाहुबली को बाल्हीक देश का और अन्य अट्ठानवें को अन्य राज्य दिए गये।

राजा वाहुवली वडे ही कुशल, शक्तिशाली व न्याय-प्रिय थे। एक बार भरत ने वाहुवली को उसकी अधीनता स्वीकार करने का सदेश भेजा। सदेश को अस्वीकार करने पर दोनो मे घमासान युद्ध हुआ। अत मे विजय श्री वाहुवली को ही मिली। वाहुवली को उस विजय ने ससार से विरक्त कर दिया। वे युद्ध-भूमि मे राजमहल न जाकर भगवान ऋषभनाथ के श्रीचरणो मे उपस्थित होकर साधना की वात सोचने लगे। उन्हे एकाएक स्मरण आया कि उनके अट्ठानवे छोटे भाई भी पहले से ही दीक्षित हैं अतएव वहाँ जाने पर सभी के आगे नतमस्तक होना होगा। इसे अनावश्यक समझते हुए एक निर्जन अरण्य मे ध्यानस्थ खडे होकर तपस्या करने लगे।

ब्राह्मी और सुन्दरी दोनो साध्वियो ने वाहुवली के वारे मे भगवान से पूछा। एक अरण्य मे जहाँ वाहुवली ध्यानस्थ तपस्या कर रहे थे, वे पहुँच गयी। उन्होने नमस्कार किया और सगीत मे वोली—"वीरा ! म्हारा गज थकी उतरो।" यह जानी-पहचानी ध्वनि वाहुवली के कानो मे टकरायी। उनके अतरचक्षु खुल गए और उन्हें 'गजारूढ' के सम्वोधन की वात समझ मे आ गयी। उनकी वहन की उक्ति ने उन्हें सत्य के वास्तविक धरातल पर ला दिया। वे साधना मे अग्रणी होने के कारण अपने अट्ठानवे छोटे भाई को भी श्रद्धा का पात्र वनाया और उनके आगे भी नत-मस्तक हो गये। उन्होंने इस प्रकार अपने मे व्याप्त अह को तोड दिया। अह समाप्त होते ही तपस्या के प्रभाव से वे केवलज्ञानी वन गए। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि तपस्या, ध्यान व समाधि तव तक नि सार है जव तक कि हृदय विनम्र नही होता।

□

७२ जीवित कौन ? (आत्म-चिंतन)

जग मे जीवित कौन है, नृप का प्रश्न उदार।
'धर्म-परायण पुरुष' यह, गुरु का उत्तर सार॥

राजा शालीवाहन ने अपनी विशाल विद्वानो की राजसभा मे एक अद्भुत प्रश्न पूछा—"जीवित कौन है ?" प्रश्न सरल था पर टेढा भी। विभिन्न विद्वानो ने विभिन्न तरीके से इसकी अधूरी व्याख्या की। किसी ने कहा—ऐश्वर्यशाली ही वस्तुत जीवित होता है। धन के अभाव मे जीवन भी मृत्यु होती है।" किसी ने कहा—"कुरुप व्यक्ति को सभी घृणा की दृष्टि से देखते हैं। सौदर्य सम्पन्न व्यक्ति की ओर एक वार दृष्टि टिकने पर हटती ही नही, वास्तविक जीवन तो उसका है।"

राजा शालिवाहन एक भी उत्तर से सन्तुष्ट नही हुए। अन्त मे, राजसभा मे विराजित एक आचार्य ने कहा—"राजन् ! वस्तुत वही जीवित है, जो परमार्थ—

परायण है।" राजा आचार्य के उत्तर से सतुष्ट होकर उसकी विस्तृत व्याख्या करने का निवेदन किया।

आचार्यवर ने जवाव देते हुए कहा कि मैं एक वार जगल मे तपस्या कर रहा था तो मेरे एक शिष्य ने एक प्रश्न पूछा—'मानव श्रेष्ठ है, तथापि उसे पशु तुल्य क्यो कहा जाता है ?" मैंने कहा सदाचार या सदविवेक ही मनुष्य और पशु मे अतर करते हैं। किन्तु मनुष्य जब इन्हें छोड देता है, तब वह पशुतुल्य कहा जाता है।"

शिष्य मेरे समाधान से सतुष्ट होकर आसन पर चला गया। कुछ समय वाद पशुओ का एक शिष्ट-मडल अपनी करुण गाथा सुनाने आया। उन्होंने कहा कि हम लोग अपने जीवन पर्यन्त भी विभिन्न प्रकार से भार ढोने के रूप मे, अमूल्य दूध के रूप मे और चमडे के द्वारा समाज की सेवा करते हैं। फिर भी हमारी तुलना निपट स्वार्थी मनुष्य के साथ कैसे की ? हमारे प्रतिवेदन पर विचार करे।

आचार्यवर ने चिन्तन आरभ किया और निर्णय पर पहुँचे कि "मनुष्य पशु के समान नही, वृक्ष के समान निरुपयोगी है।" पशु तो यह सुन कर खुशी से झूमते हुए चले गये पर वृक्ष क्रुद्ध होकर पूछने लगे, भगवन् ! आपने यह क्या निर्णय दिया ? उन्हों अपनी उपयोगिता मीठे फल, फूल, ठडी, छाव व नाना प्रकार की औषधियो के रूप मे दी और मनुष्य को अकर्मण्य प्राणी वताया।

राजन् ! मैं स्तव्ध था। मनुष्य की समानता मे कोई आना नही चाहता था। मैंने अपना निर्णय वदला और कहा—निरुपयोगी मनुष्य तो कुत्ते जैसा है। कुछ ही समय वाद जव कुत्ते को मेरा निर्णय मालूम हुआ, वह भी दु खित होकर मेरे पास आया। उसने पुकार की—"भगवन ! आप समदर्शी महात्मा है। स्वार्थी एव कृतघ्न मनुष्य के साथ मेरी तुलना कर आपने मुझे क्यो दु खित किया ! मनुष्य तो जिसका नमक खाता है, उसी को धोखा देता है। मैं स्वामी की दिन-रात रक्षा करता हूँ। मेरा मालिक सोता है, मैं जागता हूँ। मैं पूर्णत वफादार हूँ। जिन अपराधो का पता लगाने मे मनुष्य असफल रहता है, मैं सुगमता से उसको खोज निकालता हूँ। रूखा-सूखा व वचा-खुचा जो भी भोजन मिल जाता है, खा कर मैं संतुष्ट रहता हूँ। आप अपने अभिमत को वदल कर सकट मुक्त करें।"

विस्तृत प्रतिपादन का उपसहार करते हुए आचार्यवर ने कहा—मनुष्य के लिए प्रसिद्ध है कि वह स्वार्थी, कृतघ्न, अकर्मण्य, तथा विश्वासघाती है। जव तक वह इन दुर्गुणो से नही हटता है, तव तक वह निकृष्ट व अधम रहता है, मृतप्राय रहता है। जव मनुष्य परमार्थ-परायण होता है, वह वास्तविकता मे जीवित रहता है।



७३ चित्रकार का पुत्र (उन्नति)

हितकारी होता नही, उन्नति का अभिमान ।
चित्रकार के पुत्र का, शिक्षाप्रद आख्यान ।।

एक गांव मे एक निपुण एवं सिद्धहस्त चित्रकार था। उसके आकर्षण एव मनोरम चित्रो को देखकर सभी अचभित थे। निपुण चित्रकार पिता ने अपने हस्तकला गुण से अपने प्रिय पुत्र महेश को भी निपुण किया। कुछ ही दिनो मे महेश भी अपने दिमाग रे सुन्दर चित्र बनाकर पिताजी के सामने रखना आरम्भ कर दिया। पिताजी प्रत्येक चित्रो को देखकर उनमे कोई न कोई त्रुटि बता देते। महेश निरतर उस दोप को दूर कर चित्र बनाने की कोशिस करता, फिर भी कोई भूल पिताजी निकाल देते।

एक बार महेश ने अति परिश्रम कर एक सुकुमार बालक का सजीव-सा अनुपम चित्र बनाया। मनमोहक चित्र की छटा देखते ही बनती थी। किन्तु महेश द्वारा पिताजी के समक्ष चित्र को रखने पर उस चित्र की भी प्रशसा पिता ने नही की। उसमे भी कुछ टेढापन बताकर पिता ने पुत्र को अगला दूसरा चित्र सुन्दर बनाने की सलाह दी।

कुछ दिनो बाद महेश ने फिर एक सुन्दर चित्र बनाकर स्वयं न जाकर अपने मित्र रमेश को पिताजी के पास दिखाने भेजा। उस अनूठे चित्र को देखकर चित्रकार पिता अवाक् रह गया और बोला, "क्या इस दुनियां मे ऐसा मोहक चित्र बनाने वाला अभी कोई है ?" महेश अपनी प्रशसा सुनकर अहकारपूर्वक बोला, "इस चित्र को बनाने वाला मैं हूँ आपका पुत्र महेश।"

चित्र को फेंकते हुए पिता ने कहा,—"पुत्र ! आज से तेरा विकास-द्वार बन्द हो गया है क्योकि तेरे मन मे अहकार रूपी चोर घुस गया है। तू अपने आपको पूर्ण समझने लग गया है।" इस प्रकार हम देखते हैं कि अहकार मे उन्नति का द्वार बन्द हो जाता है।

□

७४. मुरली के तीन गुण (गुण)

गुण की पूजा जगत मे, होती है हर स्थान ।
मुरली का श्री कृष्ण ने, किया अधिक सम्मान ।।

यमुना नदी के तट पर एक दिन श्रीकृष्ण मुरली की मधुर तान बिखेर रहे थे। सोलह शृंगार सजकर गोपियां कृष्ण को मोहित करने आयी। किन्तु मुरली की मधुर आवाज ने उन्हे ही मोह लिया। गोपियां ईर्ष्या से लाल हो गयी और मुरली

को निर्वस्त्रा नारी, पोली व काली-कलूटी वताकर कृष्ण के समक्ष अपनी सुन्दरता का गुणगान करने लगी। श्री कृष्ण फिर भी नही रीझे, उन्होने प्रियतमा मुरली को तीन गुणो से सुसज्जित करते हुए कहा कि, "मुरली का पहला गुण है कि यह विना वोलाए नही वोलती। ससार मे विना वतलाये नही वोलना सवसे वडा गुण है।" मुरली मे दूसरा गुण यह है कि जव भी वोलेगी मधुर वोलेगी। सारे जग को वश मे करने के लिए यह महामन्त्र है। मुरली का तीसरा अपूर्व गुण 'सरलता' का है। जिसके हृदय मे गाँठ होती है, दाव-पेच होते हैं, वह कभी भी उच्चपद को प्राप्त नही कर मकता।

श्री कृष्ण भगवान द्वारा मुरली के तीनो अभूत पूर्व गुणो को सुनकर गोपियाँ निरुत्तर हो गयी। उन्होने श्री कृष्ण भगवान के आगे अपनी भूल स्वीकार कर वोली, "नाथ! आपने हमे सच्चा ज्ञान दिया। हम मुरली के गुण से अनभिज्ञ थी। वस्तुतः प्रत्येक की गुणो से पूजा होती है।"

मनुष्य को गुणग्राही वनना चाहिए। दूसरो के गुणो को देखकर जलना दुर्वलता है।

□

७५. मधु की एक बूँद (कषाय)

नही देखते मूल को, होता तभी विवाद।
एक वूँद मधु की वनी, झगडे की वुनियाद॥

एक व्यक्ति मधु से भरा एक घट लेकर कही जा रहा था। सहसा एक वूँद भूमि पर गिर पड़ी। एक मक्खी आकर उस पर वैठ गयी। मक्खी को गिलहरी ने देखा। वह उस पर झपटी। गिलहरी पर विल्ली ने धावा वोल दिया। विल्ली पर कुत्ता दौड आया। इतने मे एक कुत्ता और आ गया। विल्ली एक थी और कुत्ते दो। वे दोनो कुत्ते परस्पर लड़ने लगे। दोनों कुत्तो के मालिको ने इस घटना को देखा। अपने-अपने कुत्ते को वचाने के लिए उन्होने दूसरे कुत्ते को पीटना चाहा। दोनो ही कुत्तो को छोड़कर परस्पर लड़ने लगे। एक-दूसरे पर प्रहार होने लगा। अडोसी-पडोसी भी आ गए। ज्ञाति-जन भी अस्त्र-शस्त्र लेकर पहुँच गए। परस्पर भयकर युद्ध मचा। कई मृत्यु के घाट पर पहुँच गये। दोनो ने अपने-अपने मित्र राजा को सेना सहित वुला लिया। युद्ध का अच्छा रूप वन गया।

जव कुछ महीने व्यतीत होने पर एक अनुभवी व्यक्ति ने उनसे पूछा—"आखिर यह तो वताओ, यह युद्ध क्यो लडा जा रहा है।"

सवने एक स्वर से कहा कि हम तो लड रहे हैं मूल मे क्या है? हमारे से अज्ञात है। तत्काल छानवीन होते ही मूल का पता लगते ही सव पश्चात्ताप करते हुए वोले—मानव के रक्त से भी क्या मधु की एक वूँद अधिक मूल्यवान थी जिसके लिए

कितना भयकर नर-सहार हुआ । किन्तु अव क्या ? जव वास्तविकता का पता लगता है तव पश्चात्ताप के अतिरिक्त उसके पास कोई चारा भी नही रहता ।

□

७६ आर्द्रकुमार (राग)

राग-भाव छूटे विना, कव होता उद्धार।
संयम तज कर घर रहे, मुनिवर आर्द्रकुमार ।।

एक वार आर्द्रक मुनि विहार करते-करते वे वसन्तपुर पहुँचे और नगर के वाहर एक स्थान मे ठहरे और ध्यानावस्थित हो गए ।

वसन्तपुर मे देवदत्त नामक सेठ रहता था । उसकी पुत्री का नाम श्रीमती था । वह वडी सुन्दर थी । वह अन्य वालाओ के साथ क्रीडा करती-करती उसी स्थान मे पहुँची, जहाँ मुनि ठहरे हुए थे । सव वालाएँ खेलने लगी । खेल शुरू करने से पूर्व वालाओ ने आपस मे तय किया—सव अपना-अपना मन चाहा वर कर लें । वालाओ ने एक-दूसरे को वर के रूप मे चुन लिया । श्रीमती वोली, 'मैं तो इन ध्यानस्थ मुनि को ही वर के रूप मे चुनती हूँ ।" इधर देवदत्त श्रीमती की सगाई की चेष्टा करने लगा । श्रीमती वोली—'मैंने खेल मे एक मुनि को पति रूप मे चुना था । मेरे पति वे ही होगे ।'

एक दिन मुनि गोचरी पधारे । श्रीमती ने उन्हें पहचान लिया और वोली—"यही वे मुनि हैं, जिन्हे खेल मे मैंने वर रूप चुना था ।"

सेठ ने श्रीमती के प्रण की वात कही और अपनी पुत्री से विवाह करने का अनुरोध किया । मुनि आर्द्रक दिङ्मूढ हो गए । मोह का स्रोत वह चला । उन्होंने विवाह करना स्वीकार किया । केवल एक शर्त रखी : "एक पुत्र होने के वाद घर मे नहीं रहूँगा ।" सेठ तथा श्रीमती ने शर्त स्वीकार की । आर्द्रक और श्रीमती का विवाह हो गया । काल पाकर श्रीमती के पुत्र उत्पन्न हुआ ।

आर्द्रक जाने के लिए तैयार हुए । आखिर श्रीमती को एक उपाय सूझा । एक चर्खा लेकर वह कातने वैठ गई । पुत्र ने पूछा—"माँ ! यह क्या करती हो ?" श्रीमती वोली, पुत्र ! तुम्हारे पिता हम दोनो को छोड़कर जाना चाहते है ! तू अभी छोटा है । कमाने लायक अभी नही हुआ । अत मैं यह उद्यम सीख रही हूँ, जिससे भविष्य मे तुम्हारा पोषण कर सकूँ ।"

यह सुनकर वालक ने माता के काते हुए सूत की गुडी हाथ मे ले ली और पिता के पास पहुँच उस कच्चे सूत से उनके आटे देने लगा । यह देखकर आर्द्रक हँसने लगा और वोला—तू यह क्या कर रहा है ?" वालक वोला, "आप हम लोगो को छोडकर जाना चाहते हैं । मैंने आपको वाँध लिया है । देखें अव आप कैसे जाते हैं ?"

आर्द्रक गम्भीर हो गए । उन्होंने वांधे हुए सूत्र के धागे गिने और वालक से वोले, "तुमने जितने आटे दिए हैं, उतने वर्ष और तुम्हारे साथ रहूँगा ।"

७७. अभीचकुमार (द्वेष)

द्वेष भाव से नर करे, अपना अहित अपार।
हुआ विराधक क्या नही, श्राद्ध अभीचकुमार॥

उदाई राजा ने अपने पुत्र अभीचकुमार को राज्य न देकर भाणेज केशीकुमार को राज्य दे दिया। उसने भगवान महावीर के चरणो मे दीक्षा ग्रहण कर ली। अभीचकुमार समस्या मे पड गया। केशीकुमार के राज्य मे रहना उचित न समझ कर वह अपने परिवार को साथ लेकर चम्पापुरी के राजा कोणिक के पास रहने लग गया, जो कि मौसी का लड़का था।

जब उसे अपने राज्य की स्मृति हुई तब उसका मन दु ख से भर गया। राजा उदाई के प्रति द्वेष की भावना उभर आई। वह सामायिक, पौषध व प्रतिक्रमण भी करता था। बारह व्रतधारी श्रावक होने पर भी वह उदाई से क्षमा याचना नही करता था। द्वेष दिनो-दिन बढता ही गया। अन्तिम समय मे उसने पन्द्रह दिन का सथारा भी किया किन्तु आत्मा मे एक अकल्पनीय शल्य रहने से वह अपना आयु पूर्ण कर असुर देव योनि मे उत्पन्न हो गया। शुद्ध रूप से श्रावक के व्रतो का पालन करने वाला व्यक्ति वैमानिक देव होता है। किन्तु वह विराधक हो जाने से उसको असुर कुमार मे जाना पड़ा।



७८. क्रोध चण्डाल (क्रोध)

क्रोध दशा मे बन गए, मुनिवर तुम चडाल।
कैसे मैं सेवा करूँ, सुर बोला तत्काल॥

एक तपस्वी मुनि थे। वे एक-एक महीने का निराहार उपवास किया करते थे। उनके घोर तप के प्रभाव से प्रभावित होकर एक देवता हमेशा उनकी सेवा मे रहा करता था। मुनि गोचरी-पचमी जहाँ भी कही जाते थे, वह साथ ही रहता था।

एक दिन मुनिराज नीचे देखते हुए धीरे-धीरे भिक्षा के लिए जा रहे थे। अचानक सामने से एक धोबी आया जिसके सिर पर कपडो की गठरी थी। एक-दूसरे को नही देखने के कारण मुनि और रजक आपस मे टकरा गए। गठरी का धक्का लगने से मुनि नीचे गिर गए। शरीर से गिरे सो गिरे किन्तु साधुत्व से भी गिर गए। मुनि शीघ्र उठे। धोबी को गालियाँ देने लगे—"अरे! पागल ऐसे कैसे चल रहा है? क्या तेरी आँखें फूट गई? अधा कही का।" बस ये अपशब्द सुनते ही धोबी के क्रोध का पार ही नहीं रहा। शीघ्र गठरी एक तरफ रख उसने मुनि पर धावा बोल दिया।

मुनि भी क्रुद्ध होकर उसका सामना करने लगे। धोबी बलिष्ठ था। उसने शीघ्र मुनि को पछाड दिया और मुनि के ऊपर जा बैठा। मुनि की अच्छी तरह से पूजा करके धोबी अपने घर के लिए रवाना हो गया।

मुनि का गुस्सा शात हुआ। आँखें खुली। अपने आपका भान होते ही पश्चात्ताप करने लगे, "हाय ! मैंने बहुत बडा अकृत्य किया। अपने आपको धिक्कारते हुए आगे चले। इतने मे देव आया। मुनि को नमस्कार किया। मुनि बोले, "देवानुप्रिय ! इतनी देर कहाँ गए थे।" देव—"महाराज ! मैं तो आपकी सेवा मे लगा रहता हूँ। आपको छोडकर मैं कहाँ जा सकता हूँ। मैंने मार्ग मे दो मनुष्यो को लडते तो देखा था और उनको देखने के लिए मैं वहाँ ठहरा था कि उन दोनो मे से चण्डाल कौन है ?"

मुनि—"उनमे से एक मैं था और दूसरा धोबी था। उसने मुझे पीटा।"

देव—"आपको कौन पीट सकता है, वह तो चडाल था क्योकि आपके घट मे क्रोध था।"

□

७६. दंतिल (मान)

तुच्छ समझ कर मत करो, औरो का अपमान।
दन्तिल ने करवा दिया, मत्री को यह ज्ञान॥

दतिल एक स्वाभिमानी हरिजन युवक था। राजमहल व प्रधानमन्त्री आवास के शौचालय की सफाई करना उसके जिम्मे था। प्रतिदिन निश्चित समय पर वह पहुँच जाया करता था। प्रधानमन्त्री के पुत्र की शादी का समय आया। विभिन्न प्रकार की तैयारियाँ होने लगी। प्रति दिवसीय कार्य के साथ दतिल झूठी पत्तलें व इधर-उधर बिखरे हुए जूठन को उठाने मे सक्रिय था।

मत्री के भवन मे उन्ही दिनो वरिष्ठ सरकारी अधिकारियो का भोजन हो रहा था। अचानक दतिल वहाँ पहुँच गया। उसे देखते ही मत्री तिरस्कृत भाषा मे बोलते हुए कहा, "अरे अछूत ! अन्दर क्यो आया ? यहाँ उच्च स्तर के व्यक्तियो का भोजन हो रहा है। पागल कही का निकल यहाँ से।" ये शब्द दतिल के वक्षस्थल पर तीर की तरह चुभ गये। स्वाभिमान जागा। घर आया। सो गया। नीद नही आयी। दूसरे दिन प्रात राजमहल मे पहुँचा। थोडी-बहुत सफाई करके राजमहलो के नीचे बैठ गया। उसकी श्रीमती भी वहाँ पहुँच गई। पारस्परिक बातो के दौरान उसने अपनी श्रीमती से कहा, "राजा मूर्ख है, पागल है। प्रधानमंत्री ने कितना भयकर जाल रचा है। राजा की हत्या करके अपने पुत्र को राज्य देना चाहता है। इसलिए समस्त

सरकारी अधिकारियो पर अपना प्रभाव जमाने की दृष्टि से यह सब (भोजनादि) कार्य कर रहा है।"

श्रीमती ने कहा, "पतिदेव ! आप ऐसे कैसे बोल रहे हैं ? राजा बड़ा नीतिवान है। न्यायी है।" दतिल ने कहा, न्यायी है, पर वृद्ध है। ऐसा आराम में भूल रहा है। उसे पता ही नही कि राज्य मे क्या हो रहा है ?

इन दोनो का सवाद राजा ऊपर गवाक्ष मे बैठा-बैठा सुन ही रहा था। क्रोध उबलने लगा। मन ही मन चिंतन चला। सत्य की परीक्षा हेतु अपने निकटतम गुप्तचरो को बुलाकर निर्देश दिया—जल्दी से जल्दी जाँच-पड़ताल करो कि स्थिति क्या है।

गुप्तचर प्रधानमत्री के घर पहुँचे। सारी स्थिति का अध्ययन किया। वापिस लौटे।। राजा को विनम्र शब्दो मे कहा, "राजन् ! बात बिलकुल यथार्थ है। षड्यन्त्र भी अक्षम्य है।" राजा का निर्देश मिलते ही प्रधानमत्री को बन्दी बनाकर कारागृह मे डाल दिया। पुत्र की शादी बीच मे ही लटकी रह गई।

प्रधानमत्री के मस्तिष्क मे विभिन्न प्रकार की कल्पनाएँ दौडने लगी ? यह स्थिति कैसे बनी ? मैंने किसी के भी साथ दुर्व्यवहार नही किया। आखिर दतिल को दी गयी डाट उसे याद आ गयी। उसके अपमान से ही मुझे कारागृह का पथिक बनना पडा। प्रधानमंत्री ने अपने पुत्र को बुलाकर समग्र घटना-चक्र की अवगति दी। पिताजी के आदेश से विविध पकवानो के थाल भरकर दतिल के घर पहुँचा। दतिल ने मत्री के पुत्र का स्वागत करते हुए कहा, "मेरे जैसे तुच्छ के घर आप कैसे पधारे।"

मत्री का पुत्र कुछ सटपटाता हुआ बोला, "दतिल ! अपना तो आत्मीय सम्बन्ध है। विवाह के उपलक्ष मे सबको मिठाइयाँ बाँटी गयी। तेरे घर मैं स्वय मिठाई देने आया हूँ।"

उसके मधुर व्यवहार से दतिल पानी-पानी हो गया। तनाव व वैमनस्य प्रसन्नता मे परिणत हो गया। हाथ जोडकर बोला—"फरमाइये मेरे योग्य कोई कार्य।"

आँखो से आँसू बहाता हुआ करुण स्वर से वह बोला—"सबसे बडी सेवा यही है कि तुम अपना जाल समेटो।" दतिल का दिल पिघल गया और वह बोला, "घर जाओ, सुख की नीद लो। कल दोपहर मे प्रधानमत्री को आप अपने घर पर देखोगे।"

दूसरे दिन प्रात. दतिल अपनी पत्नी के साथ सफाई हेतु राजमहलों मे पहुँचा। कुछ काम करके उसी जगह बैठ गया। बातें करने लगा। राजा भी ऊपर बैठा-बैठा उनकी बातें ध्यान से सुनने लगा। दतिल ने श्रीमती से कहा, राजा तो कानों के कच्चे होते हैं। उनमे स्वय का चिंतन नही होता। मत्री को राजा ने

वदी वना डाला यह कोई वुद्धिमत्ता नही है। मत्री हर दृष्टि से वडा योग्य था। उसने सारा जीवन ही राज्य सेवा मे समर्पित कर दिया था। आज उसे यह पुरस्कार? धिक्कार है नृप को।

श्रीमती ने कहा—कल तो आप मत्री की निन्दा कर रहे थे और आज राजा की निन्दा कर रहे हैं। यह निन्दा की आदत अच्छी नही है।

दतिल वोला—मत्री के विरुद्ध मैंने कल कुछ भी नही कहा। उसने कल की सारी घटना याद दिलायी। दतिल उच्च स्वर से वोल उठा, तू झूठ वोल रही है। मैं कभी नही कह सकता कि मत्री राजा की हत्या हेतु षड्यन्त्र रच रहा है। वह तो अपने पुत्र की शादी के लिए विविध तैयारियां कर रहा था।

राजा भी ये सव वातें सुनकर उलझन मे पड गया। महतरानी भी विषम समस्या मे झूलने लगी। चौवीस घण्टो मे वात का इतना अन्तर क्यो?

दतिल ने उत्तर देते हुए कहा, "कल तो मैंने वोतल अधिक चढा ली थी। उस नशे मे सम्भव है कुछ अनर्गल निकल गया हो। किन्तु प्रधानमत्री तो वडे सज्जन व्यक्ति हैं। राज्य व प्रजा के लिए वडे हितचिंतक हैं। न्यायी हैं।

नृप के विचारो मे परिवर्तन आया। दूसरे के कहने से मैंने अनर्थ कर डाला। महलो से उसी समय दौडा और अपने हाथो से मत्री को मुक्त किया। पुन-पुन उससे क्षमा याचना की। ससम्मान उसे घर पहुँचाया गया।

दतिल को जव यह सवाद मिला तो उसके हृदय से अव्यक्त ध्वनि सी निकली। छोटे मे भी कुछ करामात होती है। जिसे उपेक्षणीय समझा जाता है वह भी सृष्टि का महत्त्वपूर्ण सदस्य होता है।

८०. महावल (माया)

माया छाया पाप की, माया शल्य महान्,
सन्त महावल का यहाँ, है आख्यान् प्रमाण।

महावल राजा वडा ही प्रतापी व धर्म-परायण था। उन्होने वरधर्म मुनि के पास अपने अचल, धरण, पूरण, वसु वैष्णव व अभिचन्द्र इन छह मित्रो के साथ प्रव्रज्या ग्रहण की। सातो ने मिल कर यह प्रतिज्ञा ली कि हम सव एक समान ही तप किया करेंगे। अनन्तर महावल ने सोचा, सातो मे मैं वड़ा हूँ, यदि समान ही तपश्चरण किया गया तो मैं वड़ा नही रह सकूंगा। किसी भी प्रकार मेरा तप सर्वाधिक रहना चाहिए।

सातो ही मुनि घोर तपस्या का अनुष्ठान करने लगे। जिस दिन पारणा होता, महावल मुनि उदरव्याधि का या अन्य व्याधि वता कर तप को कपटपूर्वक

लम्बा कर लेते। जब छहो साधु उनसे कहते आपने हमे पहल क्यो नही कहा ? हम भी पारणा नही करते तो वे उत्तर देते, अभी, ही विचार बदला है। इस प्रकार घोर तपश्चरण करके भी छल-कपट नही छोडा। तपस्या के अनुष्ठान मे कपट का साहचर्य होने से महाबल ने स्त्रीवेद कर्म बाँध लिए।

□

८१. परिग्रहोऽनर्थमूल कारणम्—(लोभ)

क्या-क्या करता है नही, लोभी अत्याचार।
मा के प्राणो का किया, बेटी ने सहार ॥

दो भाई अपार धन-राशि कमा कर अपने घर लौट रहे थे। रास्ते मे उन्होने नौका पर बैठ कर नदी को पार किया। छोटा भाई नीद मे पड गया और बडा भाई जाग रहा था। एकाएक बडे भाई के मन मे विचार आया कि घर जाते ही धन का बँटवारा हो जाएगा, मेरे हिस्से मे आधा ही धन आएगा। क्या ही अच्छा हो कि भाई की हत्या करके पूरे धन पर आधिपत्य कर लूँ। फिर विचारो ने करवट लिया और उसका हृदय भ्रातृ-प्रेम से उमड गया। उसे ऐसे धन से घृणा हो गयी और उसने धन की थैली को नदी मे डाल दिया। छोटे भाई के पूछे जाने पर बडे भाई ने इसे 'भ्रातृ-प्रेम की धन पर विजय' बताया। दोनो भाई धन खो कर भी भ्रातृत्व प्रेम जीवित रह जाने के कारण खुश थे।

जब वे घर पहुँचे तो सभी ने खुशी मनायी। बहन ने भाइयो के लिए मछली का भोजन बनाने के लिए मछली को चीरा कि एक मछली के पेट से वही धन की थैली निकल गयी। ज्योही धन के थैली की आवाज अधी मा के कानो मे टकरायी, मा ने पूछा—पैसे की आवाज कैसे आयी ? बेटी ने सारे रुपये हजम करने की लालसा से माँ के सिर पर मूसल का घातक प्रहार किया। मा एकाएक चिल्लायी और शात हो गयी। मा की दर्द भरी चीख से सभी लोग दौड़ कर मां को देखने आये। मा हमेशा के लिए शात-मुद्रा मे सो गयी। भाइयो ने बहन से धन की थैली, जिसमे उनके हस्ताक्षर निहित थे, यह कहते हुए 'परिग्रहोनर्थमूल कारणम्' ले ली। वहाँ अनर्थ से यदि दोनो भाई बच गये तो घर आने पर हो गया।

□

८२ रंक कौन ? (आशा)

जिसके तृष्णा है अधिक, वह है रक महान्।
योगी ने करवा दिया, राजा को यह ज्ञान ॥

एक निर्लोभी योगी था। सभी क्षेत्रो मे उसका अच्छा प्रभाव था। एक दिन

एक धनाढ्य ने योगी के चरणो मे सोने की एक मोहर चढाई। योगी ने चेले को कहा, चेला ! यह मोहर अपने को नही चाहिए। तुम जाओ किसी भिखारी को दे आओ। चेला चला। वह इधर-उधर भिखारी की खोज कर रहा था इतने मे हजारो सैनिको से सयुत राजा आता हुआ दिखाई दिया। किसी व्यक्ति से ज्ञात हुआ कि राजा किसी शत्रु का राज्य छीनने जा रहा है।

चेले ने सोचा—यह राजा इतना सपत्तिशाली है, फिर भी इसकी तृष्णा शात नहीं हुई। वास्तव मे यह सच्चा भिखारी है। ज्यो ही राजा की सवारी निकट आई चेले ने उसके रथ पर मोहर फेंक दी। राजा ने पूछा—भाई ! मोहर मेरे रथ मे क्यो डाली ? चेला बोला—राजन् ! गुरुदेव ने आदेश फरमाया कि था किसी भिखारी को यह मोहर दे आओ। राजा क्रुद्ध होकर बोला—अरे मूर्ख ! क्या तूने मुझे भिखारी समझा है ? कहाँ है तेरा गुरु ऐसी शिक्षा देने वाला ? राजा योगी के पास पहुँचा और बोला—ऐसे मूर्ख चेले को क्यो मूड रखा है ? इसने मुझे भिखारी समझा है।

समता सागर मे झूलता हुआ योगी बोला—राजन् ! अभी तुम्हारे राज्य मे कितनी आय है ? राजा बोला—अच्छी तरह तो मुझे याद नही, किन्तु सात करोड की अवश्य है।

योगी ने कहा—राजन् ! इतनी आय होते हुए भी तुम्हारी तृष्णा शात नही हुई। भिखारियों की भाति भटकते रहते हो। दूसरो के राज्यो को अपने अधीन करने की लालसा रखते हो ? फिर भी तुम भिखारी नही हो ? योगी की रहस्य भरी वाणी सुनते ही राजा का क्रोध शात हो गया और करबद्ध बोला—महात्मन् ! मैं सच्चा भिखारी हूँ। क्योकि मेरे हृदय मे तृष्णा का पार नही है। आज आपने ज्ञान की लौ जलादी। धन्य है आपकी बुद्धि को।

□

८३ रूपीराय (काम)

होता है ससर्ग से, पैदा काम-विकार।
घटना रूपीराय की, शिक्षाप्रद साकार॥

वसत नागपुर का राजा रूपीराय के नाम से प्रसिद्ध था। उसकी अवस्था लगभग बीस साल की थी। एक दिन उसने एक सेठ के लडके को अकेले मे आमन्त्रित किया। वह आया। रूपीराय ने कहा—मित्रवर ! कोई पूर्व जन्म के सस्कार हैं, मन चाहता है कि मैं तुम्हारे मे और तुम मेरे मे समा जाओ आज मैं तुझे दिल की प्रच्छन्न बात सुना रहा हूँ। जब मैं गर्भ मे था, तब मेरे पिताजी का देहात हो गया। मेरा जब जन्म हुआ, सबकी आशाएँ धूमिल हो गई। राजकुमार की आवश्यकता पर राज-

कुमारी का जन्म हुआ। प्रधानमन्त्री ने अपनी कुशाग्रबुद्धि से शहर मे प्रसिद्ध कर दिया कि राजकुमार का जन्म हुआ है। मुझे गुप्त रखा गया। कुछ वर्ष पूर्व मेरा राज्याभिषेक भी कर दिया गया। अवस्था के साथ-साथ क्रमश: नारीत्व भी उभर आया। मन्त्री भी चिंताग्रस्त बना। मैंने जब तुम्हें देखा तो दिल मे अनुराग जागृत हुआ। अब मेरी आकाक्षा की पूर्ति आपको करनी पड़ेगी।

सेठ के लड़के ने सोचा, क्या करूँ। मेरी शादी अभी-२ हुई है दूसरी शादी करना महान् अन्याय है। अब यहां से छुटकारा कैसे मिले? चिंतन करते-करते आखिर उसने देह चिंता की निवृत्ति हेतु, अनुमति मागी। अनुमति मिलते ही वह वहाँ से शीघ्र चल पड़ा। कुछ ही समय के पश्चात् वह मुनियो के पास पहुँचा, और साधुत्व ग्रहण कर लिया।

रूपीराय कुछ समय तक प्रतीक्षा करती रही, आखिर गुप्तचरो को भेज कर उसकी खोज करवायी। पता चलते ही राजा को सूचना दी गई कि वह मुनियो के पास साधना मे लीन है। यह सुनते ही वह उद्विग्न हो गया। वह उसी समय महलों से नीचे उतरी और नव दीक्षित मुनि के पास पहुँची, हाव-भाव करने लगी। किंतु मुनि बिल्कुल भी विचलित नही हुए। तब वह साध्वी समुदाय मे रहने लगी और प्रतिदिन उस मुनि के पास अध्ययन करती। वह भी उसे भगिनी बुद्धि से पढाता। नैरन्तरिक संपर्क से एक दिन उसका अनुराग मुनि पर भी छा गया। दोनो की एक दूसरे के प्रति आसक्ति बढती गई। जीवन भर साधुत्व के नाना कष्टो को सहन करते रहे। पर स्नेह राग ने एक-दूसरे को विराधक बना दिया।

अनेक जन्मान्तरो के बाद मुनि (सेठ का लड़का) ईलापुत्र बना और रूपीराय नट के घर कन्या। इस जन्म में भी दोनों मे अनुराग बढा। और अन्ततः अनुराग पर विराग की विजय हुई। अन्ततोगत्वा ईलापुत्र सिद्ध हो गये।

☐

८४. मणिशेखर (विजय)

सत्यनिष्ठ नर की विजय, होती है साक्षात्।
मणिशेखर को मिल गया, मन्त्री पद अवदात ॥

मणिशेखर एक विश्वस्त सेठ का पुत्र था। बाल्यावस्था से ही कुसंगति के कारण मणिशेखर चोरिया करने लगे। इससे सेठ बहुत दुःखी था। ज्ञानी संतो के आगमन पर सेठ ने अपने पुत्र के दुर्गुणो को मुनिराज के समक्ष रख दिया। मुनि ने अवसर देखकर मणिशेखर को उपदेश देते हुए कहा—"पर-धन धूलि समान" चोरी करना महापाप है।"

बहुत समझाने पर मणिशेखर ने कहा, "महाराज! मैं आदत से लाचार हूँ।

चोरी तो करूंगा पर झूठ नही बोलूंगा ।" यह प्रतिज्ञा ग्रहण करने के बाद मणिशेखर दिन मे कारोबार करता और रात को चोरी चोरी का आतक सारे नगर मे फैल गया। आखिर एक दिन अर्ध-रात्रि को राजा अपने वेश बदल कर गश्त लगा रहे थे कि रास्ते मे मणिशेखर चोर से मुलाकात हो गई। राजा व सरक्षको के पूछने पर उसने अपना सत्यतापूर्वक जवाब दिया कि "मै मणिशेखर चोर हूँ और राजमहल मे चोरी के लिए जा रहा हूँ।"

राजा ने उसे पागल, शरावी समझ कर छोड दिया। मणिशेखर ने राज-भडार के ताले तोड़ कर एक डिब्बी से चार रत्नो की चोरी की और वहाँ से घर के लिए रवाना हो गया। रास्ते मे उससे राजा व सरक्षको मे मुलाकात हो गयी। राजा ने उसका नाम व पूरा पता लेकर छोड़ दिया।

सुवह होते ही भडार के टूटे तालो को देख कर मत्री को आश्चर्य हुआ। आखिर सब कुछ देखने पर मालूम हुआ कि चार रत्न चोर ले गया और तीन छोड गया। मत्री ने चोरी के साथ चोरी समझ कर तीन बाकी बचे रत्न गायब कर राजा को इत्तला दी कि सात रत्नो की चोरी हुई है। राजा ने मणिशेखर को बुलाया और पूछा कि, "राजभडार मे कितने रत्नो की चोरी की?" मणिशेखर ने स्पष्टत कहा, "चार रत्नो की।" राजा को अटल विश्वास हो गया और उन्होने बाकी बचे हुए रत्नो के बारे मे मत्री से पूछा। मत्री के चेहरे पर उदासी छा गई। मत्री ने अपनी चोरी स्वीकार की और तीनो रत्न राजा के सामने रख दिए। जो चोर था वह साहूकार निकला और जो साहूकार था वह चोर। मणिशेखर की सत्यवादिता पर प्रसन्न होकर राजा ने उसको अपना मत्री बना लिया। मणिशेखर की चोरी अपने आप छूट गयी।

८५ कपिल ब्राह्मण (लोभ-विजय)

ज्यो-ज्यो बढता लाभ है, त्यो-त्यो बढता लोभ।
कब मिटता सतोष बिन, कपिल चित्त का क्षोभ।

कपिल एक गरीब ब्राह्मण था। उसके परिवार की आर्थिक स्थिति बहुत ही दयनीय थी। एक बार उसकी धर्मपत्नी ने उसे धनोपार्जन की कोई विधि सोचने की बात कही। जब उसे कुछ समझ मे न आया तब उसकी पत्नी ने नगर के एक दानी राजा की बात कही जो प्रत्येक दिन सुवह उसे बधाई देने वाले को दो माशा सोना दान-रूप मे देता था। इस प्रकार धनोपार्जन कर वह अपनी आर्थिक स्थिति से निपट सकता है। यह सुनकर वह नगर के सेठ के पास प्रात काल जाने को तैयार हो गया। वह रात भर जल्दी उठने की बैचेनी के कारण नीद नही ले सका। वह अर्धरात्रि को ही 'दो माशा सोना' की लालसा पूरी करने निकल पडा।

रास्ते मे रात्रि गश्त लगाने वाले सिपाहियो ने उसे घेर कर पूछा तुम कौन

हो ? वह क्या कहे ? नहीं कहे की उधेड़बुन मे चुपचाप हतप्रभ सा खड़ा ही रह गया। सिपाहियो को उसकी चुप्पी के कारण पूर्ण विश्वास हो गया कि अवश्य ही कोई चोर है। अतएव कपिल को हवालात मे बंद कर राजा के समक्ष उपस्थित किया गया। कपिल क्या जवाब दे ? यह समस्या बन गई। अंत मे कपिल ने हिम्मत बटोर कर अपना पूरा परिचय देते हुए कहा, "राजन् ! मैं यहाँ एक गरीब ब्राह्मण हूँ। गरीबी के कारण नित्य यहाँ आपका स्वर्णदान पाने के लिए आता हूँ पर मेरा नम्बर आने तक स्वर्ण समाप्त हो जाता है अतएव घर से आज आधी रात को ही चल पडा कि आज भी देरी न हो जाय।"

कपिल की सच्चाई पर राजा को खुशी हुई। राजा दिल खोलकर इच्छित धन देने को राजी हो गया। कपिल राजा की इतनी उदारता को देखकर पेशोपेश मे पड गया। वह इतना सोना या धन जुटाने की बात सोचने लगा कि उसका और परिवार का भाग्य ही बदल जाय। वह 'दो माशा' सोना से १००-२००-२५० तोले प्राप्त करने की तृष्णा मे डूबकर भी संतोष की श्वांस नहीं ले पाया। अंत मे सोचते-सोचते राजा के सपूर्ण राज्य का स्वामित्व मागने की बात दिमाग में लाने लगा, ताकि वह किसी से भी अपेक्षाकृत धन मे कम न हो। विधाता का विधान विचित्र है, जो कपिल के भाग्य का निर्माता बना उसी को वह दरिद्र बनाने की सोचने लगा।

एकाएक कपिल के दिमाग मे सुमति का प्रादुर्भाव हुआ। उसने मृगतृष्णा को कुचल डाला। वह राजा के समक्ष खडे होकर संयम व्रत स्वीकार किया और मानसिक शाति प्राप्त की।

□

८६. विनीत-अविनीत शिष्य (मान-विजय)

ग्रहण किया जो विनय से, ज्ञान वही फलवान।
सच्चा निकला सब जगह, शिष्य विनीत महान।

एक गुरु के पास दो प्रतिभाशाली एव परिश्रमी छात्र विद्या अध्ययन करते थे। एक छात्र बडा विनीत था व दूसरा अविनीत। अतएव उनकी विद्या के फल मे भी अतर हो गया। एक बार किसी गांव की ओर जाते दोनो छात्रो ने बालू पर एक हाथ और पांव का चिन्ह देखा। अविनीत छात्र उसे देखते ही बोल पड़ा, "यह तो हाथी का पैर है" विनीत छात्र ने थोडा सोचकर कहा, "नहीं, यह तो हथिनि का पैर है और वह एक आंख मे काणी है। उस पर रानी बैठी हुई है और वह गर्भवती है।" दोनों छात्रों के वाद-विवाद मे अगला गांव आ गया। गाव मे प्रसन्नता के बिगुल बज रहे थे। किसी आगंतुक से उन दोनो ही ने खुशी का कारण पूछा। आगतुक ने कहा, "राजा के पुत्र हुआ है।" तब विनीत छात्र ने अपने विवाद के सभी प्रश्न पूछे और

उसकी सभी बात सही होने पर अपार खुशी हुई। दोनो वही तालाब के किनारे बैठे आश्वस्त हो रहे थे। तभी एक बुढिया पानी भरने तालाब पर आयी और दोनो छात्रो को पडित समझ कर बडी सहृदयता से प्रश्न पूछा—'पडित जी, मेरा बेटा बारह वर्षों से विदेश गया हुआ है। आप मुझ पर दया कर बतावें कि वह कब सकुशल घर लौटेगा ?'

बुढिया के दिल की व्यथा डबडबाये नेत्रो से प्रकट होकर बाहर आने लगी। उसके शरीर मे एक विचित्र-सी कपन हुई जिसकी वजह से उसके सिर पर का पानी से भरा घडा नीचे गिरकर फूट गया। परिणाम को दृष्टिगोचर करते हुए अविनीत छात्र तत्काल ही बोल उठा— बुढ़िया ! तेरा बेटा मर गया है वह अब घर नही लौटेगा।' अविनीत छात्र के इस कथन ने बुढिया को और व्यथित कर दिया। किन्तु दूसरे ही क्षण विनीत छात्र ने कहा--'माताजी ! चिन्ता न करें आपका लडका आनन्द पूर्वक घर पहुँच गया है।' बुढिया यह सुख सम्वाद सुनकर दौडती हुई घर गयी और वहाँ अपने इकलौते पुत्र को सकुशल बैठे देख बासो उछलने लगी। बुढिया ने उल्टे पाव विनीत छात्र के पास आकर सच्ची भविष्यवाणी करने पर उसे बधाई दी। अविनीत छात्र मन ही मन ईर्ष्या करने लगा। बुढिया ने उन्हे अपने घर ले जाकर काफी आदर-सत्कार किया।

कुछ दिनो बाद जब वे गुरु के सम्मुख उपस्थित हुए तो अविनीत छात्र ने गुरु पर पक्षपात का आरोप लगाकर उसे अधूरी शिक्षा देने का दोषी ठहराया। अविनीत छात्र को दोनो बार की अपनी हार का बहुत दुःख था। गुरु ने अचभित होकर पूरी घटना व परिणाम मालूम करने के अनुमान के बारे मे पूछा। अविनीत छात्र ने पहली घटना के बारे मे कहा—जमीन पर बडा पाव चिन्हित था उसे देखकर मैंने तुरन्त कह दिया कि यह पाव हाथी का है।

विनीत छात्र से पूछे जाने पर उसने गुरु से सविनय कहा, 'भगवन् ! उन चिन्हो मे ईषद् आर्द्रता थी जो हथिनी के पाव मे ही सम्भव है। हाथी पर राजा-महाराजा ही सवारी करते हैं अत. मैंने आसानी से बता दिया।' गुरु द्वारा रानी के गर्भवती का ज्ञात होने का पूछे जाने पर विनीत छात्र ने बताया कि रानी एक जगह नीचे उतरी थी और हथेली की रेखायें बालू पर स्पष्ट दिखायी दे रही थी जिसके आधार पर मुझे सद्य प्रसूता का ज्ञान हो गया। फिर हथिनी के कानी होने का आभास मुझे इस तरह हुआ कि वह एक ही ओर के मार्गवर्ती पौधो व लताओ को खाती हुई गई।

गुरु ने फिर दूसरी घटना के अनुमान के आधार के बारे मे पूछा तो अविनीत ने कहा, बुढिया के सिर पर घडा था। बात करते हुए वह गिरकर फूट गया अतएव मैंने परिणाम निकाला कि उसका लडका मर गया। तत्पश्चात् विनीत छात्र ने कहा कि घटना तो सही है किन्तु उसकी प्रकृति कुछ भिन्न थी। घडे के फूट जाने पर

पानी बहकर तालाब मे जा मिला था और घडे की मिट्टी, मिट्टी मे । आकाश भी बहुत स्वच्छ था । अत यह स्वत प्रतिभासित हुआ कि बुढिया का लडका भी शीघ्र मिल जाना चाहिए । गुरु ने वत्सलतापूर्वक अविनीत छात्र से पूछा, क्यो शिष्य मैंने ये बातें इसको कब बतायी थी ? अविनीत छात्र का सिर लज्जा से झुक गया ।

□

८७. कूरगडुक मुनि (क्रोध-विजय)

क्षमाशील नर पा सके, जग मे सिद्धि महान् ।
कूरगडुक मुनि को मिला, अविचल केवल-ज्ञान ।।

कूरगडुक मुनि बहुत ही शातिप्रिय, सरल व सहृदयी थे । किन्तु तपस्या-साधना मे वे बहुत ही दुर्बल थे, एक दिन की भी तपस्या उनके लिए भारस्वरूप थी । एक बार वे विमलमति आचार्य के साथ राजगृह मे चतुर्मास मनाने आये । आचार्य प्रवर के मगल-प्रवचन, त्यागमय जीवन व मृदुल भाषा का प्रभाव श्रद्धालु भक्तजनो के हृदय मे रम गया । इसी प्रकार पुण्य पर्व चतुर्मासी चतुर्दशी के दिन भी त्याग, तप व धर्म के महत्त्व पर बडे ही रोचक ढंग से प्रकाश डाला गया । आचार्यवर के जीवन-कल्याण कारी सदेश से प्राय सभी ने चतुर्दशी व्रत का सकल्प लिया और लम्बी तपस्या के लिए भी लोग दृढ प्रतिज्ञ हुए । यह सब सुनकर कूरगडुक मुनि के हृदय पर भी बुरी बीत रही थी । उन्हे काफी आत्म-ग्लानि हुई । किन्तु उदर-क्षुधा के वशीभूत होने के कारण उन्हें व्रत-सकल्प का साहस न हुआ । उन्हे भूख बुरी तरह सताने लगी और लम्बे चल रहे व्याख्यान के बीच मे ही गुरु के पास भिक्षाटन की आज्ञा हेतु झोली लेकर खडे हो गये । गुरुवर ने तपस्या के रसमय वातावरण मे एक दिन का व्रत करने के लिए कूरगडुक को प्रेरणा दी । उन्होंने गुरुवर व अन्य सुन्दर वक्ताओ के आत्मिक-विकास की मार्मिक बातो की काफी प्रशसा की । किन्तु वे अपनी निर्लज्ज ढीठ आत्मा को नियत्रित नही कर सके । गुरु ने भी उन्हे धिक्कारा, किन्तु भूख के आगे वे लाचार थे । गुरुवर ने फिर असतुष्ट भाव से उन्हे भिक्षाटन करने का आदेश दे दिया। वे शातभाव से चुपचाप भिक्षा लेने चले गये । उस दिन प्रायः सभी के उपवास होने के कारण सिर्फ एक स्थान मे ही थोडा नीरस कूर सुलभ हुआ । वे भिक्षाटन कर गुरु के सामने पात्र रखकर वन्दना की । आचार्यवर ने कूर आहार को देखा और उस पर थूथकार दिया । फिर भी कूरगडुक मुनि विनम्र समभाव से खडे होकर गुरु के प्रति कृतज्ञता प्रकट की । उन्होने पात्र के आहार को बडे प्रेम से मथ-मथ कर खाया और थूक को घृत समझ कर गले उतारा । आचार्य के सभी साधुओ को उनकी शान्ति-प्रियता व गुरु-भक्ति पर आश्चर्य हुआ । जब वे एकाग्र ध्यान हुए तो उन्हे अपनी आत्मा के दोष सामने नजर आये और गुरु के प्रति अगाध श्रद्धा हृदय मे उमडी ।

इतने मे ही जैन-धर्म की परम सेविका देवी ने आकर कूरगडुक मुनि के दर्शन करने की वात कही। सभी साधू यह सुनकर अचभित रह गये कि उन्हे केवल्यज्ञान होने वाला है। कूरगडुक मुनि आचार्य देव के पास जाकर केवल ज्ञान प्राप्त होने की खबर दी। आचार्य ने अपने आप को सभाला और आत्म-निरीक्षण कर अपने क्रोध को धिक्कारा और क्षमा का मन मे अकन किया। तत्क्षण वे भी केवली हो गये। क्षमाशील शिष्य ने अपने साथ गुरु का भी कल्याण किया।

□

८८. दम्भ का घड़ा (दम्भ-त्याग)

घडा दम्भ का फूटता, इक दिन अपने आप।
हार सेठ को मिल गया, प्रकट हुआ सब पाप॥

एक नगर मे दो धनवान और मध्यम श्रेणी के व्यक्ति अडोस-पडोस मे रहते थे। धनवान व्यक्ति वडा ही दयालु व परोपकारी था। किन्तु मध्यम श्रेणी का व्यक्ति उससे डाह करता और हमेशा उसे नीचा दिखाने की तरकीब सोचता रहता परन्तु धनवान व्यक्ति हमेशा पडोसी का भला सोचता।

एक वार ईर्ष्यालु पडोसी के घर लडके की शादी मे कुछ गहने की जरूरत पडी। धनवान पडोसी ने निःसकोच होकर रुक्का लिखाकर जरूरत के गहने दे दिए। विवाह सम्पन्न होने के बाद जब उसने वापिस गहने लौटाने को कहा तो वह इन्कार करते हुए उस पर आगबबूला हो गया। उसने अपनी गरीबी की दुहाई देकर लोगो के सामने धनवान को उल्टे वेइज्जत किया। दोनो का विवाद आगे वढ गया और इसका हल निकालने के लिए पचायत की तिथि निश्चित की गयी।

ईर्ष्यालु पडोसी ने धनवान के विरुद्ध जनता को झूठी-सच्ची वातें कहकर भडकाने लगा। वह खुला प्रचार करता कि कलियुग आ गया है धनवान गरीब को निगल जाएगा। अव गरीव जनता सावधान हो जाए नही तो निर्धनो की इज्जत आवरू नही वचने की है। धनवान पड़ोसी द्वारा दिए गए गहनो को लौटा देने की वात भी करके अपने पक्ष को मजवूत करने की कोशिश करता। जनता को भी धनवान की दयालुता, सहृदयता व ईमानदारी पर विश्वास था। फिर भी कुछ आदमी को समय की रफ्तार के मुताविक धनवान पडोसी की ईमानदारी पर सदेह हो गया।

सारे नगर के वातावरण को देखकर धनवान पडोसी मन मे अफसोस करता कि गहने भी गए और वदनामी भी मिली। परन्तु धनवान को अपनी सत्यता पर पूर्ण विश्वास था। उसने खुले स्वर मे कहा, "भगवान के घर देर है अधेर नही है।" उसने पचायत से न्याय की माग करते हुए सतोष व्यक्त किया। पचो ने तय किया कि ईर्ष्यालु पडोसी को अपनी सत्यता प्रमाणित करने के लिए जलता लोहे का गोला हाथ मे लेना होगा।

निश्चित तिथि के दिन पचायत प्रारम्भ हुई। सत्य व न्याय को देखने के लिए लोगो की भीड एकत्रित हो गयी। ईर्ष्यालु पडौसी हाथ मे एक अनाज से भरा घड़ा लाया। उसने विलम्ब होने की माफी मांगी और दो मिनट के लिए धनवान पडौसी को घडा दे दिया। पंचो ने अग्नि सदृश लोहे का गोला ईर्ष्यालु के हाथ पर रखा। हाथ जला नही। उसने जनता के समक्ष पंचो के आदेश से सत्यता का प्रमाण उपस्थित कर दिया। सत्यता प्रमाणित होने पर जनता उसे दुत्कारने लगी। धनवान पड़ौसी का सिर लज्जा से झुक गया। उसे विश्वास न था कि वह इस प्रकार गहनो से भी हाथ धो बैठेगा। इसी बीच उसकी आत्मा मे एक तूफान आया और उसके झोंके से हाथ का घडा भी नीचे जमीन पर गिर पडा। घडा फूट गया और अनाज मे छिपा गहना भी अनाज के साथ प्रकट हो गया। जनता ईर्ष्यालु को कोसती हुई कहने लगी, दम्भ का घडा भरते-भरते इस प्रकार फूटता है।

□

८९. कालिदास-विद्योत्तमा (इन्द्रिय-संयम)

क्या कर सकती इन्द्रियाँ, यदि हो मन मजबूत।
कालिदास की है कथा, सचमुच साक्षीभूत॥

महाराज विक्रमादित्य की पुत्री विद्योत्तमा एक विदुषी थी। विद्योत्तमा ने संकल्प लिया कि जो कोई विद्वान मुझे शास्त्रार्थ मे परास्त कर देगा उसी से मैं पाणिग्रहण करूँगी। राजा ने अनेक प्रकाण्ड विद्वानो को आमन्त्रित किया किन्तु एक भी विद्वान उससे शास्त्रार्थ मे टिक नही पाए। अतत विद्वान लोग भी नाराज हो गये और उन्होंने चाहा कि विद्योत्तमा का विवाह किसी महामूर्ख से हो। उन्होंने महामूर्ख के रूप मे एक गड़रिये की तलाश की जो एक पेड की टहनी पर बैठकर उसी टहनी को काट रहा था जिस पर कि खुद बैठा था। विद्वानो ने उससे राजा की पुत्री से शादी करवाने का वादा किया और राजा के सम्मुख उपस्थित होकर कहा कि ये बड़े विद्वान हैं। ये आपकी पुत्री से शास्त्रार्थ करेंगे। परन्तु आज इनके मौन हैं, अत. इशारो के माध्यम से ही बातचीत करेंगे। महाराजा ने विद्योत्तमा को बुलाया और मुकाबला चालू हुआ।

विद्योत्तमा ने एक अंगुली दिखायी। कालिदास ने दो अगुलियाँ उठा दी। 'कालिदास ने सोचा' यह मेरी एक आँख फोड़ देना चाहती है, तो मैं इसकी दोनो फोड दूँगा।

विचारकों ने इसका अर्थ यो किया कि ईश्वर एक है किन्तु कालिदास का कहना है कि ईश्वर और प्रकृति दो हैं। इस प्रकार कालिदास की जीत पर लोगो ने बधाइयां दी। फिर विद्योत्तमा ने पाँचो अगुलियाँ सामने की तो मूर्ख कालिदास ने सोचा

कि 'यह थप्पड मारने का विचार रखती है' और इसलिए उसने मुक्का तान दिया। विद्वानो ने इसका अर्थ लगाया कि विद्योत्तमा पाँच इन्द्रियो की वात कहती है और कालिदास कहता है कि इन्द्रियो को वश मे रखो। इस प्रकार मौन साक्षात्कार मे कालिदास सफल हुआ और विक्रमादित्य ने विद्योत्तमा का विवाह मूर्ख कालिदास से कर दिया।

□

९०. दो कछुए (इन्द्रिय-जय)

ग्रहण न विषयो का रुके, स्वाभाविक यह वात।
उनसे जो निर्लिप्तता, इन्द्रिय-जय अवदात।।

गंगानदी के मयगतीर के समीप एक मालुकाकच्छ था। उस कच्छ मे दो पापी क्रूर आमिष-आहारी सियार रहते थे। वे दिन मे छिपकर रहते और सध्या समय मास की खोज मे फिरते।

एक दिन रात के समय मे दो कछुए आहार की गवेषणा के लिए मयगतीर द्रह के आसपास घूमने-फिरने लगे। उसी समय वे पापी सियार भी आहार की खोज मे निकले। उन कछुओ ने पापी सियारो को आते देख, भयभीत हो गए। उन्होने अपने हाथ, पाँव, ग्रीवा को अपने शरीर मे छिपा लिया। चुपचाप होकर एक जगह पडे रहे। पापी सियार दौडकर कछुए का भोजन करने आए किन्तु कछुए की निश्चलता के कारण चमड़ी छेदने मे असमर्थ रहे। वे निराश होकर वापिस लौट गए और एकात मे ताक लगाकर खडे रहे।

उन कछुओ मे से एक ने जब समझा कि सियारो को गए देर हो गई है तो उसने धीरे-धीरे अपना एक पैर वाहर निकाला। पापी सियार यह देखकर तेज गति से वहाँ पहुँचे और कछुए के पैरो को अपने नखो से विदीर्ण कर मास खाया।

कछुए ने क्रमश. इसी तरह अपने पैर, ग्रीवा वाहर निकाले और सियार ने हर वार ताक रखकर उसे खा लिया और उसके जीवन को समाप्त कर दिया। इसके वाद वे पापी सियार, उस दूसरे कछुए पर भी आक्रमण किया परन्तु सफल नही हुए। आखिरकार वे निराश होकर चले गए।

कछुए ने जब देखा कि पापी सियार काफी दूर चले गए हैं तब अपनी ग्रीवा वाहर निकाली, चारो ओर अवलोकन कर, एक साथ चारो पैर वाहर निकाल अत्यन्त तेज गति से मयगतीर द्रह मे सकुशल पहुँच गया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जो मुमुक्ष इन्द्रियो को वश मे नही रखता, वह विषयार्थी और प्रमादी कछुए की तरह आत्मार्थ से पतित होकर दु ख पाता है।

□

९१. सवसे मीठी चुप (मौन)

वाणी संयम मौन है, शस्त्र वडा वलवान ।
धारण करते है इसे, धीर, वीर विद्वान ।।

एक छोटे से गांव मे रामलाल नाम का वड़ा ही सरल एव भद्र आदमी रहता था । वह अपने परिवार की एक छोटी सी दूकान घी-गुड-शक्कर आदि मे गुजर-वसर कर लेता था । रामलाल ने घरेलू कार्य मे दक्ष पुत्री का विवाह समीपस्थ शहर मे कर दिया । एक दिन रामलाल शहर अपनी पुत्री से मिलने गये । पुत्री ने पिता के लिए तरह-तरह के स्वादिष्ट मीठे पकवान वनाये । पिता को वह स्वय ही भोजन करवाने लगी और दामाद भी कुछ दूर पर उनकी हाजरी मे खडा था । थाली के एक-एक फुलके को एक-एक ग्रास करना शुरू कर दिया । समझदार पुत्री ने घूंघट की ओट मे से दो अगुली उठाकर इशारा करते हुए कहा, 'एक रोटी के कम से कम दो ग्रास अवश्य करें ।' रामलाल ने उलटा सोचा कि पुत्री कहती है कि दो-दो रोटी का एक-एक ग्रास करो । अन्य था पेट कव भरेगा । थोडी देर वाद रसगुल्ले परोसे गए । उसने सोचा ये धोले-धोले अडे जैसे क्या है ? पुत्री ने धीमे स्वर मे कहा-'रो वोला' (वोलो मत) उसने यह समझ लिया कि उसका नाम ही 'रो वोला' है । फिर मीठी-मीठी जलेवियाँ परोसी गई । वह देखकर वोला, यह क्या सर्प की भाति आटेदार । वेचारी पुत्री का सिर लज्जा से झुक गया । फिर भी इशारा करती हुई वोली 'चुप-चुप' उसने जलेवियो का नाम ही 'चुप' समझ लिया । भोजन के पश्चात् वह नये-नये मिष्ठानो को रटकर याद किया कि—

दो-चार रो वोला खाया, थाली ऊपर छप्प ।
घी तो घर मे घणोई खायो, सव स्यूं मीठी चूप ।

दामाद की दुकान पर रामलाल जाकर वैठा तो एक किसान पंचायत करवाने आ गया । किसान ने श्वसुर को पच मान लिया और अपनी पूरी वात सुनायी, रामलाल को कुछ आता नहीं था अतएव उसी दोहे के तीन पद तो कुछ धीमे और चौथा जोर से वोला 'सव स्यूं मीठी चूप' वस मैं तो यही फैसला जानता हूँ ।

दुनियाँ मे सवसे मीठी चुप (मौन) है । मौन सारे कलह को स्वत ही समाप्त कर देती है । अत कलह के समय हर एक को मौन रखना चाहिए ।



९२. कब्रिस्तान (मैत्री का आयाम)

नही किसी से राग हो, नही किसी से द्वेष ।
सुन लो कब्रिस्तान का, शिक्षाप्रद सदेश ।।

मिश्र के प्रसिद्ध सन्त मकारिया से उनके एक शिष्य ने पूछा, 'गुरुदेव ! मुझे मुक्ति का साधन वता दो, जिससे मेरा यह जीवन सफल हो जाय ।

सन्त मकारिया ने कहा—'वत्स ! मुक्ति का मार्ग बहुत सरल है। तुम कब्रिस्तान मे जाओ और कब्रो मे जो लोग सोए पडे हैं, उन्हे खूब गालियाँ दो। उन पर पत्थर फैंको। फिर मेरे पास लौट आओ। मैं तुम्हे मुक्ति का मार्ग बताऊँगा।

अपने गुरु के कथनानुसार शिष्य कब्रिस्तान मे पहुँचा। उसने कब्रो के पास जाकर उनमे दफनाए हुए लोगो को खूब गालियाँ दी और उन पर खूब पत्थर फेंके। इसके बाद वह गुरु के पास लौट आया और बोला, 'गुरुदेव ! आपके निर्देशानुसार मैंने सब कार्य पूर्ण कर लिये हैं।

सन्त मकारिया बोले—'तुम फिर उसी जगह उसी कब्रिस्तान मे जाओ और इस बार उन कब्रो की खूब बडाई करो उन पर फूल चढाओ।

शिष्य पुन वहाँ गया। उन कब्रो की उसने खूब बढाई की और उन पर खूब फूल चढाए। यह कार्य करके पुन गुरु के पास लौट आया। गुरु ने पूछा, अच्छा यह बताओ जब तुमने कब्रो मे सोए लोगो को बुरा भला कहा, उन पर पत्थर फेंके उन्होने तुम से क्या कहा ? साथ ही दूसरी बार जब तुमने कब्रो की बडाई की और उन पर फूल चढाए, तब तो उन्होने कुछ कहा होगा ?

शिष्य बोला—उन्होने दोनो ही बार मुझ से कुछ नही कहा वे तो उसी प्रकार शान्त रहो।

सत मकारिया बोले—वत्स, उन कब्रो की भाति तुम भी अपना जीवन शान्त और समता युक्त बनाओ बस यही मुक्ति का मार्ग है।

□

६३. सैनिक टुकड़ी (सह-अस्तित्व)

वहिनो ! सहअस्तित्व का, अपनाओ सिद्धान्त।
सैनिक टुकड़ी का यहाँ "मुनि गणेश" दृष्टान्त ॥

प्राचीन काल मे किसी राजा को अपनी सैन्यशक्ति बढाने की आवश्यकता पडी, अतः मन्त्री का ध्यान इस ओर केन्द्रित किया गया। संयोगवश ५०० सैनिको की टुकडी आ पहुँची, जिसकी परीक्षा के लिए मन्त्री ने रात्रि के वक्त विशाल कक्ष मे आराम करने को कहा, परन्तु वहाँ एक खाट को देखकर सभी उस पर अपना अधिकार मानने लगे, इसी विवाद मे सूर्योदय हो गया, लेकिन एक भी सैनिक नीद प्राप्त नही कर सका, इसलिए उन्हें राजा का आदेश मिला की हमारी सेना मे उनके लिए द्वार बन्द है, जो एक के लिए अनेक होते हैं।

कुछ दिनो के पश्चात् इसी प्रकार अन्य सैनिक टुकड़ी को भी कठीन परीक्षा से भेंट करनी पड़ी, परन्तु उनमे प्रत्येक के प्रति इतना सौहार्द था कि मात्र एक खाट पर सोने के लिये आग्रह तथा मनुहारे होने लगी परन्तु सभी एक-दूसरे को महान्

बता कर सोने के लिए कोई तैयार नहीं हुआ। अन्त मे सभी बुधिमत्ता से खाट को प्रधान मान उसकी ओर सिर करके सो गए। सूर्योदय के साथ ही मन्त्री ने इस भावना के साथ टुकड़ी का वरण कर लिया कि हमारी सेना का द्वार उनके लिए खुला है, जो एक सबके लिए और सब एक के लिए होता है।

९४ सुलस (अणुव्रत)

पाप न कर सकता कभी, जिसके व्रत साकार।
नही चलाई सुलस ने, भैंसे पर तलवार॥

ढाई हजार वर्ष पहले मगध का शासन सम्राट् श्रेणिक के हाथो मे था। वहाँ कालसौकरिक कसाई रहता था। वह प्रतिदिन पाच सौ भैसे मारता था। कसाई के पुत्र का नाम सुलस था। वह पिता से विपरीत वृत्ति का था। कालसौकारिक का देहावसान हुआ। कौटुम्बिक उत्तराधिकार सौंपने का समय आया। उत्तराधिकारी के अधिकार लेने से पूर्व एक भैंसे की बली देनी होती है। सुलस ने कहा—यह मुझे मान्य नही है, मैं भैसा नहीं मार सकता। परिवार की ओर से दबाव डाला गया तो, सुलस ने स्वीकार किया, भैसा सामने खडा है। परिवार के लोग अभिषेक करने के लिए सज्जित हैं। सुलस के हाथ मे तलवार दी गई और कहा—भैंसे को मारो। जिस व्यक्ति की चेतना जागृत हो गई, स्वाभाविक व्रत का उदय हो गया, वह ऐसा काम कैसे कर सकता है? सुलस ने तलवार चलाई। भैसे पर नही, अपने पैरो पर।

लोग कहने लगे—इतना कायर आदमी इस उत्तराधिकार के योग्य नही है, उसे अयोग्य घोषित कर दिया गया।

उसने ऐसा क्यों किया? इसलिए किया कि उसके मन मे व्रत था। जिसके मानस मे व्रत का उदय हो जाये, उससे अन्याय नही हो सकता।

९५. एकदिन का राज्य (नीति १)

सचमुच ही नर-जन्म है, एक दिवस का राज्य।
सुयश कमाया एक ने, पर ने अपयश प्राज्य॥

एक राजकुमार और दो वणिक् पुत्रो मे घनिष्ठ दोस्ती थी, तीनो साथ-२ खेलते, पढते हुए तारुण्य की ओर बढ रहे थे। एक दिन वैश्य-पुत्रो ने वत्सलता से राजकुमार को कहा कि, "हमारा यह प्रेम-मिलाप कुछ ही समय का है, क्योकि तुम्हारे राज्य-भार ग्रहण करने पर ऐसा असम्भव हो जायगा।"

राजकुमार—"नही, मैं ऐसा नही होने दूगा, हमारे बीच कौन बाधक बनेगा ?" वणिक् पुत्र—हमारे जैसो की तुम्हारे दरबार मे क्या गणना होगी। राजकुमार—मित्र, प्रेम सदा ध्रुव तारे की तरह अविचल रहता है। अगर तुम्हे यकीन न हो तो मैं तुमसे आज भी वचनबद्ध हो सकता हूँ।

वणिक् पुत्र—"क्या तुम अपने राज्य-काल मे, हमे एक-एक दिन का राज्य दे सकोगे ?"

राजकुमार—"क्यो नही, मैं तुम्हें लिख देता हूँ कि जब मैं राजा बनूँगा, तब तुम्हारी प्रार्थना पर तुम्हे एक दिन का राजा घोषित कर दूगा।"

वणिक् पुत्रो ने राजकुमार के हाथ का रुक्का ले लिया तथा तीनो समयानुसार अपने-अपने कार्य-क्षेत्र मे प्रवृत्त हो गए।

सयोगवश वणिक् पुत्रो को राजकुमार के हाथ का लिखा हुआ पत्र मिला, और वे राजा के सम्मुख पत्र लेकर पहुँचे। राजा को अपने मित्रो से किया गया वायदा याद आ गया, तदनुसार उन्हे एक-एक दिन के लिए राजा घोषित कर दिया। मत्री ने यह सोचकर कि कही ये राज को चोपट नही कर दे, अत नव निर्वाचित राजा को आमोद-प्रमोद के साधनो मे व्यस्त रखा। वणिक् पुत्र दिन भर राज्य के आनन्द मे डूबा रहा। तत्पश्चात् तीसरे प्रहर प्रमुख व्यक्तियो से परिचय करवाया गया।

नये राजा ने पूछा—"भण्डार मे धन कितना है।"

मत्री—"महाराज खजाने मे धन की आवश्यकता है।"

नये राजा—"क्यो नही कर बढा दिया जाय।"

मत्री—"हाँ, यह उचित ही है।"

नया राजा—"घोषणा कर दो कि अमुक-अमुक वस्तुओ पर इतना कर बढा दिया गया है, तथा शहर के बडे-बडे श्रीमन्तो को बुलाया जाय, खजाने को उनसे व्याज पर रकम लेकर भरा जाय।"

मत्री—"राजन्! रुपये किसके नाम से लिये जायें।"

नया राजा—"मैं राजा हूँ, मेरे नाम से।"

मत्री ने आदेशानुसार सब कार्य सम्पन्न किये, तथा पुन राजमहल मे सगीत व नृत्यगान प्रारम्भ करवा दिये। इस प्रकार आनन्द से रात्री बिताकर प्रात वणिक् पुत्र अपने घर को अपयश के साथ लौटा, क्योकि सारी जनता कर-वृद्धि से परेशान हो उठी थी।

कुछ दिन पश्चात् श्रीमन्त वणिक् पुत्र के पास व्याज सहित रकम लेने पहुँचे, परन्तु रकम राज-खजाने मे जमा हो चुकी थी, अत. वह देने मे असमर्थ रहा। इस प्रकार से कर-वृद्धि की निन्दा तथा व्याज व रकम के भार से व्यथित होकर उसे देश छोडना पडा।

तदनन्तर दूसरे वणिक्पुत्र को राजा घोषित कर दिया। मन्त्री ने उसी बुद्धिमत्ता से चलने की कोशिश की। परन्तु यह राजा अधिक बुद्धिमान् निकला, नये राजा ने भण्डार मे जाने की इच्छा व्यक्त की, मन्त्री को अनिच्छा से ऐसा करना पड़ा। राजा खजाने को देखते ही विस्मित हो गया, तथा आदेश दिया कि बड़े-बड़े व्यापारियो को धन बाट दिया जाय, जिससे व्याज की उन्नति हो सके। मंत्री ने राजा के आज्ञानुसार व्यापारियो को बुलाकर धन दे दिया। व्यापारियो ने पूछा—"राजन्—रुपया किस के नाम से जमा करें।"

नया राजा—"मेरे नाम से" तथा राजा ने कर सम्बन्धी शिकायतें सुनी, और तत्काल कर हटाने का आदेश जारी कर दिया। और जनता अत्यधिक प्रसन्नता से राजा की प्रशंसा करने लगी। सायकाल वणिक्पुत्र अपने घर लौट गया। परन्तु अपनी कुशलता की छाप छोडकर। इस प्रकार सचमुच ही मानव जीवन एक दिन का राज्य है। अत. इससे अपने यश-अपयश की उपलब्धि प्राप्त की जा सकती है।

□

९६. कर भला होगा भला (नीति २)

करो भला होगा भला, है यह नीति उदार।
बुढ़िया के ही मर गए, सैनिक बेटे चार॥

गाव से दूर बिना किसी खट-पट के एक झोंपड़ी में फकीर पूर्ण नीति के साथ रहता था, तथा पथिको की बिना भेदभाव के मेजबानी करता था। जब भी उसे कोई मिलता वह एक ही वाक्य दुहराता 'कर भला होगा भला'।

गाव में कर्कश व झगड़ालु स्वभाव की एक बुढ़िया रहती थी। उसके चार पुत्र उसकी प्रकृति से तंग आकर सुदूर प्रदेश मे सेना मे भर्ती हो गए।

विदेश मे कितने ही दिन रहने के पश्चात् वे अपनी मातृभूमि की ओर चल पडे। इस प्रकार से चारो भाई चलते-चलते अपने गाँव के बाहर फकीर की कुटिया मे आए। भूख से व्यथित होकर फकीर द्वारा प्रदत्त लड्डू खाकर सो गए। परन्तु ये लड्डू बुढिया ने फकीर को ईर्ष्या के कारण जहर मिलाकर दिये थे। परन्तु लड्डू फकीर के काम न आकर स्वयं के पुत्रों के काम आगए। इस प्रकार से सूर्योदय के पश्चात् भी उनकी नींद नहीं टूटी, तो फकीर ने उनको गौर से देखा, और पाया कि ये हमेशा के लिए आँखें मूँद चुके हैं। फकीर चिल्ला कर बोलने लगा—

'करो भला होगा भला, कर देखो रे भाई।
लड्डू दिए एक बुढ़िया ने, मर गए चार सिपाही॥

फकीर की बात सुनते ही बुढिया घटनास्थल की ओर चल पड़ी। वहाँ पर

अपने ही पुत्रों को मृत पाया। अतः वह रोने-चिल्लाने लगी। भेद खुलने पर बुढ़िया को फटकारे मिलने लगी।

बुराई की नींव पर भलाई का महल खड़ा नहीं हो सकता।

□

९७ हरिकेशी-मुनि (उच्चाचार)

होता कभी न जन्म से नीचा और महान्।
हरिकेशी मुनि ने कहा, है चारित्र प्रधान॥

एक चण्डाल कुल मे बालक का जन्म हुआ। जिसका नाम माता-पिता ने हरिकेशी रखा। वह अत्यन्त कुरूप था। बड़ा हुआ तो अत्यन्त कटुभाषी और हो गया। कुरूपता और कटुभाषिता इन दो दोषो के कारण प्रत्येक आदमी उससे घृणा करता। यहाँ तक कि कुटुम्ब के लोग भी उसे अपने से दूर बैठने को कहते। एक दिन जाति भोज का प्रसग आया। सब लोग आमोद-प्रमोद मे एक साथ बैठे खा रहे थे। हरिकेशी को उस मधुर गोष्ठी से दूर कर दिया गया। उसका अपमानित हृदय कुछ सोच ही रहा था, उसी समय उस मधुर गोष्ठी के पास एक विषैला सर्प निकल आया। चण्डाल लोग देखते ही उस पर टूट पड़े, और तत्क्षण उसे मार डाला। कुछ ही समय पश्चात् एक निर्विष दुमुहा जन्तु निकला। चण्डालो ने उसे मारा नहीं, प्रत्युत उसकी पूजा की। हरिकेशी को इस घटना ने आश्चर्य मे डाल दिया। वह सोचने लगा, यह क्या? एक की तर्जना एक की अर्चना। तत्काल उसके ध्यान मे आया, सविषता और निर्विषता ही इसका एकमात्र कारण है। अपनी आत्मा के बारे मे भी उसे यही सूझा। दूसरे लोगो का अनादर नहीं होता और मेरा होता है, इसका भी एकमात्र हेतु यही है, कि मेरी वाणी मे जहर भरा है। इस आत्म-चिन्तन मे उसे जाति स्मरण हो आया। प्रव्रज्या ग्रहण कर ली, और पूर्व सचित कर्मों के साथ लोहा लेने के लिए घोर तप करने लगे। उनके तप-प्रभाव से उनकी सेवा मे एक देव भी रहने लगा। वे अपने चरित्र के प्रभाव से जगत पूज्य बन गये।

□

९८ राजपुरोहित (कर्तव्य)

सदाचार से पुरुष को, मिलता है सम्मान।
राजपुरोहित की कथा, सुनलो देकर ध्यान॥

ब्रह्मदत्त के शासन काल मे वाराणसी मे सवत्र न्याय, धर्म व लोक कल्याण

की भावना व्याप्त थी। और राजा के पुरोहित की ख्याति भी चरम सीमा पर थी, जैसा कांति युक्त उसका चेहरा था, वैसा वह विद्वान भी था, तथा धर्म-शास्त्रों के शास्त्रार्थ मे उससे कोई नही जीत सकता था। ऐसी ख्याति के कुछ दिनो पश्चात् ही एक विचित्र घटना घटित हुई। राजपुरोहित-राजभण्डार मे चोरी करने के लिए प्रविष्ट हुआ, परन्तु बाहर आने पर द्वारपाल ने देखा तो विश्वास ही नही हुआ, कि ऐसा विद्वान् ऐसा कृत्य कर सकता है। प्रत्यक्ष को प्रमाण की जरूरत नहीं— फिर भी दरबारी ने ऐसा समझ उसे नही पकड़ा, कि सम्भवतः भविष्य मे पुनरावृत्ति नही होगी। द्वितीय दिन फिर वैसा ही हुआ, तथा दरबारी ने भी पूर्ववत् क्षमा कर दी। परन्तु तीसरे दिन भी वैसी स्थिति देख दरबारी ने पुरोहित को हिरासत मे ले लिया, व अगले सुबह राजा के सम्मुख पेश किया। राजा ने पुरोहित को उस रूप मे देखा तो स्तब्ध हो गया, राजा को विश्वास ही नही हुआ, कि इसने चोरी की है, लेकिन चौकीदार ने जब पूरी घटना सुना कर राजा को विश्वास दिलाया, तब राजा आगबबूला हो गया। तब तुरन्त राजपुरोहित ने कहा—महाराज! मैं आपसे कुछ निवेदन करना चाहता हूँ।'

राजा—"आज्ञा है।"

राजपुरोहित—'राजन! मेरे पास इतना धन है कि सात पीढ़ियाँ मेरे उस अर्थ से चल सकती हैं। आपने मुझे बहुत कुछ दिया है, परन्तु एक शंका मेरे मन मे थी कि आप मेरा सम्मान रूप, विद्वत्ता, सदाचारिता और शील मे से किसको चुनकर कर रहे हैं। यही जानने के लिए ऐसा मैंने किया है, आज मुझे ज्ञान हो गया है, कि मेरा सम्मान सदाचारिता व शील-वृत्ति से होता है, न कि रूप व विद्वता से। इस प्रकार राजा ने अत्यधिक प्रभावित होकर उसे क्षमा-प्रदान करते हुए, पुन. राजपुरोहित का पद प्रदान किया।

□

९९. आनन्द श्रावक (भूल)

करना भूल कबूल है, महापुरुष का काम।
क्या न गये आनन्द घर, गौतम गुरु गुण-धाम॥

वाणिज्य ग्राम मे आनन्द गृहपति बारह व्रतधारी श्रावक था। वह १४ वर्ष तक श्रावक की पर्याय पालन करता रहा। १५वें वर्ष मे अपने ज्येष्ठ पुत्र को अपना सारा दायित्व सभलाकर पौषधशाला मे रहकर एकादश श्रावक पडिमा की आराधना करने लगा। शरीर मे शैथिल्य का सचार होते देखकर उसने आमरण अनशन ग्रहण कर लिया। उस आमरण अनशन से उसे सुविस्तृत अवधिज्ञान प्राप्त हुआ। जिससे वह उत्तर मे चूलहेमवन्त पर्वत तक, दक्षिण मे और पश्चिम मे पाँच सौ योजन लवण

समुद्र तक ऊपर सौधर्म देव लोक तक, और अधोप्रथम नरक के लोलुच नरकावास तक देखने और जानने लगा।

उन्हीं दिनो भगवान श्री महावीर उद्यान मे आये। गौतम स्वामी तेले की तपस्या पूर्ण कर भगवान श्री महावीर से आज्ञा लेकर भिक्षा के लिए नगर मे आये। नगर मे आनन्द श्रावक के आमरण अनशन की जब चर्चा सुनी, तो देखने का भाव उनके मन मे उत्पन्न हुआ, अत वे आनन्द की पौषधशाला मे आये। आनन्द ने शारीरिक असामर्थ्य के कारण लेटे-लेटे ही वन्दना की और चरण स्पर्श किया। आनन्द ने कहा—भगवन गौतम ! क्या आमरण अनशन मे गृहस्थी को अवधिज्ञान प्राप्त हो सकता है ?

गौतम—हाँ, हो सकता है।

आनन्द—मुझे अवधिज्ञान प्राप्त हुआ है, और वह पूर्व और पश्चिम आदि दिशाओ मे इतना विशाल है।

गौतम—आनन्द ! गृहस्थ को इतना विशाल अवधिज्ञान नही मिल सकता। अनशन मे तेरे से यह मिथ्या संभाषण हुआ है। अत तू इसकी आलोचना कर।

आनन्द—प्रभो ! महावीर प्रभु के शासन मे सत्याचरण का प्रायश्चित्त होता है, या असत्याचरण का ?

गौतम—असत्याचरण का।

आनन्द—प्रभो ! आप ही प्रायश्चित्त करें। आप ही मे असत्याचरण हुआ है।

आनन्द की इस दृढतापूर्ण वार्ता को सुनकर गौतम स्वामी संभ्रान्त हुए। वहाँ से चलकर महावीर प्रभु के पास आये, और वह सारा वार्तालाप कह सुनाया। भगवान महावीर ने कहा—गौतम ! तुम्हारे से ही असत्याचरण हुआ है। तू आनन्द के पास जा, और क्षमायाचना कर।

गौतम स्वामी तत्काल आनन्द के घर आये और कहा—आनन्द ! भगवान महावीर ने तुझे ही सत्य कहा है। मैं वृथा विवाद के लिये तेरे से क्षमा चाहता हूँ। □

१०० दशार्णभद्र (मानव-महान्)

विजय त्याग की भोग पर, दिखलाता मतिमान्।
है दशार्णपुर नृपतिवत्, मानव वही महान्॥

हाथी पर आसीन राजा दशार्णभद्र के हजारो हाथी झूमने लगे। हिनहिनाते घोडे हवा मे बातें करने लगे। पदातियो के पाद-चाप से आकाश गूँज उठा। रथ आगे बढे। इन्द्र ने देखा भोग त्याग से स्पर्धा करने जा रहा है।

नगर के प्राकार की छाती को चीरकर राजा नगर से बाहर आया। सामने के उद्यान मे भगवान महावीर का समवसरण हो रहा था। भगवान पद्मासन की मुद्रा मे आसीन थे। दीर्घ तपस्वी का सान्निध्य पा, वह भूमि तपोभूमि हो रही थी।

राजा ने भगवान को देखा। सिर झुक गया, हाथ जुड गये। राजा नीचे भी न उतर पाया, इतने मे आकाश मे बिजली-सी कौंध गई। हजारो हाथी आकाश की छाती पर आ खडे हुए। वे हाथी इस धरती के हाथी नही थे। उनके पाँच-पाँच सौ मुँह और एक-एक मे आठ-आठ दाँत, एक-एक दाँत मे आठ-आठ वापियाँ, एक-एक वापी मे आठ-आठ कमल, एक एक कमल मे लाख-लाख पाँखुडियाँ, पखुडी-पंखुडी पर बत्तीस प्रकार के नाटक हो रहे थे। कमल की कर्णिका पर लगे आसन पर इन्द्र बैठा था। वह राजा को अभिभूत करने के लिए उतावला हो रहा था।

राजा की आँखें खुली। उसने सोचा—"यह मैंने क्या किया? मेरे भगवान् वैभव को ठुकरा कर भगवान बने, उन्ही को मैं वैभव दिखलाने चला। मैंने वन्दना के लिए सत्ता का उत्कर्ष क्यो ढूँढा? अब क्या होगा? इन्द्र जो आया है, मुझे परास्त करने के लिए। राजा आगे बढा और भगवान की चरण-धूलि चढ़ा ली। राजा बोला भगवन्! मैं तुम्हारी शरण मे हूँ। मेरा विनय स्वीकार कीजिए भगवन्! भगवान ने उसे अपनी शरण मे ले लिया। दशार्णभद्र अब राजर्षि हो गया।

तुम्हारी अहता अमर है राजर्षे! तुम जितकामी हो, अब तुम्हे कोई नही जीत सकता। देवराज राजर्षि के चरणो मे जा लोटा। दशार्णपुर के नागरिको ने देखा देवताओ ने देखा, भूमि और आकाश ने देखा, सबने देखा यह थी भोग पर त्याग की विजय। यह थी स्वर्ग पर धरती की विजय।



१०१. सती सुन्दरी (मानव-महान्)

तजे प्राप्त प्रिय भोग को, मानव वही महान्।
सती सुन्दरी ने किया, सयम मे स्थिर स्थान॥

भगवती ब्राह्मी को दीक्षित देखकर सुन्दरी का मन भी दीक्षा लेने के लिए उतावला हो गया। भरत की आज्ञा न मिलने से सुन्दरी दीक्षा ग्रहण न कर सकी। भाई भरत दिग्विजय को चले गये।

साठ हजार वर्ष तक दिग्विजय करते हुए राजा भरत छ खण्ड के प्रथम चक्रवर्ती बने। विजय-यात्रा से लौटने पर भरत का अयोध्या मे विजयोत्सव मनाया गया। वे शीघ्र ही स्वागत समारोह से निपट कर महलो मे पहुँचे। और सामने के शयन-कक्ष मे एक दुर्बल अस्थिपिंजर को श्वेत कपडो मे लिपटा देखा। वे आवाक् से रह गये। सिर चकराने लगा, आँखें फटी सी रह गई। "सुन्दरी"! तुम्हारा यह क्या

हाल हुआ ? लगता है शरीर मे रक्त और मांस का तो कही नामोनिशान नही है। मात्र हड्डियो का ढाँचा रह गया है। यह क्या हो गया तुम्हे ?"

"भाई हुआ कुछ नहीं।" मैंने तो किया है। जो शरीर, जो सुन्दरता, किसी के मोह, मूढता व विनाश का कारण बने वह शरीर और सुन्दरता किस काम की। धीमे स्वर मे सुन्दरी ने उत्तर दिया और आँखे झुकाली।

परिचारिकाओ की ओर देखकर भरत रोष के साथ बोले—तुम सब क्या कर रही थी ?" मैंने सुन्दरी की जिम्मेवारी तुम्हे सभलायी और तुमने इसकी कोई सभाल नहीं रखी। लगता है मेरे पीछे तुमने इसकी उचित सेवा नही की।

"महाराज" अविनय माफ करो, जब से श्रीमान् विजय-यात्रा पर पधारे हैं, राजकुमारी आयविल तप कर रही है। लाख समझाने-बुझाने पर भी एक न सुनी। बात काटते हुए बीच ही मे सुन्दरी बोल पडी—भाई ! इसमे किसी का दोप नही, मैंने स्वयं ही अपने शरीर को क्षीण किया है। तुमने मुझे सयम लेने से रोका तो मैंने घर मे ही अपनी साधना शुरू कर दी। मेरा देह-सौन्दर्य मुर्झा गया तो क्या हुआ, देखो न भाई ? आत्मा का अमर सौन्दर्य भीतर खिलता-सा लग रहा है।

भरत सुन्दरी के मुख पर दमकती अन्तर सौन्दर्य की निर्मल आभा देखकर स्तब्ध रह गये। उन्हें लगा, सचमुच जब मन विरक्त हो जाता है तो राजभवन भी तपोवन बन जाता है। भरत का हृदय बदल गया। सुन्दरी के हजार-हजार बोल उसे न समझा सके। उसकी मूक साधना ने प्रथम दर्शन मे ही समझा दिया।

"बहन ! क्षमा करो। मेरा मन भ्रान्त हो गया था। मैंने तुम्हे सयम साधना से रोकने की धृष्टता की, तुम्हारी तपोमय आत्मा का अपमान किया। क्षमा करो। चलो तुम भगवान् आदिनाथ के चरणो मे, मैं स्वय तुम्हारी दीक्षा के लिए प्रार्थना करूँगा। सुन्दरी का सत्याग्रह सफल हुआ।



१०२. स्थूलिभद्र का आदर्श (आदर्श)

रंगभवन मे जो रहे, अविचल मेरु समान।
स्थूलिभद्र आदर्श है, यह कोशा का गान॥

पाटलिपुत्र नगर के बाहर विशाल क्रीडा उद्यान मे एक ओर मच बना हुआ था। इस मच पर महाराज नन्द बैठे हुए अपने सारथियो के रथ-सचालन-कौशल का निरीक्षण कर रहे थे।

सध्या समय तक कौशल-प्रदर्शन के पश्चात् अधिकारियो ने एक सारथी का विजयी घोषित कर दिया। सारथी विजयोत्साह से प्रसन्न मन महाराज के समक्ष उपस्थित हुआ और सिर झुकाकर अभिवादन करके खडा हो गया।

महाराज नन्द ने उसे सम्बोधित करते हुए प्रसन्नतापूर्वक कहा—हम तुम्हारे कौशल से अति प्रसन्न हैं सौम्य ! आज की प्रतियोगिता मे तुम विजयी हुए। मगधराज से अपनी इच्छित वस्तु माँगो।

सारथी ने निवेदन किया—यदि मगध सम्राट प्रसन्न हैं तो मुझे नगर की अनिद्य सुन्दरी गणिका कोशा का सान्निध्य प्रदान करे।

मगधेश्वर ने तत्काल आज्ञा दी—गणिका कोशा आज से तुम्हारी हुई।

यह कहकर महाराज उठकर रथारूढ हुए और राजप्रसाद की ओर चल दिये। इधर वह सारथी कल्पना के घोडे पर सवार कोशा को पाने की इच्छा से राज्याधिकारियो को साथ लेकर गणिका के पास पहुँचा। राज्याधिकारियो के मुख से राजाज्ञा सुनकर कोशा सोच मे पड गई। इस नई आपत्ति से कोशा चिन्तित हो गई। उसने श्राविकाधर्म ग्रहण जो कर लिया था।

सारथी ने उसका हृदय जीतने के अनेक प्रयास किये लेकिन सुन्दरी कोशा के हृदय पर तो धर्म का ऐसा गहरा प्रभाव जम चुका था कि सारथी के सभी प्रयास व्यर्थ रहे। सम्भापण के मध्य मे बार-बार कोशा एक ही वाक्य कहती कि "पुरुप तो एक स्थूलभद्र ही है।"

एक दिन सारथी ने अपनी कुशलता दिखलाने के लिए उसने झरोखे मे बैठे-बैठे ही बाण चलाने शुरू किये और उनका एक ऐसा ताँता लग गया कि उनके सहारे से उसने दूर के आम्र-वृक्ष की फल सहित डालियो को तोड-तोड कर उसे कोशा के घर तक खीच लिया।

इधर कोशा ने भी अपनी कला दिखलाने के लिए आँगन में सरसो का ढेर करवाया, उस पर एक सुई टिकाई और एक पुष्प रखकर नयनाभिराम नृत्य करना शुरू किया। नृत्य को देखकर रथिक चकित हो गया। उसने प्रशसा करते हुए कोशा से कहा—"तुमने बडा अनोखा काम किया।"

यह सुनकर कोशा बोली—

न दुक्कर अवय-लुंबि तोडण
त दुक्कर सरिसव नच्चियाहं।
त दुक्कर त च महाणुभाव
जे सो मुणी पमयवणम्मि वुच्छो ॥

अर्थात् हे रथी "न तो बाण-विद्या से दूर बैठे आम की लुम्ब तोड लाना कोई अनोखा काम है और न सरसो के ढेर पर सुई रखकर और उस पर पुष्प रखकर नाचना ही। वास्तव मे अनोखा काम तो वह है जो महाश्रमण मुनि स्थूलिभद्र ने किया।

वे प्रमदा-रूपी वन मे नि शक विहार करते रहे, फिर भी मोह प्राप्त होकर भटके नही ।"

भोग के सभी अनुकूल साधन प्राप्त थे। पूर्व परिचित वेश्या और वह भी अनुकूल चलने वाली, षट्रसयुक्त भोजन, सुन्दर महल, युवावस्था, सुन्दर शरीर और वर्षा-ऋतु इनके योग होने पर भी जिन्होने असीम मनोवल का परिचय दिया, उन महान् कुशल आत्मा वाले स्थूलिभद्र मुनि को मैं बार-बार नमस्कार करती हूँ।

□

१०३. बन्दर और कौआ (चार पुरुष)

स्वार्थी मानव क्या नही, करता है अन्याय।
कौआ बोला पुरुप की, नीच प्रकृति है हाय ॥

घने जगल मे रात्रि के सन्नाटे मे एक वृक्ष पर वन्दर, कौआ, तोता, कवूतर इत्यादि साथ-साथ बैठे थे। वन्दर ने चुप्पी तोडते हुए कहा—"समस्त जीव योनि मे मनुष्य सर्वश्रेष्ठ प्राणी है।" वन्दर को सभी ने अपना समर्थन दिया। परन्तु कौए ने विरोध जाहिर करते हुए कहा कि मनुष्य सबसे अधम प्राणी है। कौए के विचारो से सभी बौखला उठे तथा बोले कि तुम हमारी गोष्ठी मे अब से दूर ही रहना।

कुछ दिनो पश्चात् एक मनुष्य के पीछे बाघ दौडा आ रहा था, अत वन्दर ने दया से मनुष्य की प्रार्थना पर पेड पर स्थान दे दिया। बाघ ने देखा कि शिकार तो हाथ से निकल चुका है, अत अपनी मायाजाल से वन्दर को फुसलाने की चेष्टा की जिससे कि वन्दर मनुष्य को नीचे गिराकर उसकी जठराग्नि शान्त कर दे, परन्तु वन्दर ने ऐसा नही किया। थोडी देर पश्चात् जब वन्दर ऊँघने लगा तो बाघ ने अपना तीर मनुष्य पर चलाते हुए कहा कि तू इसे नीचे गिरा दे। मैं इसे खाकर अन्यत्र चला जाऊँगा तथा तू अपने सुरक्षित स्थल को। मनुष्य—छीः-छी वन्दर ने मुझे प्राणदान दिया है। अत मैं ऐसा पाप नही करूँगा।" बाघ ने पुन तीखा तीर चलाते हुए कहा कि वन्दर के मर जाने से कोई फर्क नही पडेगा। क्योकि वह जगल का प्राणी है, परन्तु तुम्हारे पीछे तुम्हारा परिवार व दूकान इत्यादि है तथा मैं तुम्हे छोडकर अन्यत्र नही जाऊँगा। अगर तू वन्दर को नही गिरायेगा!

इस प्रकार स्वार्थ-भरी बातो मे फंसकर ज्योही मनुष्य वन्दर को नीचे धकेलने लगता है वह जाग जाता है। अत पेड की शाखाओ को पकड कर स्वय को बचा लेता है। पुन बाघ ने वन्दर से कहा—तुमने मनुष्य का स्वार्थ जान लिया। तूने जिसे बचाया था वही तुम्हे मारने को उद्यत हो गया है अत. अब तू इसे नीचे फेककर बदला ले। वन्दर ने कहा—मैं अब कह सकता हूँ मनुष्य अधर्मी हो सकता है परन्तु पशु नही। अत मैं कौए को सभा मे बुलाकर धन्यवाद दूँगा।

१०४ ललित-कुमार (सप्तव्यसन)

व्यसनो मे आसक्ति है, घोर दु ख की खान।
खो दी ललितकुमार ने, अपनी सारी शान॥

ललितकुमार एक समृद्धिशाली सेठ का लडका था। धनवान् की सन्तान ऐश-आराम मे अपने जीवन को स्वाहा कर देती है। ललितकुमार ने भी वैसा ही किया। एक दिन वह घूमता हुआ राजमहलो के नीचे पहुँच गया। रानी ने उसे देखा। वह सुरूप तो था ही, अत. रानी उस पर मोहित हो गई उसने अपनी भावना कुमार तक पहुँचाने के लिए फूलों की एक माला मे चिट्ठी बांध दी और नीचे खडे कुमार के गले मे डाल दी। कुमार ने ऊपर देखा और आंखो मे ही दोनो की बातें हो गईं।"

कुमार महलो मे पहुँच गया। राजा युद्ध करने के लिए गया हुआ था। दोनो को एकान्त का अवकाश मिल गया। युद्ध मे जाते हुए राजा को रोकते हुए पुरोहित ने कहा—आज का मुहूर्त अच्छा नही है। अत आप वापिस पधार जायें। ललित कुमार और रानी ने राजा को देख लिया। ललितकुमार घबराया, उसने रानी से छुपाने के लिए कहा, रानी ने कहा—और तो कोई स्थान नही है। केवल नीचे शौचालय है। तुम चाहो तो उसमे उतार दूं। जब राजा युद्ध मे चला जायेगा मैं तुम्हे ऊपर उठा लूंगी। और फिर हम लोग आनन्दपूर्वक रहेंगे। ललित कुमार ने यह स्वीकार कर लिया।

पुरोहित ने कई महीनो तक राजा को अच्छा मुहूर्त नही दिया। अतः वह युद्ध मे नहीं जा सका। रानी भी इसलिए ललितकुमार को महलो मे नही बुला सकी। वह वहाँ अकुलाने लगा। भूख प्यास से तड़फने लगा। एक दिन वर्षा मूसलाधार हुई। शौचालय मे ऊपर से नाला गिरा। पानी की बाढ-सी आ गई, और वह उसमे वह गया। पानी की तेज धारा मे वहता हुआ बाजार मे आ गया। सैंकडो लोगो ने ललित कुमार को वेहोशी की अवस्था मे देखा। घर वाले आये, उसे देखकर लज्जित हुए।

□

१०५ द्वारिका का दहन (मदिरा-त्याग)

दहन द्वारिका का हुआ, मद्य-पान के योग।
"मुनि गणेश" चेतावनी, क्यो न चेतते लोग ?

एक वार भगवान् नेमिनाथ से श्रीकृष्ण ने कहा—"प्रभो! द्वारिका का दहन किससे होगा ?"

भगवान् ने फरमाया—"इस नगरी का दहन मदिरा के योग से होगा।"

श्रीकृष्ण—"क्या किसी उपाय से दहन टल भी सकता है ?"

भगवान्—"जब तक नगरी मे उपवास, आयबिल आदि तप होता रहेगा, तब तक इस नगरी का कोई वाल-बाका नही कर सकता।"

श्रीकृष्ण भगवान् को नमस्कार करके वापिस राजभवन मे आये। और सारे शहर मे घोपणा कर दी कि कोई भी व्यक्ति अपने पास शराब न रखे। जितनी भी शराब हो उसको नगरी के बाहर डाल दिया जाये। और नगरी मे प्रतिदिन एक उपवास तथा आयंबिल अवश्य होना चाहिए। तप के प्रभाव से नगरी मे किसी भी प्रकार का सकट उत्पन्न नही होगा।"

श्रीकृष्ण का उपदेश होते ही नगरी मे तपस्या की मानो बाढ-सी आ गई हो।

एक बार कई राजकुमार जगल मे क्रीडा करने के लिए गए हुए थे। वापिस आते समय मार्ग मे तृषाकुल हो गये। वर्षाकाल का समय होने से जगह-जगह चट्टानो मे पानी भरा पडा था उन्होंने उस पानी को पी लिया। चन्द ही क्षणो मे सब नशे से चूर हो गये। क्योंकि उन चट्टानो मे कुछ शराब भी रह गई थी। कुछ ही दूरी पर द्वैपायन ऋषि ध्यानावस्था मे खडे थे। वे राजकुमार वहाँ जा पहुँचे। मुँह से ऋषि को अनर्गल शब्द बोलने लगे।

कुछ समय तक तो ऋषि शान्त रहे। आखिर व क्रोधाकुल होकर बोले—यदि मेरी तपस्या का कुछ भी फल हो, तो मैं इस नगरी का दाहक बनूँ।" ऋषि मर कर अग्नि देवता बना। पूर्व भव के वैर के कारण वह निरन्तर द्वारिका का दहन करने के लिए आता और लौट कर वापिस चला जाता। क्योकि तपस्या के आगे उसका जोर नही चलता था। इस प्रकार बारह वर्ष पूरे हो गये, किन्तु उसको ऐसा योग नहीं मिला, जिस दिन उपवास और आयबिल नगरी मे न हुआ हो।"

एक दिन एक-दूसरे के भरोसे रह गये। न किसी ने उपवास किया और न किसी ने आयंबिल। वह देव प्रतिदिन आता ही था। उसको मौका मिल गया। समस्त द्वारिका नगरी पर उसने धधकते हुए अगारो की वर्षा करनी शुरू कर दी। सारा शहर जल कर भस्म हो गया। केवल बलदेव और वासुदेव उस आग से निकल सके। इस भयकर सहार का मूलभूत कारण था—शराब।

□

१०६. परदोषदर्शी (दोषदर्शन)

पर-दूषण दर्शी करे, अपना अहित महान्।
दो पुरुषो का बुद्ध ने, बतलाया आख्यान ॥

बुद्ध के पास दो व्यक्ति आये। एक ने दूसरे की ओर सकेत करते हुए कहा—"भगवन्! यह श्वान की तरह दिन भर घूमता ही रहता है, अत. मर कर श्वान ही होगा न? दूसरे व्यक्ति ने प्रथम की ओर सकेत करते हुए कहा—"भगवन्! यह मार्जार की तरह दिन भर आँखें निकालता रहता है। मर कर मार्जार ही होगा न?" बुद्ध बोले—इसमे सन्देह नहीं कि मनुष्य जैसे-जैसे सस्कार यहां अर्जित करता है, जन्मान्तर मे वह वैसे-वैसे फल पाता है। तुम दूसरे को श्वान समझते हो, अत बहुत सम्भव है, तुम अगले जन्म मे श्वान ही हो जावोगे। यह दूसरो को मार्जार समझ कर चलता है। अतः सम्भव है, यह अगले जन्म मे मार्जार हो जायेगा। दोनो व्यक्ति अवाक् हो गये, मानो उनके पैरो के नीचे की धरती ही खिसक गई हो।

उक्त घटना-प्रसंग व्यक्ति को पर-द्रष्टा बनने मे पराङ्मुख करता है और आत्म द्रष्टा बनने के लिए प्रेरित करता है। व्यक्ति दूसरो की अपेक्षा अपने दोषो को देखता रहे, तो उसके दोषो का परिमार्जन हो जाता है, और सहज ही साधक की कोटि का पुरुष बन जाता है, दूसरो के दोषो को देखने की प्रकृति बहुधा हीनता और तुच्छता पर आधारित होती है, इससे दूसरो का परिमार्जन तो सम्भव होता ही नही, अपितु स्वय वह हीन व तुच्छ अवश्य बन जाता है। मनुष्य जब दूसरो की ओर अगुलि उठाता है तब वह यही देखता है कि मेरी शेष अगुलियां मुझे अपने ही दोष देखने के लिए सकेत करने लगी हैं।

□

१०७. भाई के प्रति बहिन का स्नेह (अर्थ)

हाय! अर्थ ही हो रहा, सब कुछ नि:सन्देह।
भाई के प्रति बहिन का, रहा न कुछ भी स्नेह ॥

कनकपुर नगर मे एक धनाढ्य सेठ अपनी पत्नी व लडके तथा लडकी के साथ आनन्द से रह रहा था। कुछ समय पश्चात् सेठ-सेठानी चल बसे। परन्तु भाई-बहिन मे आदर्श प्रेम की धारा बहती रही। बहिन का विवाह करके स्वयं ने भी अपना गृहस्थ कायम किया तथा ईमानदारी पूर्ण व्यवसाय के साथ स्वय आनन्द से दिन गुजारता रहा।

लडके का भाग्य धीरे-धीरे अस्ताचल की ओर लौटने लगा जिससे कि उसे अनेक उतार-चढावमय सघर्षों मे से निकलना पडा। जीवन का भरण-पोषण दुरूह जान

पडा तो अपनी पत्नी के निवेदन पर अत्यन्त दूर शहर मे धनोपार्जन के लिए चल पडा। सेठ का पुत्र दरिद्र अवस्था मे भी अपने स्वाभिमान की रक्षा करता हुआ चलते-चलते स्नेहवश अपनी वहिन के द्वार जा पहुँचा। परन्तु वहिन ने अनादर भाव से उसे अपने भाई को तुच्छ अगीठी सुलगाने वाला अनुचर कहा तथा उसे गायो के निवास-स्थान पर ठहरा दिया। सूखी रोटी व वासी साग खाने को दे दिया। ऐसा सब देखकर भाई का हृदय चूर-चूर हो गया। गला रुँधने लगा तथा आँखो के आगे अन्धेरा छाने लगा। इस प्रकार से अपमान का जहरीला घूँट पीकर भोजन को वही गाड कर धनोपार्जन के लिए आगे चल पडा। परन्तु उसे धैर्य प्रदान करने वाला कोई न था। थोडे दिन पश्चात् एक व्यवसायिक केन्द्र पर नौकरी प्रारम्भ की। उसका भाग्य सूर्य पुन प्रकाशित होने वाला है यह कोई नही जानता था। व्यापार की दक्षता के कारण लडके ने स्वय का व्यवसाय प्रारम्भ किया, तथा पुन उसी शान-शौकत की मजिल पर जा पहुँचा जो कि पहले प्राप्त थी। इस प्रकार कठोर श्रम से प्राप्त वैभव के साथ अपने घर को चल पडा। वहिन से मिलने की उत्कण्ठा हो उठी। वहिन से मिलने के पश्चात् वहिन के ममत्वपूर्ण भोज के निमन्त्रण को इस वात के साथ ठुकरा दिया कि वह तो गायो के स्थान मे ही रुकेगा। तथा वहाँ गाडा हुआ भोजन ही करेगा। इस प्रकार से वहिन के भोज को चुनौती देकर भोजन भी जमीन मे से नौकरो द्वारा निकलवाया, यह देखकर वहिन का अस्तित्व जमीन मे धँसने को तत्पर होने लगा तथा आँखें चकरा गई क्योकि उसने भाई का नही उसके वैभव का स्वागत किया। इस प्रकार से सेठ का लडका विना भोजन किये ही अपने अनुचरो के साथ गाँव चला गया।

□

१०८. श्रीमद् राजचन्द्र (व्यापारी)

व्यापारी व्यापार मे, रखे नीति उदार।
राजचन्द के चरित से, ले शिक्षा हरवार॥

महात्मा गाधी ने कहा है—"मैंने गुरु नही वनाया, किन्तु मुझे कोई गुरु मिले हैं। तो वे हैं, राजचन्द भाई।

ये राजचन्द भाई पहले बम्बई मे जवाहरात का व्यापार करते थे। उन्होने एक व्यापारी से सौदा किया। यह निश्चित हो गया कि अमुक तिथि तक, अमुक भाव मे, इतना जवाहरात व्यापारी देगा। व्यापारी ने राजचन्द भाई को लिखा-पढी कर दी।

सयोग की वात जवाहरात के मूल्य बढने लगे और इतने अधिक बढ गये कि यदि राजचन्द भाई को जवाहरात वह व्यापारी दे तो उसे उतना घाटा लगे कि उसका अपना घर भी नीलाम करना पडे।

श्री राजचन्द भाई को जवाहरात के वर्तमान बाजार भाव का पता लगा तो वे उस व्यापारी की दूकान पर पहुँचे। उन्हें देखते ही व्यापारी चिन्तित हो गया। उसने कहा—मैं आपके सौदे के लिए स्वय चिन्तित हूँ। चाहे जो हो, वर्तमान भाव के अनुसार जवाहरात के घाटे के रुपये अवश्य आपको दे दूँगा। आप चिन्ता न करें।

राजचन्द भाई बोले—"मैं चिन्ता क्यो न करूँ ? तुमको जब चिन्ता लग गयी है तो मुझे भी चिन्ता होनी ही चाहिये। हम दोनो की चिन्ता का कारण है यह लिखा-पढी। इसे समाप्त कर दिया जाये तो दोनो की चिन्ता समाप्त हो जाये।"

व्यापारी बोला—"ऐसे नही। आप मुझे दो दिन का समय दें, मैं रुपये चुका दूँगा।"

राजचन्द भाई ने कागज के टुकड़े-टुकडे करते हुए कहा—इस लिखा-पढी से तुम बँध गये थे। बाजार भाव बढने मे मेरा चालीस-पचास हजार रुपये तुम पर लेना हो गया। किन्तु मैं तुम्हारी परिस्थिति जानता हूँ। ये रुपये मैं तुमसे लूँ तो तुम्हारी क्या दशा होगी। राजचन्द दूध पी सकता है, खून नही पी सकता।"

वह व्यापारी तो राजचन्द भाई के पैरो पर गिर पडा। वह कह रहा था आप मनुष्य नही, देवता हैं।

क्या ही अच्छा हो कि छल-कपट, ठगी, मक्कारी, झूठ-फरेब करके किसी प्रकार दूसरे की परिस्थिति मे लाभ उठाने को आतुर आज का समाज इन महापुरुषो के उदार चरित्र से कुछ भी प्रेरणा लें।

□

१००. कृष्ण और नारद (अधिकारी)

सहन-शीलता का करे, अविकारी अभ्यास।
नारद बोले कृष्ण को, क्यों हो रहे उदास॥

सघीय शक्ति के निर्माण व कुशलता के लिए सहिष्णुता अत्यन्त अपेक्षित है। जो प्रमुख हो उसके लिए और अधिक। श्री कृष्ण गणतन्त्र के प्रमुख थे। अक्रूर और भोजवशी नरेश विरोधी दल के नेता थे। वे भी कृष्ण पर तीव्र प्रहार करते थे। एक दिन कृष्ण उनकी आलोचना मे खिन्न हो गये। इतने मे नारदजी आ गये। पूछा—"उदास क्यो हैं" ? कृष्ण ने उत्तर दिया—इनसे मैं तग आ गया हूँ। कोई मार्ग बताइये अब क्या करूँ ? नारद ने कहा—दो आपदाएँ होती हैं—बाह्य और आन्तरिक। आपके सामने आन्तरिक आपदा है। बाह्य आपदा को व्यक्ति शस्त्र से दूर कर सकता है। आन्तरिक आपदा मे शस्त्र काम नहीं देगा।" "तो फिर क्या किया जाये ?" तब नारद ने अनायस से उनकी जीभ बन्द करने की सलाह दी।

अनायसेन शस्त्रेण, मृदुना हृदयच्छिदा ।
जीह्वामुद्धर सर्वेषां, परिमृज्यानुमृज्य च ।।

—शस्त्र एक ही प्रकार का नही होता । वादशाह ने वीरवल से पूछा —"शस्त्र "क्या है ? वीरवल ने उत्तर दिया— 'अवसर" । वादशाह ने कहा—"क्या कह रहे हो ?" तलवार, भाला, तोप ये तो शस्त्र हो सकते है पर अवसर कैसे ?" वीरवल ने कहा—"कभी प्रामाणित करूँगा ।" एक दिन वादशाह की सवारी निकल रही थी । हाथी उन्मत्त हो दौडने लगा । वीरवल ने आगे वढ कर चारो तरफ देखा, एक कुत्ते के सिवाय कोई नही था । तत्काल उसने कुत्ते की टाग पकड कर घुमाया और हाथी पर दे मारा । हाथी वापिस मुड गया । शास्त्र भी कभी-कभी शस्त्र वन जाते हैं । कुत्ता क्या शस्त्र है ? पर अवसर था । कुत्ता शस्त्र वन गया । शास्त्र और शस्त्र मे केवल एक मात्रा का भेद है ।

शब्दो की चर्चा और शास्त्रो के प्रमाण से मनुष्य जितना पथमूढ वनता है, उतना शस्त्र से भी नही वनता । कभी-कभी प्रयोग मे शास्त्र भी शस्त्र जैसे वन जाते हैं ।

कृष्ण ने पूछा—"अनायस शस्त्र क्या है ?" इस पर नारद ने कहा—

'शक्त्यान्नदान सतत, तितिक्षार्जवमार्दव ।
यथार्त प्रतिपूजा च, शस्त्रमेतदनायसम' ।।

विरोधियो को जितना दे सके, अन्न दे । तितिक्षा रखें—उनके शब्द सुन तत्काल आवेश मे न आये । सरलता का व्यवहार रखें । मृदुता रखें । वडों का सम्मान रखें । यह अनायस शस्त्र है, विना लोहे का शस्त्र है ।

नारद ने कहा—"इस शस्त्र से आप उनको वश कर मे सकते हैं ।"

कृष्ण—"क्या मैं कमजोर हूँ ? क्या मुझ मे शक्ति नही है ? जो उनकी वातो को सहन करूँ ?"

गाली देने वाला प्रतिक्रिया मे गाली इसलिए देता है कि क्या मैं कमजोर हूँ ? तत्काल अह-भाव उभर आता है । व्यक्ति प्रतिक्रिया मे लग जाता है । नारद ने कहा—जो महान् होता है वही सहन कर सकता है ।

नाऽमहापुरुष कश्चित्, नाऽनात्मा नाऽसहायवान् ।
महती धुरमाधत्ते, तामुद्यम्योरसावह ।।

धुरा आपको चलाना है । जो महान् नही, वह सहन कर नही कर सकता । जो आत्मवान् नही वह सहन नही कर सकता । जो सहाय-सम्पन्न नही, वह सहन नही कर मकता । क्या आप महान् आत्मवान्, सहाय—सम्पन्न नही है ? कमजोर व्यक्ति सहिष्णु नही वन सकता । सहिष्णु वही वन सकता है, जो शक्तिशाली हो । वहाँ पीछे पर्दा है । पर्दे का होना और धूप का न आना—दोनो जुडे हुए हैं । वैसे ही शक्ति का होना और क्रोध का न होना, दोनो जुडे हुए हैं ।

११०. हंस और उल्लू (अध्यापक)

शिक्षक चलित न हो कभी, लोक प्रवाह समक्ष !
हंस और उल्लू यहाँ, उदाहरण प्रत्यक्ष !!

एक हस ने उल्लू से कहा—"यदि सूरज नही होता तो ससार की क्या दशा होती। उसके उदय से ही दिन होता है।"

उल्लू ने कहा—"न कभी सूरज उगता है और न कभी दिन उगता है। यह झूठी बात मैं कभी मान नही सकता।"

धीरे-धीरे इस विवाद ने झगडे का रूप ले लिया, जिससे दोनो ने इसका फैसला कराने का निर्णय किया।

पास मे उल्लुओ की पक्ति बैठी हुई थी। दोनो ने वहाँ जाकर अपना विवाद सुनाया।

सारी पक्ति मे हस का समर्थक एक भी मिलना सम्भव नही था। फिर भी हस ने अपनी सच्चाई को समझाने का बार-बार प्रयास किया।

इससे उल्लू क्रोधित हो गये और बोले—"क्या हम सभी झूठे हैं और तू अकेला सच्चा है ?"

इस पर जब हस ने अपना सत्याग्रह नही छोडा तो उसे दुराग्रहियो ने मार डाला। बहुमत का सिद्धान्त कितना अहितकर और अनर्थकारी हो सकता है। यह इस कहानी से बिलकुल स्पष्ट है। शिक्षक बधुओ को मिथ्या प्रवाह के सामने झुकना नही चाहिए। कठिन से कठिन परिस्थितियो और चुनौतियो का सामना कर निश्चित ध्येय से विचलित नही होना चाहिए।

□

१११. ज्ञान का अहं (विद्यार्थी)

पाकर थोडा ज्ञान जो, छात्र करे अभिमान।
स्थूलिभद्र की भाँति फिर, उसे न मिलता ज्ञान॥

वीर निर्वाण के १५६ वर्ष पश्चात् श्री सभूतिविजयगणी के उत्तराधिकारी श्री भद्रबाहु स्वामी के पास मुनि स्थूलिभद्र ज्ञानार्जन करने लगे। वीर निर्वाण के १६० वर्ष पश्चात् बारह वर्ष के लम्बे दुर्भिक्ष मे श्रमण-सघ छिन्न-भिन्न हो गया। दुर्भिक्ष के कारण अनेको बहुश्रुत सत अनशन करके देवलोक हो गये। भद्रबाहु स्वामी अनेको शिष्यो के साथ नेपाल की ओर गये, तथा महाप्राण ध्यान की साधना प्रारम्भ की। दुर्भिक्ष के पश्चात् सारे सघ ने पटना में एकत्रित होकर ग्यारह अंग सकलित किये

परन्तु बारहवें अग का भद्रबाहु स्वामी के अलावा कोई ज्ञाता नही था। अतः १५०० साधुओ ने नेपाल के लिए विहार किया, क्योकि संघ के अनुनय पर भद्रबाहु स्वामी ने बारहवें अग का ज्ञान देना स्वीकार किया। पाँच सौ विद्यार्थी साधु थे और एक हजार उनकी परिचर्या करने वाले। नेपाल मे साधुओ का अध्ययन प्रारम्भ हुआ। परन्तु शीघ्र ही स्थूलिभद्र के अलावा सभी थक गये। एक दिन उन्होने भद्रबाहू स्वामी से जिज्ञासा की—'महाराज, अब कितना अध्ययन अवशिष्ट है, क्योकि आठ पूर्व का अध्ययन हो चुका है।' भद्रबाहु स्वामी ने जवाब दिया—बिन्दु आया है, सिन्धु अवशिष्ट है।

भद्रबाहु स्वामी पुन पाटलिपुत्र मे शहर के समीपवर्ती उद्यान मे ठहरे। एक दिन मुनि स्थूलिभद्र के देवालय मे ध्यान करते वक्त यक्षा, यक्षदत्ता आदि बहन साध्वियो ने गुरु की अनुमति से देवालय मे दर्शनार्थ पहुँची। परन्तु मुनि ने अह वश ज्ञान प्रदर्शित करने हेतु शेर का रूप बनाया। साध्विया भय से आक्रान्त होकर पुन गुरु के समक्ष पूर्ण विवरण के साथ उपस्थित हुई। और भ्राता के दर्शन करके श्रेयक कुमार की दीक्षा सम्बन्धी जानकारी दी।

स्थूलिभद्र मुनि ने ध्यान समाप्ति पर गुरु से शास्त्राभ्यास प्रदान करने के लिए निवेदन किया। परन्तु गुरु ने कहा, ज्ञान पात्र को दिया जाता है न कि कुपात्र को। मुनि को जब सिंह के रूप में त्रुटि का मालूम हुआ तो गुरु के चरणो मे गिर कर अपने आपको धिक्कारा तथा अत्यन्त विनयभाव से भविष्य मे पुन पुनरावृत्ति नहीं होने का विश्वास व्यक्त किया। फिर भी भद्रबाहु स्वामी ने स्वीकृति नही दी। परन्तु सम्पूर्ण सघ के अनुनय-विनय को ध्यान मे रखते हुए केवल सूत्र का ज्ञान स्थूलिभद्र को दिया, किन्तु अर्थ रूप मे नही।

□

११२. बाहर काम अन्दर राम (प्रदर्शन)

बाह्य प्रदर्शन के लिए, है न धर्म मे स्थान।
नृप ने रानी को दिया, अनुपम धार्मिक ज्ञान॥

एक रानी बडी धर्मात्मा थी। पूजा, उपासना और माला जपना तो उसका मुख्य काम था। वह अपनी तरफ से पूर्ण सन्तुष्ट थी, किन्तु उसके मन मे एक बहुत बड़ी खटक यह थी कि राजा कभी राम का नाम नही लेता। रानी ने कई उपाय किये। पर सब व्यर्थ। एक बार बहुत ठण्ड पड रही थी। रात का समय था। राजा सोया हुआ था। उसका हाथ बाहर रह गया। ठण्ड के कारण उसमे इतनी अकड आ गई कि वह इधर-उधर नही हो सका। तब राजा के मुँह से निकल पडा कि हे राम! रानी ने राजा के मुह से यह सुना तो उसके हर्ष का पार नही रहा। उसने

इस खुशी मे सारे शहर मे उत्सव मनाने की घोषणा करवा दी। शहर मे असामयिक हलचल को देखकर राजा ने रानी से पूछा कि आज उत्सव किसलिए मनाया जा रहा है।

रानी-देव! आज मेरी वर्षों की साध फली है! जिसके लिए मैं कब से तड़फ रही थी? आपके मुह मे मैंने राम का नाम सुना है इसलिए यह सब कुछ हो रहा है। यह सुनते ही राजा का चेहरा उतर गया और उसने आह करते हुए कहा—हा आज मेरा सकल्प चकनाचूर हो गया है। मैं जिसे अपने हृदय मे रखना चाहता था वह मेरी असावधानी से आज बाहर निकल गया।

यह उदाहरण इस बात का प्रशिक्षण देता है कि धर्म प्रदर्शन की वस्तु नही। वह जीवन मे उतारने की वस्तु है। जिसके जीवन मे धर्म उतर गया, भले ही वह बाह्य क्रिया-काण्ड और उपासना नही करता हो फिर भी वह धार्मिक है। क्योंकि आत्मोपासना से बढकर कोई धर्म हो नहीं सकता।

□

११३ जम्बू स्वामी (टेढो खीर)

तजे प्राप्त प्रिय भोग धन, वह मानव है वीर।
जम्बू स्वामी की तरह, चलना टेढी खीर॥

सेठ ऋषभदत्त राजगृह का प्रमुख सेठ था। उनकी धर्मपत्नी का नाम धारिणी था। शुभ अवसर पर उनके एक पुत्र हुआ, नाम रखा गया "जम्बूकुमार"। वह हर दृष्टि से योग्य था। यौवन मे प्रवेश होते ही आठ कन्याओ के साथ उसकी शादी हो गई। कन्याओ के माता-पिता ने दहेज मे निन्याणवें करोड़ सोनैया, एक सौ बाणवे प्रकार के आभूषण आदि दिये। इधर जम्बूकुमार के हृदय मे सुधर्मा स्वामी का उपदेश नृत्य कर रहा था। उसकी वैराग्य भावना दिनोदिन विकास पर थी। उसकी विरक्त भावना से सारा परिवार परिचित था। वह ससार मे ऊब गया था। वह प्रतिदिन यही सोचता था कि इन नश्वर भोगो व चचल सपदा को छोड़कर जल्दी से जल्दी सयम ग्रहण करूं।

सायकाल जम्बूकुमार अपनी आठो नव वधूओ के साथ महल मे बैठा था। वह चाहता था कि सयम के श्रेय मार्ग पर अपनी सहधर्मिणियो को भी ले चलूं। वार्तालाप प्रारम्भ हुआ। परस्पर तर्क-वितर्क हुई। आठो का प्रयत्न था कि कुमार हमारी ओर आकर्षित हो जायें, सासारिक सुखो मे लीन बन जायें। जम्बूकुमार का प्रयत्न था कि आठो स्त्रियाँ विरक्त होकर मेरे साथ सयम ग्रहण करलें।

आखिर भोगो पर त्याग की विजय हुई। जम्बूकुमार प्राप्त भोगो को छोडकर सुधर्मा स्वामी के पास जाकर आठों स्त्रियो व अन्य पारिवारिक सदस्यो सहित ५२८ साधु बन गये।

११४. क्षुल्लक मुनि (नदी-नाव संयोग)

नट की वाणी का मिला, हितकारी सहयोग।
क्षुल्लक मुनि स्थिर हो गये, नदी-नाव सयोग ॥

चचल चित्त से क्षुल्लक कुमार अयोध्या आया। सध्या का समय था। अत उद्यान मे ठहर गया। रात्रि के समय नाटक देखने चला गया। राजा, राजपरिवार व सभी नागरिक नाटक देख रहे थे। क्षुल्लक मुनि की सारी रात नाच-गान मे बीत गयी। राजा से दान पाये बिना हतोत्साह नर्तकी की आखो मे नीद घूमने लगी। नट ने देखा नटवी रग मे भग कर देगी तो सारा परिश्रम निष्फल हो जायेगा। उसने नटवी को समझाने के लिए एक गाथा गायी —

बहुत गयी थोडी रही, मन मत व्याकुल होय।
धीरज सबका मित्र है, करी कमाई न खोय ॥

नटवी ने जब यह सुना तो वह उसका मर्म पाकर द्विगुणोत्साह से नृत्य-गान करने लगी। गाथा के परमार्थ से प्रतिबोध पाकर क्षुल्लक मुनि ने लक्ष मूल्य कम्बल व रत्न, राजकुमार जसभद्र ने कुण्डल युग्म, सार्थवाह सिरिकाता ने हार, मन्त्री जय-सधि ने कड़े, कर्णपाल पीलवान् (महावत) ने अकुश क्रमश. तत्काल दे डाले। यह पाचो वस्तुऐं लाख-लाख रुपये की थी। नटवी निहाल हो गयी।

अपने से पूर्व दिया गया दान देखकर राजा मन ही मन जल भुन गये और नाट्य मण्डप से उठ गये। उसने प्रात.काल पाँचो को बुलाकर उनसे पहले दान देने का कारण पूछा। राजकुमार ने कहा—आपके दीर्घायु होने से अब तक मैं राजगद्दी से वचित रहा। अत मैंने सकल्प किया था कि नाटक उठते समय राजा को मार कर राजा बनूंगा। पर उपयुक्त गीतिका से प्रतिबोध पाकर मैंने दान दे डाला। राजा ने कहा—मैं तुम्हें राज्य देता हूं। ग्रहण करो। किन्तु राजकुमार राज्येच्छा से विरत हो चुका था।

क्षुल्लक मुनि ने अपना सारा वृत्तान्त सुनाया माता द्वारा मुद्रा व रत्न कम्बल देकर भेजने व आधा राज्य पाने की अभिलाषा से आने का कारण बताया। ४८ वर्ष तक सयमी रहने वाले की यह विभ्राति समुद्र पार कर गोपद मे डूब मरने के सदृश समझी और इस गीतिका के प्रतिबोध पर रत्न कम्बल दान कर दिया। राजा ने कहा प्रसन्नता से राज्य लो, अन्त पुर-स्त्री पाणिग्रहण करके राज्य-लक्ष्मी भोगो। अन्तिम अवस्था मे फिर प्रव्रजित हो जाना। पर क्षुल्लक मुनि को अब भोगो से सर्वथा विरक्ति हो गयी थी। अत उसने भी संयम मार्ग पर स्थिर रहने का निर्णय सुना दिया।

मन्त्री ने कहा—अधिक ग्रास (पद-सम्पदा) पाने के लोभ से मैंने शत्रु राजा से मिल कर आपको राज्यच्युत करने का षड्यन्त्र किया था पर मैंने भी गीतिका से प्रतिबोध पाया और इसी कारण आप से पहले दान देने का दुस्साहस किया।

सेठानी ने कहा—पति को प्रवासी हुए बारह वर्ष बीत गये। अब धैर्य धारण करने मे असमर्थ होकर मैंने कुलाचार लोपने की ठान ली थी। पर गीतिका से प्रतिबोध पाकर मैंने अपना हार देकर कृतज्ञता प्रकट की।

महावत ने कहा—मैं भी अधिक ग्राम पाने के लोभ से हाथी को अपहरण कर राजा के पास जाने को कृतसंकल्प था पर गीतिका का प्रतिबोध पाकर 'सत्कार अकुश' दान कर डाला।

राजा ने सबकी मनोवाछा पूर्ण कर देने की इच्छा व्यक्त की पर उन पांचों के हृदय मे विवेक जाग्रत हो चुका था। क्षुल्लक मुनि ने धर्म देशना देकर सबको सवेग रग मे रंग दिया, जिससे चारो चारित्र परिणाम वाले होकर क्षुल्लक मुनि के साथ ही सद्गुरु के पास जाकर प्रव्रजित हो गये। दूसरे श्रोताओ पर भी देशना का सुन्दर प्रभाव पडा। □

११५ लोहवणिक् (क्या जीवन है आज)

लोहवणिक की भाति है, आग्रह बे-अन्दाज।
नही हिताहित सोचते, क्या जीवन है आज॥

चार मित्र थे। धन कमाने के लिए चारो प्रदेश के लिए रवाना हुए। चलते-चलते लोहे की खदान आ गई। चारो खदान मे से कुछ लोहा लेकर आगे चले। मार्ग मे फिर तावे की खदान आ गई। तीन मित्रों ने लोहा फेंककर गठरी मे तावा बाँध लिया। चौथे ने कहा—मैंने तो ग्रहण कर लिया सो कर लिया, बदलना अच्छा नही लगता। वे फिर आगे बढे। कुछ ही दूरी पर चाँदी की खदान आ गई। तीनो ने तांबा फेंककर चाँदी ले ली। किन्तु चौथा जड था। उसने चाँदी नही ली। आगे चलते-चलते स्वर्ण की खदान आ गई। तीनो ने चाँदी फेंककर सोने से गठरिया बाध ली। किन्तु वह टस से मस नही हुआ लोहा लादे खडा रहा। फिर आगे चले। रत्नो का ढेर दिखाई दिया। तीनो ने सोना फेंक दिया और रत्नो से गठरी बाध ली। चौथा अपने आग्रह पर अडा रहा। वह हिताहित की बात को नही समझ रहा था। तीनो बोले अब तो लोहा फेंककर रत्न ले ले। किन्तु वह कहाँ मानने वाला था।

आखिर अपने नगर मे पहुँचे। तीनो ने रत्न बेचकर लाखो की सम्पत्ति अर्जित करली। ऐश आराम से रहने लगे। चौथा मित्र लोहा बेचकर अल्प धन से घर गया। बडी मुश्किल से गुजारा होने लगा। उसको पता लगा कि मेरे तीनो मित्र करोडपति बन गये हैं। बड़ी-बडी अट्टालिकाएँ बनाली हैं। अनेक नौकर-चाकर उनकी सेवा मे तैयार रहते हैं। यदि उनका कहना मान लेता तो मैं भी करोडपति बन जाता। जीवन-निर्वाह की सारी समस्या समाहित हो जाती। मगर मैंने आग्रह को नही छोडा। इस प्रकार वह बनिया पश्चात्ताप करने लगा, किन्तु अब पछताये होत क्या जब चिडिया चुग गई खेत।

११६. नन्दीसेन (एक पन्थ दो काज)

सेवा करना रुग्ण की, आत्म-शुद्धि का काज।
मुनिवर नन्दीसेन का, अमर नाम है आज ॥

नन्दीसेन नाम के एक तपस्वी मत थे। एक महीने के बाद एक दिन भोजन और तीन दिन तक ध्यान कायोत्सर्ग करते थे। तपस्या से उनका शरीर अस्थि-पिंजर जैसा हो गया था। तपस्या के साथ-साथ वृद्ध ग्लान व बाल मुनियो की अग्लान भाव से सेवा करना उनका सकल्प था। कोई साधु कही रुग्ण होते, सूचना मिलते ही वे वहाँ पहुँच जाते। एक दिन नन्दीसेन मुनि एक महीने की तपस्या का पारणा करने के लिए बैठे थे। एक ग्रास हाथ मे लिया था और मुँह मे रख रहे थे कि अचानक एक मुनि आये और नन्दीसेन मुनि को ललकारते हुए बोले अरे मुने! तुम तो पारणा कर रहे हो और शहर के बाहर रोगी साधु तडफ रहा है। उनकी सेवा करना क्या कर्तव्य नही है। सेवा का दम्भ करना सरल है और सेवा करनी वडी मुश्किल है।

यह सुनते ही नन्दीसेन मुनि तत्काल वहाँ पहुँचे। और समता मे रमण करते हुए बोले—मुनिप्रवर! मुझे आपके पास पहुँचने मे कुछ विलम्ब हो गया, क्षमा चाहता हूँ। कृपया शहर मे पधारें। वहाँ उपचार की सुविधा है। रुग्णमुनि बोले—मेरे से चला नहीं जाता। क्या तू मुझे कंधे पर ले जा सकता है? उन्होने स्वीकार कर लिया। कधे पर विठा कर चल पडे। रुग्ण मुनि ने कधे पर बैठे-२ पाखाना कर दिया चारो ओर वदवू उछलने लगी। फिर भी नन्दीसेन मुनि अग्लान भाव से चल रहे हैं। ज्योही स्थान पर पहुँचे। उनको अपने कन्धे से उतारा। वहाँ न कोई मुनि दिखाई पडे और न कोई पाखाना। केवल एक दिव्य ध्वनि चारो ओर प्रतिध्वनित हो रही थी।

"हे नन्दीसेन मुनि! तुम्हारी सेवा भावना को शतश. साधुवाद।"

□

११७. कुण्डरीक (मन जाता है टूट)

कायर नर का कष्ट मे, मन जाता है टूट।
कुण्डरीक ने खो दिया, अपना धैर्य अटूट ॥

पुण्डरीक और कुण्डरीक दो भाई थे। स्थविर मुनि के पास कुण्डरीक ने दीक्षा ली। कुण्डरीक मुनि घोर तपस्या करने लगे, उनका शरीर कृश हो गया। फिर भी वे ग्रामोनुग्राम विहरण करते हुए पुन उसी पुण्डरीकिणी नगर मे पधारे। राजा पुण्डरीक दर्शन करने आया। कुण्डरीक मुनि अस्वस्थ थे। राज वैद्य का उपचार चला। स्वस्थ हो गये फिर भी जिह्वा की लोलुपता से मुनि विचलित हो गये। साधना से विमुख वन

गये ! पुण्डरीक राजा को पता चलते ही वह बोला—हे कुण्डरीक मुनि । धन्य है आपको । उभरते हुए यौवन मे आप सत बने । मुनि कुण्डरीक ने अपने दिल की बात बता दी । पुण्डरीक के प्रयत्न से एक बार तो मुनि सयम मे स्थिर हो गया । विहार कर गये ।

एक बार पुन: उनका मन चचल हो गया । किसी को कहे बिना ही अपनी नगरी मे आ गये और पुण्डरीक के पास पहुँचे मुनि कुण्डरीक ने कहा—हे पुण्डरीक । मुझे धर्म-कर्म अच्छा नही लगता है । मैं इस व्याधि को सह नही सकता, मेरा मन टूट गया है । भाई पुण्डरीक ने कुण्डरीक को ललकारते हुए कहा—ले, तू यदि सयम जीवन नही जी सकता तो अपने वस्त्र मुझे दे दे और मेरे राज्य चिन्ह तू ले ले । दोनों ने वेशभूषा का परिवर्तन कर लिया । पुण्डरीक मुनि वहाँ से विहार कर स्थविरो के पास पहुँच गये । उन्होंने प्रव्रज्या ग्रहण की और सातवे ही दिन आयुष्य पूर्ण कर सर्वार्थ सिद्धि विमान मे उत्पन्न हो गये ।

कुण्डरीक राजा बन गया ! ऐहिक विषय वासना मे डूब गया । आसक्त बन गया । शरीर मे विभिन्न प्रकार के असाध्य रोग उत्पन्न हो गये । सातवे दिन वह भी मृत्यु को प्राप्त होकर सातवी नरक मे जाकर पडा ।

□

११८ सेठ की कलम (अन्योक्तियाँ)

छूरी और कलम मे, यहा न कुछ भी भेद ।
कहा जाट ने सेठ को, यही मुझे है खेद ॥

सेठ की दूकान पर एक जाट वस्तु खरीदने आया । सेठ लिख रहा था । कलम को कान पर रखते हुए वस्तु देने के लिए खडा हुआ । सयोग की बात कलम कान से नीचे गिर गई । जाट बोल उठा सेठजी, आपकी छुरी गिर गई । सेठ ने कहा—' छुरी कहाँ है ?'' यह तो कलम है । जाट बोला—'मुझे क्या पता यह कलम है । मेरा गला तो इस छुरी ने ही कई बार काटा है ।'

□

११९. भले जीओ, भले मरो (स्फुट)

सयममय जीवन-मरण, दोनो ही है सार ।
भले मरो जीओ भले, मानव चार प्रकार ॥

एक बार भगवान् महावीर समवसरण मे बैठे थे । वहाँ राजा श्रेणिक, अमात्य अभयकुमार और कसाई कालसौकरिक भी उपस्थित थे । एक ब्राह्मण वहाँ आया ।

उसने भगवान् महावीर से कहा—मरो। राजा श्रेणिक से कहा—मत मरो। अमात्य अभयकुमार से कहा—भले मरो भले जीओ। कालसौकरिक से कहा—मत मरो, मत जीओ।

ब्राह्मण यह कहकर चला गया। राजा श्रेणिक का मन इन वाक्यो से आन्दोलित हो उठा। उसने भगवान् से पूछा। भगवान ने कहा—राजन्! वह ब्राह्मण के वेश मे देव था। उसने जो कहा सत्य है। उसने मुझे कहा मर जाओ। इसका तात्पर्य है कि मरते ही मुझे मोक्ष की प्राप्ति हो जाएगी। उसने तुझे कहा—मत मरो। यह इसके लिए कि तुम्हे मरने के वाद नरक मिलेगा। अमात्य से कहा—भले मरो, भले जीओ। क्योकि वह मरने पर स्वर्ग प्राप्त करेगा और यहाँ भी उसे सुख ही है। कालसौकरिक से कहा—मत मरो, मत जीओ। क्योकि उसका वर्तमान जीवन भी पापमय प्रवृत्तियो मे आक्रान्त है और मरने पर भी उसे नरक ही मिलेगा।

इससे यह स्पष्ट फलित होता है, कि जीना अच्छा भी है और बुरा भी, मरना अच्छा भी है और बुरा भी।

□

१२० मरणोत्सुका वृद्धा (मृत्यु)

मरणोत्सुक भी मौत से, डरता है हरबार।
बुढिया देख भुजग को, दौडी तज घर द्वार॥

एक वृद्ध महिला अपने घर मे अकेली ही रह गई। उसके लडके, पोते, देखते-देखते ही चल बसे। इससे वह बहुत दु:खित हुई। अडोस-पडोस मे तो क्या, गांव मे भी वह सबसे वृद्धा थी। आए दिन कहती रहती, परमेश्वर मेरे नाम की चिट्ठी भेजना भूल गया। मैं तो बार-बार राम से प्रार्थना करती हूँ कि वह मुझे अब जल्दी ही उठा ले। मेरे जीने मे क्या सार रह गया है।

लोग कहते—बुढिया! जब तक मौत नही आती यही कहती हो, किन्तु जब वह आयेगी, छुपने के लिए सबसे आगे दौडोगी।

बुढिया कहती—नही, मैं तो उसके स्वागत के लिए तैयार हूँ। वह आए भी तो।

बुढिया को इस प्रकार की बातें बनाते बहुत दिन बीत गए। एक दिन उसके घर मे एक बडा-सा काला सर्प निकल आया। बुढिया ने ज्योही देखा, घबरा कर बाहर दौड़ आई। हल्ला मचाने लगी—बचाओ बचाओ। लोग दौडते हुए आए। बुढिया मे सर्प की घटना सुनी तो कहने लगे—तुम तो मौत चाहती थी न? यह यमराज का दूत ही तो है और तुझे लेने के लिए आया है, घबराती क्यो हो?

बुढिया बोली—ऐसे तो मैं नही मर सकती।

१२१. थावच्चा-सुत (शोक)

हास्य और है रुदन का, सगम यह ससार।
थावच्चा सुत को हुआ, यह अनुभव अविकार ॥

थावच्चापुत्र अपने आवास की ऊपरी भूमिका पर खडा-खड़ा कुछ गीत सुनने मे लीन हो गया। माता के पास आकर उसने पूछा—यह क्या है ? क्यों है ? माता ने कहा—पडौसी के घर पुत्र का जन्म हुआ है इसलिए गीत गाये जा रहे हैं। पुत्र ने कहा—क्या मेरे जन्म उपलक्ष मे गीत गाए थे। माता—हाँ, पुत्र ! इससे भी अधिक और मधुर गीत गाए थे, थावच्चा पुत्र पुन छत पर आ गया और गीत सुनने मे लीन हो गया। कुछ ही समय के पश्चात् दौडा-दौडा मा के पास आया और पूछने लगा—माँ ! अब ये गीत सुहाने नही लगते, क्या बात है ? क्या ये गीत गाने वाले दूसरे हैं। माँ—गाने वाले तो वे ही हैं, किन्तु अब परिस्थिति बदल गई है, अभी थोडी देर पहले जिसका जन्म हुआ था उसका अब देहान्त हो गया। अत वह गीत रोने मे बदल गये।

थावच्चापुत्र सुनते ही सन्न-सा रह गया। वह अकुलाता हुआ बोला—माँ ! व्यक्ति मरता क्यों है ? क्या मुझे भी इसी प्रकार मरना होगा ? माँ ने कहा—जो प्राणी जन्मा है, वह एक दिन मरता ही है। माँ के इस शाश्वत सत्य को जान कर थावच्चा पुत्र जन्म-मरण से भयभीत हो गया और इस नि सार ससार को त्याग कर दीक्षित हो गया।



१२२. जिनदत्त (चिन्ता)

चिंता करना व्यर्थ है, करो धर्म अविराम।
हो जाये जिनदत्त सम, शीघ्र सफल सब काम ॥

पोतनपुर मे जिनदत्त नाम का सुप्रसिद्ध व्यापारी रहता था। उसकी पत्नी का नाम पूर्णा था। जैनधर्म के प्रति बडी निष्ठा थी। सुपात्र दान के लिए तो वह तडफता ही रहता था। एकदा वहाँ आचार्य का आगमन हुआ। हजारो नागरिकों के साथ वह भी प्रवचन सुनने गया। उपदेश से प्रभावित होकर उसने एकान्तर उपवास व दोनों समय प्रतिक्रमण का नियम लिया।

"सब दिन होत न एक समान" जिनदत्त के जीवन मे परिवर्तन आया, लाखो-करोडो का नुकसान होते ही जिनदत्त एकदम निर्धन बन गया। उदर पूर्ति समस्या हो गई। पूर्णा ने कहा—मेरे पीहर जाइये वहाँ आपको खूब धन मिलेगा। उसे यह

उचित नही लगा। पत्नी के आग्रह को टाल न सका। वह जाने के लिए तैयार हुआ। पत्नी ने पाथेय के लिए सत्तू बनाकर जिनदत्त को दिया।

जिनदत्त वहाँ से चला। यात्रा मे भी उसने एकान्तर तप नही छोडा। दूसरे दिन मध्यान्होपरात एक वृक्ष के नीचे बैठकर पारणे की तैयारी की। उसने मन ही मन सोचा—घर पर तो दान देने का अवसर मिलता ही रहता है, आज यदि यहा मिल जाए तो, पात्र-दान देकर पीछे पारणा करूँगा। उसकी प्रबल भावना से भावित होकर अचानक एक मुनि वहा पधार गये। मासखमण का पारणा था। मुनिवर को देखकर जिनदत्त पुलकित हो उठा। वन्दन करते हुए आहार ग्रहण कर विशेष लाभ देने का आग्रह किया। मुनिवर ने उसे स्वीकार कर लिया। पात्र-दान से उसने विशेष पुण्य अर्जित किया।

चौथे दिन जिनदत्त अपने ससुराल पहुँचा। वहाँ पारणा किया। श्वसुर और दामाद का वार्तालाप प्रारम्भ हुआ। उसने दयनीय स्थिति को प्रस्तुत करते हुए कुछ पूँजी की याचना की। सुख मे साथी सब होते हैं दु ख मे कोई नही। ससुराल की तरफ से तनिक भी सहयोग नही मिलने से वह अपने घर की ओर चल पडा। नगर के समीप पहुँचा। नदी के तट पर शीतल छाया मे बैठकर चिंतन करने लगा—पत्नी के आग्रह से ससुराल गया, उसे अपने पिता पर भरोसा था, किंतु मैं तो खाली हाथ लौटा हूँ। उसे आघात पहुँचेगा। इसी चिंतन से उसने नदी के पत्थरो की एक गठरी बाधी और सिर पर रखकर चल पडा।

घर पर पहुँचा। गठरी को देख कर पूर्णा पूर्ण प्रसन्न थी। गठरी को अपने हाथो से उतारा और घर मे ले गई। एकान्त मे उसे खोला। बहुमूल्य रत्न निकले। पूर्णा ने सोचा—मेरे पिताजी कितने दयालु हैं। कितना सहयोग मिला। पूर्णा एक रत्न लेकर एक व्यापारी की दुकान पर पहुँची। रत्न को बधक के रूप मे रखकर उसने भोजन सामग्री खरीदी। स्वादिष्ट व सरस भोजन बनाकर अपने पति को खाना हाथ से परोसा।

स्वादिष्ट भोजन देखकर जिनदत्त ने कहा—पूर्णा! कर्ज लेकर इतने सरस भोजन बनाना मेरी दृष्टि मे उचित नही है। तू कर्ज करती जा रही है, मैं इससे कैसे मुक्त होऊगा।

पूर्णा मुस्कराकर बोली—कर्ज नही लिया गया है। यह मेरी सूझ-बूझ का ही फलित है। पिताजी ने जो आपको रत्न दिये थे, उनमे से एक को गिरवी रखकर मैंने यह भोजन पकाया है।

जिनदत्त उसी समय अन्दर गया। गठरी को खोलकर देखा तो रत्न ही रत्न चमक रहे हैं। पत्थर समझकर गठरी को बाधा था। दान के प्रभाव से ही सारे पत्थर रत्न हो गये।

उसने अपनी पत्नी से कहा—

भोली मुध्दम गव्वकरि, नवि दिन्न किपि तुज्झ भायाए।
सत्तूयदाण-पभवा रयणमया कक्करा जाया ॥

—जो रत्न मुझे मिले हैं, वे तेरे पीहर के नही हैं। सुपात्रदान के प्रभाव ने कंकर रत्न बन गये हैं।

जिनदत्त ने रत्नो को बाजार मे बेचकर करोडो की सपत्ति घर में करली। सुपात्रदान मे उनकी गहरी निष्ठा जागृत हो गई। श्रावकत्व की सम्यग् आराधना करते हुए उन्होंने अपना कल्याण किया।

□

१२३. प्रतिबोध (कुलपुत्र को प्रतिबोध)

सफल न करना चाहिए, सब स्थानो मे क्रोध।
माता ने निज पुत्र को, दिया सुखद प्रतिबोध ॥

कुल-पुत्र एक क्षत्रिय कुमार था। उसके बडे भाई की किसी ने निर्मम हत्या कर दी। मा ने कुलपुत्र को कहा—तेरा बडा भाई मारा गया, तू गीदड की तरह घर मे बैठा है। तेरे से यदि कुछ भी नही होता हो तो तलवार मुझे दे। मैं एक क्षत्रियाणी का पौरुष दिखलाती हूँ।

यह ललकार सुनते ही कुलपुत्र की भुजाए फडक उठी। माँ ! जब तक भाई के हत्यारे को तेरे सामने उपास्थित नही कर दूँ तब तक तुझे मुंह नही दिखाऊंगा। यह प्रतिज्ञाबद्ध होकर कुलपुत्र घर से निकल पडा। उसे खोजते-२ बारह वर्ष बीत गए। आखिर वह शत्रु उसे मिल ही गया। कुलपुत्र का रोष उभर आया। उसने शत्रु को पकडकर पिंजरे मे डाल लिया। वह उछलता हुआ घर आया और बोला—माँ ! अब थपथपाओ मेरी पीठ, शत्रु को ले आया हूँ। अब इसे परमधाम पहुँचाने की थोडी देरी है।

हत्यारे का कलेजा काप उठा और कुलपुत्र के पैरो मे गिरता हुआ पुन-पुन. क्षमा मांगने लगा। किन्तु क्षमा कहाँ मिलने वाली थी ? हत्यारे ने जमीन पर पडा एक तिनका मुंह मे डाल लिया। तलवार ज्योही गर्दन पर आने लगी, माँ ने कुलपुत्र से कहा—बेटा ! क्षमा करो। अब यह अवध्य हो गया है।

कुलपुत्र बोला—माँ ! यह कैसे हो सकता है ? इतने श्रम से तो पकडकर लाया हूँ। मेरी प्रतिज्ञा पूरी हो रही है। माँ ! मुझे मत रोको। दुष्टता का फल चखाने दो।

माँ—नही बेटा ! मारने वाला बडा नही होता, क्षमा देने वाला बडा होता

है। देख, इसने अपने मुँह मे तृण ले लिया है। इस तरह समर्पण करने वाले को क्षत्रिय कभी नही मारता।" माँ के एक वाक्य ने कुलपुत्र का हृदय बदल दिया और उसका सारा अपराध माफ कर दिया। दोनो भाई बन गए।

□

१२४. परोपदेशे पाण्डित्यं (उपदेश)

मिलते पर शिक्षा कुशल, जग मे लोग अनेक।
थाली के उपदेश से, कब हो बैंगन एक॥

एक भट्टजी कथा-वाचन करते थे। अनेको भक्त उनकी कथा सुनने के लिए आते थे। एक दिन भट्टजी की सुपुत्री भी कथा सुनने को चली गई। कथा मे बैंगन का प्रसग चल रहा था। भट्टजी ने भक्तो को उपदेश देते हुए कहा—'बैंगन किसी को नही खाने चाहिये' उसमें बीज बहुत होते हैं। अत वह वायु-कारक होता है। पुत्री ने सोचा—पिताजी तो निरन्तर बैंगन खाते हैं। और कहा भी करते हैं—"नीली टोपी श्याम घटा, सब शाको मे शाक भटा" किन्तु आज तो बिल्कुल विपरीत नजर आ रहे हैं। बैंगन की तो खुलकर निन्दा कर रहे हैं। ऐसा आभास होता है कि पिताजी को बैंगन की बुराइयो का आज ही पता चला है। वह दौडी-दौडी घर आई और बोली "अब बैंगन का शाक मत बनाना" पिताजी नही खायेंगे। मैं कथा सुनकर आई हूँ।

अम्मा—"पुत्री! वे बैंगन नही खायेंगे, तो मैं किसके लिए बनाऊँगी तुमने अच्छा किया जो सचेत कर दिया।"

भट्टजी कथा समाप्त करके घर आये। भोजन के लिए बैठे, ब्राह्मणी ने भोजन परोसा। अन्य तरकारियो के साथ बैंगन की तरकारी नजर नही आने से भट्टजी बोल पडे—"आज बैंगन का शाक क्यो नही बनाया?" उसके बिना भोजन स्वादिष्ट नही लगता। क्या घर मे बैंगन नही थे?

ब्राह्मणी ने कहा—"मैं बैंगन का शाक बना ही रही थी, इतने मे यह पुत्री दौडी-दौडी आई और इसने बैंगन बनाने के लिये मना कर दी।'

पुत्री को ललकारते हुए भट्टजी ने कहा—"अरी! तूने बैंगन का शाक नही बनने दिया। किसलिये निषेध किया?"

पुत्री ने विनयपूर्वक कहा—"पिताजी! आपने कथा मे बैंगन को आध्यात्मिक व शारीरिक दोनो ही दृष्टि मे अभक्ष्य बताया था। मैंने सोचा, आप इतनी निन्दा करते हैं, तो आप स्वय कैसे खायेंगे? इसलिए मैंने निषेध किया।"

भट्टजी बोले—"पुत्री, तू तो भोली है। तुझे इतना ज्ञान कहाँ कि कथा के

वैगन अलग होते हैं और थाली के अलग। कथा मे तो जो बात आती है वह कहनी ही पडती है। ऐसा अगर उपदेश न करें, तो आजिविका कैसे चले।

"उपदेश के अनुसार अपने आप को चलाने की आवश्यकता नही है।" भट्टजी ने उसी वक्त वैगन का शाक बनवाया।

□

१२५. चक्रवर्ती का भोजन (दुर्लभ)

करो धर्म उपासना, कट जाए सब रोग।
चक्री भोजन की तरह, दुर्लभ नर-भव योग॥

एक भूखा ब्राह्मण चक्रवर्ती की सभा मे पहुँचा। उसने अपनी दीनावस्था से चक्रवर्ती को परिचित किया। चक्रवर्ती ने उसकी गरीबी को देखकर कहा—तू यथेच्छ वर माँग सकता है। वह सोचने लगा क्या मागू। आखिर अपनी श्रीमती से सलाह करने के लिए घर पहुँचा। विभिन्न प्रकार का चिन्तन चला, अन्त मे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि प्रतिदिन एक-एक घर पर खीर-खांड का भोजन मिले व सोने की एक मोहर मिल जाय। बस यही वर मागना है। इसी से अपना जीवन सुख मे व्यतीत होगा।

दूसरे दिन ब्राह्मण राजसभा मे पहुँचा। अपना प्रस्ताव चक्रवर्ती के सम्मुख रखा। चक्रवर्ती मन ही मन कुछ हँसा और उसके भाग्य पर तरस भी आई। आखिर सारे शहर मे आदेश प्रसारित कर दिया—"इस ब्राह्मण दम्पति को प्रतिदिन एक-एक घर भोजन कराया जाय और दक्षिणा मे एक मुहर दी जाय।" पहले दिन चक्रवर्ती के महलो मे भोजन कराया गया। सुसस्कारित खीर व सुस्वादु भोजन से दोनो ही बडे तृप्त हुए। अपने भाग्य की सराहना करने लगे। क्रमशः वह एक एक कर प्रतिदिन नये-नये घरो मे भोजन के लिए जाने लगे। किन्तु चक्रवर्ती जैसा स्वादिष्ट भोजन कहाँ मिलता? मन ही मन पश्चात्ताप करने लगा कि चक्रवर्ती के घर का ही भोजन माग लेते तो कितना सुन्दर होता? अब चक्रवर्ती के भोजन की बारी कब आये? चक्रवर्ती के राज्य मे तो हजारो बडे-बडे नगर व लाखो छोटे-बडे देहात हैं। ब्राह्मण के कई जन्म पूरे हो जायें तो भी पुन. अवसर मिलना कठिन है।

□

१२६. भूखा नाई (योग)

विना ज्ञान वैराग्य के, क्या होता है योग ?
भूखे नाई ने कहा, मोक्ष इष्ट सयोग ॥

देश मे अकाल होने के कारण-जीवन निर्वाह सबके लिए एक भयकर समस्या वन रही थी। एक भूखा नाई इधर-उधर भटकता हुआ किसी महात्मा के पास पहुंच गया। वहाँ का ठाट-वाट देखकर नाई ने कहा—महात्माजी ! मुझे आपका चेला वना लीजिए। महात्मा जी चेले की प्रतीक्षा मे ही थे। अच्छा मुहूर्त देखकर उसे मुड लिया। इतने मे भक्त आये और पूछा—महाराज ! यह कौन है ?

महात्मा—यह नया चेला है। इसकी आज ही दीक्षा हुई है।

भक्त—फरमाइये ! इसके लिए किसी चीज की आवश्यकता हो तो ?

महात्मा—भोजन के लिए घी, खीचडी और सोने के लिए खटिया और विछौना चाहिये।

भक्तो ने सव कुछ हाजिर कर दिये। नाई भूखा तो था ही सारा का सारा खीचडा सफाचट कर गया और वह वोला—महाराज ! नीद आ रही है।

गुरु ने कहा—चेला ! यह रजाई ओढकर सो जाओ।

सोते ही चेले को नीद आ गई। कई घण्टो बाद आँखे खुली तो सोया हुआ ही विचार करने लगा—अहा ! कैसी मोज वनी, चेला बनने मे वड़ा आनन्द है। मैंने सुना है जो वेष लेता है उसे मोक्ष मिलता है। मुझे तो आज ही मोक्ष मिल गई। उससे रहा नही गया तो खटिया पर लेटे ही गुरुजी से प्रश्न करता हुआ वोला—

खावण मिलग्यो खीचडो, औढन मिलगी सौड।
चेला पूछे गुरुजी ने, मोक्ष यही है, कि और ॥

गुरु ने कहा—"मूर्ख, ऐसे मत वोल। यहाँ कहाँ मोक्ष है ? मोक्ष वहुत दूर है। वहाँ तो अनन्त सुख है। उन सुखो के सामने ये भौतिक सुख तो कुछ भी नही।"

चेले ने कहा—"गुरुजी ! उस मोक्ष को आप अपने ही पास रखे। मुझे तो यही मोक्ष चाहिए।" यो कहते हुए उसने अपने घर का रास्ता पकडा।

□

१२७. प्रसन्नचन्द्र राजर्षि (मन)

क्षण मे मन आकाश मे, क्षण मे फिर पाताल।
है प्रसन्नऋषिराज की, घटना का यह हाल।

पोतनपुर नगर मे प्रसन्नचन्द्र राजा राज्य करता था। उसके हृदय में वैराग्य भावना जागृत हुई। अपने नाबालिग पुत्र राजकुमार को राज्य-भार देकर भगवान महावीर के चरणों मे साधु बन गया। एकदा भगवान महावीर राजगृह पधारे। हजारो व्यक्ति भगवान की देशना सुनने पहुँचे। सम्राट श्रेणिक भी अन्त पुर व सेना के साथ आया। समवसरण के बाहर प्रसन्नचन्द्र राजर्षि ऊर्ध्व बाहु होकर एक पांव से ध्यानस्थ खडे थे। हजारो व्यक्तियो ने राजर्षि के दर्शन किए। सम्राट श्रेणिक भी उनकी साधना से बडा प्रभावित हुआ।

श्रेणिक के सेनापति ने राजर्षि पर कटाक्ष करते हुए कहा—यह मुनि यहाँ आंखे मूंदकर खडा है। छोटे बच्चे पर राज्य का भार डाल दिया। उस पर शत्रुओं ने आक्रमण कर दिया है। वह छोटा बच्चा सुरक्षा नही कर सकता। पहले राज्य की सुरक्षा करो और फिर आँखें मूंदकर साधना करो। इस कथन से राजर्षि का मन उचट गया। अपनी कल्पनाओ से वही खडे-खडे युद्ध करने लगे। शत्रुओं की सेना को परास्त करने लगे। उसी समय श्रेणिक ने महावीर से पूछा—प्रभो! प्रसन्नचन्द्र राजर्षि बडी भयकर साधना कर रहे हैं इस समय वे मुनि कालधर्म को प्राप्त हो तो किस योनि मे उत्पन्न हो?

भगवान महावीर ने कहा—राजन्! पहली नरक मे! क्रमश दूसरी, तीसरी यावत् सातवी नरक का उल्लेख कर दिया। राजा साश्चर्य बोला—भगवन्! इतने बडे तपस्वी सातवी नरक मे कैसे जा सकते हैं? कुछ ही समय के बाद मुनि का चिन्तन बदला, भावना ने मोड लिया। साधना मे स्थिर हो गए। विशुद्धि मे चढते हुए केवलज्ञानी बन गये।

राजा श्रेणिक की जिज्ञासा बढ ही रही थी। भगवान ने कहा—अब उल्टे चलो। छठी, सातवी यावत् पहली नरक मे पहुँच गये, फिर ऊपर को बढने लगे। क्रमश पहला, दूसरा यावत् बारहवां देवलोक और ग्रैवेयक अनुत्तर विमान तक पहुँच गए। अब उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त कर लिया है। भगवन्! यह सब ऐसे क्यो हुआ? भगवान महावीर ने मानसिक आरोह व अवरोह की समग्र घटना सुनाकर श्रेणिक की जिज्ञासा शांत की।



१२८. धन्ना (वचन)

निज मुख से नि सृत वचन, पालन करता वीर।
शीघ्र स्नेह को तोडकर, धन्ना निकला धीर ।।

सेठ धन्ना राजगृह का निवासी था। उनकी शादी शालिभद्र की बहिन सुभद्रा के साथ हुई थी। एक दिन सुभद्रा धन्ना को स्नान करा रही थी। अचानक भाई की स्मृति होते ही उसकी आंखो से आंसू लुढक पडे। धन्ना ने रोने का कारण पूछा। सुभद्रा ने कहा—मेरा भाई शालिभद्र दीक्षित होने जा रहा है। वह प्रति-दिन अपनी एक-एक पत्नी का त्याग करता है। धन्ना ने स्मित हास्य से कहा—तेरा भाई तो कायर है। यदि ससार से विरक्त होना ही है तो प्रतिदिन एक-एक छोडने का क्या तात्पर्य ?

सुभद्रा बोली—पतिदेव ! कहना सरल है किंतु करना बहुत कठिन है। खैर, वह तो कायर है, किंतु आप तो वीर है ? दिखलाइये कुछ वीरता। धन्ना बोला—लो, अब जाता हूँ सयम लेने के लिए। आज से मैं तुझे भगिनी के रूप मे देखूंगा। सुभद्रा अवाक् रह गई। पाव पकडकर बैठ गई। अपनी धृष्टता के लिए बार-बार क्षमा मागने लगी। धन्ना बोला—बढे हुए कदम पुन नही लौटते। सुभद्रा आदि सभी पत्निया बिलखती ही रही। सब कुछ त्याग कर वह घर से निकल पडा। शालिभद्र के घर आया और उसे ललकारा। अरे सियाल ! इतनी देरी क्यो करता है। सयम लेना है तो महलो से जल्दी नीचे उतरकर आओ।" वचन तीर की तरह शालिभद्र के हृदय मे चुभ गया। वह दौडा दौडा आया और बहनोई से मिला। आखिर दोनो ही एक साथ भगवान महावीर के चरणो मे दीक्षित हो गए। घोर तपस्या के द्वारा कर्मो को काट कर धन्ना मुक्त हो गया। शालिभद्र मुनि ने भी अपनी आत्मा का कल्याण कर लिया।

□

१२९ चक्री सनत्कुमार (शरीर)

गर्व न करना रूप का, देह अशुचि भडार।
चक्री सनत्कुमार ने, देखा रूप-विकार ।।

सनत्कुमार चक्रवर्ती चौथे चक्रवर्ती थे। उनकी रूप सपदा अद्वितीय थी। एकदिन देव सभा मे इन्द्र ने उनके रूप की प्रशसा की। उन्हे देखने के लिए दो देवता ब्राह्मण का रूप बनाकर सनत्कुमार चक्री के पास पहुँचे। दोनो ने कहा—हे चक्रवर्ती ! हमने आपके रूप की बहुत प्रशसा सुनी, अत दर्शन के लिए आये हैं। वास्तव मे आपका रूप अनुपम है।

सनत्कुमार ने अहकार की भाषा मे कहा—अभी क्या देखना है ? वस्त्र आभूषण धारण कर सिंहासन पर आरूढ होऊँ उस समय मेरे रूप को देखना।

दोनो ने कहा—हम राज्य सभा मे जरूर पहुँचेंगे।

चक्रवर्ती अपनी रूप-सपदा पर फूले नही समा रहे थे। वे शीघ्र ही तैयार होकर राज्य सभा मे पहुँचे। साभिमान वे बोले—ब्राह्मणो ! अब देखो मेरा सौन्दर्य ! पहले और अब मे कितना अन्तर है ?

दोनो ही सिर धुनते हुए बोले—सम्राट ! वह सौन्दर्य अब नहीं रहा। उस समय आप पूर्ण स्वस्थ थे, अब आपके शरीर मे सोलह प्रकार के रोग उत्पन्न हो गये हैं। सदेह हो तो पीकदानी मे थूककर देख लीजिए, उसमे कितने ही कीटाणु कुलबुलाते दिखाई देंगे। चक्रवर्ती ने वैसा ही किया। राज्य सभा मे दुर्गन्ध फैल गई। सभासद् विसर्जित हो गये। स्वय चक्री भी उस तीव्र दुर्गन्ध से अवाक् रह गया। देखा हजारो की सख्या मे कीडे कुलबुला रहे थे। सभी ने देखा। आँखें फटी की फटी रह गई। सभी मौन और आश्चर्यचकित थे। सारी स्थिति सामने आ गई। सम्राट का दिल बदल गया। शरीर और ससार से उन्हे अरुचि उत्पन्न हो गई। पुत्र को सिंहासन पर बिठाया और उद्यान मे जाकर विजयधर्मसूरि के पास सयम धारण कर लिया।



१३०. तुम्बी और स्नान (शौच)

शुद्ध न कर सकता कभी, आतमा को जल स्नान।
कहा कृष्ण ने पाण्डवो !, अन्तर स्नान महान् ॥

पाडवो ने श्रीकृष्ण जी से कहा—हमने युद्ध मे बडे भयकर पाप किये हैं उनसे निवृत्त होने के लिए हम तीर्थ यात्रा पर जा रहे हैं, आपकी अनुमति चाहिए। श्रीकृष्ण ने उन्हे आज्ञा-प्रदान करते हुए कहा—मेरी तुम्बी साथ ले जाना, इसे भी तीर्थ स्नान करा देना। पाडव वहा से चले। एक के बाद एक उन्होने सारे तीर्थों पर स्नान किया। तुम्बी को प्रत्येक तीर्थ मे तीन-तीन बार स्नान करवाया।

आखिर श्रीकृष्ण के दरबार मे पहुँचे। कुशल सवाद के पश्चात् उन्होने श्री कृष्ण को तुम्बी भेंट की। श्री कृष्ण जी बोले—तुम्बी को स्नान कराना कही भूल तो नही गए। पाँचो पाडवो ने उत्तर देते हुए कहा—महाराज ! हम एक बार स्नान करते, इसे तीन बार नहलाते।

श्री कृष्ण ने तुम्बी के पाँच छोटे-छोटे टुकडे किये और पाडवो को देते हुए कहा—इस प्रसाद को जरा चखो तो।

पाँडवो ने मुँह मे डाला तो मुँह खारा हो गया।

श्री कृष्ण ने पूछा—क्यो स्वाद कैसा रहा ?

पाँचो पाडवो ने कहा—विलकुल खारा।

तव श्री कृष्ण ने कहा—तुम्बी को तीन-तीन बार तीर्थ स्नान करवाया फिर भी उसका कडुवापन नही गया तो फिर आत्मा का कल्मप इस वाह्य स्नान से कैसे दूर हो सकता है।

पांडवो ने कहा—प्रभो ! पहले आप हमे मना कर देते तो हम जाते ही नही। अव हमे क्या करना चाहिये।

श्री कृष्ण— आत्मा नदी सयमतोयपूर्णा सत्यावहा शीलतटा दयोर्मी।
तत्राभिषेक कुरु पांडु-पुत्र !, न वारिणा शुद्ध्यति चान्तरात्मा ॥१॥

—आत्मा नदी सयम जल से पूर्ण हो, सत्य का उसमे प्रवाह हो, शील तट ही दया उर्मी हो। ऐसी नदी मे हे पाडु पुत्रो ! तुम स्नान करो। तुम्हारी आत्मा पवित्र होगी। इन वाह्य (तीर्थों के) पानी मे अन्तरात्मा की शुद्धि नही होती।

□

१३१ विजय-विजया (वैचित्र्य)

ब्रह्मचर्य की साधना, है खाडे की धार।
अचरजकारी है कथा, विजया-विजयकुमार॥

एक विजय नाम का युवक था। उसने गुरुदेव से आजीवन व्रत ग्रहण किया कि मैं कृष्ण-पक्ष मे ब्रह्मचारी रहूँगा। विजया नाम की नवयुवती ने आजीवन शुक्ल पक्ष मे ब्रह्मचर्य व्रत को ग्रहण करने की प्रतिज्ञा की। विजय और विजया जव वडे हुए तो सयोगवश उन दोनो का विवाह हो गया। दाम्पत्य-जीवन मे द्वंद्व खडा न हो जाए, यह सोचकर विजया ने मिलन के प्रथम अवसर मे ही विजय को अपने व्रत से अवगत करा दिया। विजय बोला—तुम्हारी तरह मैं भी कृष्ण-पक्ष के लिए आवद्ध हूँ। हम दोनो इस जीवन मे गृहस्थी नही वसा सकेंगे।

विजया वोली—पतिदेव ! आप चिंता न करें। आप दूसरी शादी कर लीजिए। अपनी गृहस्थी वना लीजिए। मुझे उसमे अपार प्रसन्नता होगी। मैं आपके चरणो मे रहती हुई ब्रह्मचर्य का पालन करूंगी।

विजया की वाणी का विजय पर वहुत अच्छा प्रभाव पडा। वह वोला—देवी ! तू ब्रह्मचारिणी रहेगी तो मैं भी ब्रह्मचारी रहूँगा। मैं किसी भी स्थिति मे दूसरी शादी नहीं करूंगा। जव तक हमारे ब्रह्मचर्य पालन की वात प्रसिद्ध नही होगी तक तक हम गृहस्थ-आश्रम मे हैं। प्रसिद्ध होते ही दीक्षा ग्रहण कर लेंगे। वे दोनो अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार एक शय्या मे रहते हुए घोर ब्रह्मचर्य का पालन कर रहे हैं।

एक वार एक केवल ज्ञानी आचार्य वहाँ पधारे और भरी परिषद् मे उन्होने

विजय और विजया की प्रशंसा करते हुए कहा—इन्होंने विवाह से पूर्व ही एक ने कृष्ण पक्ष व एक ने शुक्ल पक्ष मे ब्रह्मचर्य पालन की प्रतिज्ञा की थी। विवाह के बाद भी इन्होंने इसका कभी उल्लघन नहीं किया है।

विजय और विजया को जब यह ज्ञात हुआ कि घटना प्रसिद्ध हो गई है। वे केवल ज्ञानी के चरणो मे आये और उन्होने दीक्षा ग्रहण कर ली।

□

१३२. मर्म-प्रकाश से परिवार-नाश (विविध)

कभी किसी के मर्म की, मत करना अभिव्यक्ति।
फासी खाकर मर गए, घर के चारो व्यक्ति॥

एक सेठ था। उसके घर मे गरीबी आ गई। सेठानी ने आग्रह किया कि आप मेरे पीहर चलिए, वहा भरण-पोषण सुचारु रूप से होगा। दोनों ही चल पड़े। सेठानी को प्यास लग गई। पानी मागा। कुछ ही दूर पर कुँआ आ गया। सेठ पानी निकालने के लिए कुए मे झुका। सेठानी ने धक्का दे दिया और पीहर मे आकर बोली कि सेठजी को चक्कर आ गया कुए मे गिर गये। घर में सन्नाटा छा गया और वह वहा अपने वैधव्य के साथ रहने लगी। इधर सेठ ज्यो ही कुए मे गिरा, सम्भल गया, बीच मे ही छज्जे को पकड़कर बैठ गया। इतने मे एक सौदागर आया। उसने सेठ को बाहर निकाल लिया। सेठ सौदागर के साथ व्यापार करने लगा। लाखो रुपये हो गये। वह अपने ससुराल पहुँचा। पत्नी ने अपने पतिदेव को देखा तो हक्की-बक्की हो गई। सेठ ने सारी घटना को समेट लिया। सेठ पत्नी को लेकर घर आ गया। एक लडका हुआ। लडका शादी योग्य होने पर उसकी शादी कर दी गई। सास-बहू मे प्रतिदिन झगडा होने लगा। बहू की प्रकृति खराब थी।

सेठ एक दिन भोजन कर रहा था। सूर्य का प्रकाश सेठ के मुँह पर पडने लगा, सेठानी ने साड़ी का पल्ला थोड़ा ऊचा किया तो सेठ को कुछ हँसी आ गई। बहू ने यह सारी घटना देखी तो उसे लगा कि इसके पीछे कोई रहस्य है। शाम को सेठ का लडका घर आया। उसकी पत्नी ने उसे सारी बात कही। जब तक पिताजी को पूछकर हसी का रहस्य नही बतायेंगे तब तक रोटी नही खाऊँगी। पुत्र की पिता को पूछने की इच्छा न होते हुए भी आखिर पूछना पडा। पिता ने सारी घटना सुना दी और कहा—यह बात दूसरो के पास मत करना। पुत्र ने अपनी श्रीमती को सारी बात कह दी। एक दिन सास-बहू मे परस्पर जोरदार झगडा हो गया। बहू ने मर्म भरे शब्दो मे कहा—"तू आज किस मुह से बोल रही है? कुछ दिनो पहले पति को कुएँ मे धकेला था।" ये तीर उसके वक्षस्थल मे चुभ गये, ऊपर

कमरे मे गई और फासी खाकर मर गई। अचानक सेठ ऊपर पहुँचा देखा और उसने सोचा—इस हत्या का निमित्त दूसरा कोई नही है मैं ही हूँ। यदि मैं वह घटना लडके को नही बताता तो यह अनर्थ नही होता। आखिर वह भी फासी खाकर मर गया।

शाम को दुकान से लडका घर आया। पिताजी को खोजते-खोजते ऊपर गया। उसने देखा और सोचा इस पाप का निमित्त तो मैं हूँ। यदि मैं मेरी श्रीमती मे उस घटना को नही बताता तो यह घटना नही घटती। हाय ! मैं जीवित रहकर क्या करूँगा। वह भी फासी खाकर मर गया। उसकी श्रीमती धीरे-धीरे ऊपर पहुँची। सास, श्वसुर व पति की हत्या देखकर वह उद्वेलित हो गई। साथ ही साथ लोक-निन्दा का भी भय लगा। उसे भी कोई उपाय नही सूझा। आखिर वह भी फासी खाकर मर गई।



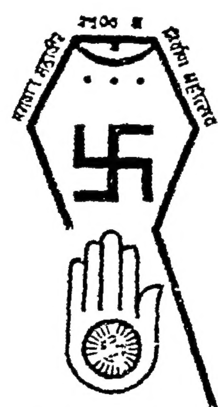
१३३ चार बहुएँ (जय)

होती जैसी योग्यता, वैसा मिलता काम।
चारो बहुओ का यहाँ, उदाहरण अभिराम॥

राजगृह नगर के अन्दर धन्ना नाम का एक सार्थवाह रहता था। उसके भद्रा नाम की भार्या थी। उनके धनपाल, धनदेव, धनगोप और धनरक्षित नाम के चार पुत्र थे। इनके भार्याओ के नाम क्रमश उज्झिका, भोगवती, रक्षिका और रोहिणी था। धन्ना साथवाह ने अपनी पुत्रवधुओ की बुद्धि की परीक्षा करने के लिये सब कुटुम्बी पुरुषो के सामने प्रत्येक को पाँच-पांच शालिकण (छिलके सहित चावल) दिये। उनको लेकर ज्येष्ठ पुत्र वधू ने तो फेंक दिया, दूसरी ने आदरपूर्वक खा लिया, तीसरी ने बडी हिफाजत के साथ अपने जेवरो की पेटी में रख दिया, चौथी ने उन शालिकणो को लेकर अपने बन्धु वर्ग को दे दिया। और कहा—कि वर्षा होते ही इन शालिकणो को साफ किये हुए खेत मे बो देना। और बडे होने पर फिर दूसरी जगह बोना। इस तरह फिर क्रमश बोते रहना। बन्धुवर्ग ने उसके कथनानुसार कार्य किया। इस प्रकार पाच वर्ष बीत गये।

एक समय श्वसुर ने पुत्रवधुओ से वे पाच शालिकण वापिस मांगे तब उन्होने अपना अपना वृत्तान्त कह सुनाया। छोटी पुत्रवधू ने उन शालिकणो से पैदा हुए शालिधन्य के कई गाड़े भरवाकर मंगवाये और श्वसुर के सामने सारी हकीकत कही। श्वसुर ने उन चारो का वृत्तान्त सुनकर उनकी बुद्धि के अनुसार काम सौंप दिया। अर्थात् बडी बहू को घर का कूडा-कचरा निकालने का, दूसरी को रसोई बनाने का, तीसरी को भडार की रक्षा करने का काम सौपा और चौथी बहू को अति बुद्धिमति समझ कर घर की मालकिन बनाया।





परस्परोपग्रहो जीवानाम

अन्तर् यात्रा